संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० २५

नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित

# कर्मप्रकृति

[हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना तथा परिशिष्ट सहित]

सम्पादन-अनुवाद

**पं० हीरालाल शास्त्री**



*

अभयचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित

# कर्मप्रकृति

सम्पादन-अनुवाद

**डॉ० गोकुलचन्द्र जैन**

प्रकाशक

**जैन विद्यापीठ**

सागर (म० प्र०)

# कर्मप्रकृति

कृतिकार : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती

संस्कृत टीका : भट्टा० ज्ञानभूषण एवं भट्टा० सुमतिकीर्ति

अनुवादक : पं० हीरालाल शास्त्री

# कर्मप्रकृति

कृतिकार : अभयचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती

अनुवादक : डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

**जैन विद्यापीठ**

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

**विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स**

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

## आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम

लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

सिद्धान्त परम्परा के ग्रन्थों में सभी गृहस्थों एवं श्रमणों के लिए उपयोगी कर्मकाण्ड ग्रन्थ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा रचा गया। सभी सुधीजनों को मात्र कर्म की प्रकृतियाँ अर्थात् स्वभाव एवं उनके भेद आसानी से ज्ञान में आ सकें शायद इसलिए इस कर्मप्रकृति ग्रन्थ की रचना आचार्य नेमिचन्द्र ने की हो। इसके साथ अभयचन्द्र आचार्य कृत, अज्ञाताचार्य कृत एवं हेमचन्द्र विरचित हिन्दी टीका सहित ग्रन्थ प्रकाश में आये। इन चारों ही कर्मप्रकृतियों की समायोजना कर संयम स्वर्ण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित करने जा रहे हैं। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था, अनुवादक एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

**गुरुचरणचंचरीक**

# अनुक्रमणिका

## ग्रन्थमाला-सम्पादकीय

कर्म सिद्धान्त जैन धर्म का प्राण है। उसके अनुसार जीव जो कुछ अच्छा-बुरा करता है उसका तदनुरूप फल उसे भोगना पड़ता है। यह कार्य और कर्म-फल-संयोग स्वाभाविक गति से अपने आप चलता रहता है जब तक जीव कर्मबन्ध की परम्परा का निरोध कर उससे सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त नहीं हो जाता। यही मुक्ति-साधना जीवन का और धर्म का चरम ध्येय है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला साहित्य भी बहुत विशाल है। षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में इसका सुव्यवस्थित, सविस्तार और सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड में इस विषय के समस्त शास्त्रों का सार खींचकर भर दिया गया है, जिससे इसी ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन में प्रचार बहुत बढ़ गया है एवं उससे पूर्व की रचनाएँ अन्धकार में पड़ गयीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सर्वप्रथम परिचय हमें पं० परमानन्द शास्त्री के ''गोम्मटसार कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति'' शीर्षक लेख (अनेकान्त, वर्ष ३, किरण ८-९, पृ० ५३७, सन् १९४०) से हुआ। इसमें लेखक ने यह प्रतिपादित किया कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड का प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार त्रुटिपूर्ण है, किन्तु उसमें यदि कर्मप्रकृति की ७५ गाथाएँ यत्र-तत्र समाविष्ट कर दी जायें तो उन त्रुटियों की पूर्ति हो जाती है। लेखक का यह भी अनुमान था कि कर्मप्रकृति भी गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्य की ही कृति है जिसकी वे गाथाएँ सम्भवतः किसी समय कर्मकाण्ड से छूट गयीं अथवा जुदा पड़ गयीं, उन्हें फिर से कर्मकाण्ड में यथास्थान जोड़ देने से उसे पूर्ण, सुसंगत और सुसम्बद्ध बनाया जा सकता है। इस पर प्रस्तुत प्रधान सम्पादकों में से एक (प्रो० हीरालाल जैन) ने दो लेखों द्वारा ग्रन्थ के विषय, शैली आदि का पूर्ण विवेचन करके उक्त मत का निरसन किया (''गो० कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति पर विचार'' अनेकान्त, वर्ष ३, किरण ११, पृ० ६३५ तथा ''गो० कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति सम्बन्धी प्रकाश पर पुनः विचार'', जैनसन्देश, १२ दिसम्बर १९४० से १६ जनवरी १९४१ तक पाँच अंकों में)। इन लेखों में सप्रमाण विवेचनपूर्वक यह निर्णय निकाला गया कि ''कर्मप्रकृति एक पीछे का संग्रह है जिसमें बहुभाग गोम्मटसार से व कुछ गाथाएँ अन्य इधर-उधर से लेकर विषय का सरल विद्यार्थी-उपयोगी परिचय कराने का प्रयत्न किया गया है।'' यह गाथासंग्रह सावधानीपूर्वक नहीं किया गया इसके भी कुछ उदाहरण उक्त लेखों में दिये गये हैं। जैसे प्रस्तुत ग्रन्थ की ११७वीं गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ४७वीं गाथा है और उसमें 'देहादी फासंता पण्णासा' अर्थात् नामकर्म की देह या शरीर नामक प्रकृति से लेकर स्पर्श नामप्रकृति तक की पचास को पुद्गलविपाकी कर्मों में गिनाया गया है, किन्तु इसका प्रस्तुत ग्रन्थ की ६७ से ९३ तक की गाथाओं में परिगणित नाम प्रकृति से मेल नहीं खाता, क्योंकि यहाँ शरीर से लेकर

स्पर्श तक की प्रकृतियों में दो विहायोगति नामक प्रकृतियाँ भी हैं, जिनसे उक्त संख्या ५० नहीं ५२ हो जाती है। अतएव ये गाथाएँ गो० कर्मकाण्डकार द्वारा रचित हो ही नहीं सकतीं। उनके ग्रन्थ में ''देहादी फासंता'' प्रकृतियों का उल्लेख गा० ३४० में भी आया है तथा दो विहायोगतियाँ उनसे बाहर गिनायी गयी हैं। यह क्रम ठीक षट्खण्डागम के अनुसार है जहाँ जीवट्ठाणान्तर्गत चूलिका अधिकार में शरीर से लेकर स्पर्श तक वे ही ५० पुद्गलविपाकी की प्रकृतियाँ गिनायी गयी हैं जो उक्त दोनों गाथाओं में अपेक्षित हैं तथा प्रस्तुत कर्मप्रकृति की उक्त गाथा में मेल नहीं खातीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जो गाथाएँ गोम्मटसार की नहीं हैं, उनमें रचना-शैथिल्य का भी अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, प्रकृति आदि चार बन्धों के नाम-निर्देश मात्र के लिए एक पूरी गाथा नं० २६ खर्च की गयी है और उसमें चार भेदों का उल्लेख दो-दो बार तथा णायव्वा, होदि, णिद्दिट्ठो, कहिओ-जैसे चार पदों का प्रयोग करके गाथा के कलेवर को भरना पड़ा है। उतनी ही बात नेमिचन्द्राचार्य ने अपने द्रव्यसंग्रह की गाथा ३३ के एक अंश में अपनी सुगठित सूत्रशैली से भले प्रकार कह दी—''पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधो त्ति चदुविधो बंधो''। इन बातों के सद्भाव में प्रस्तुत समग्र रचना को गोम्मटसार के कर्ता-द्वारा निर्मित मानने को जी नहीं चाहता। इसीलिए पश्चात् पं० जुगलकिशोरजी ने इस पर अपना अभिमत निम्न प्रकार प्रकट किया—कर्मप्रकृति १६० गाथाओं का एक संग्रह ग्रन्थ है, जो प्रायः गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्य की कृति समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः उनके द्वारा संकलित मालूम नहीं होता-उन्हीं के नाम के अथवा उन्हीं के नाम से किसी दूसरे विद्वान् के द्वारा संकलित या संगृहीत जान पड़ता है। इस ग्रन्थ का अधिकांश शरीर आदि-अन्त भागों सहित गोम्मटसार की गाथाओं से निर्मित हुआ है-गोम्मटसार की १०२ गाथाएँ इसमें ज्यों की त्यों उद्धृत हैं और २८ गाथाएँ उसी के गद्य-सूत्रों पर से-निर्मित जान पड़ती हैं। शेष ३० गाथाओं में १६ गाथाएँ तो देवसेनादि के भावसंग्रहादि ग्रन्थों से ली गयी मालूम होती हैं और १४ ऐसी हैं जिनके ठीक स्थान का अभी पता नहीं चला-वे धवलादि ग्रन्थों के षट्संहननों के लक्षण-जैसे वाक्यों पर से संग्रहकार द्वारा खुद की निर्मित भी हो सकती हैं (पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रथम भाग, वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, १९५०)। यह इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अब तक का ज्ञात इतिहास है। हर्ष की बात है कि इसी बीच पं० हीरालाल शास्त्री ने इस ग्रन्थ की चार प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त की, जिनमें मूल के अतिरिक्त दो संस्कृत टीकाएँ, एक भाषा टीका और एक टिप्पणी भी प्रकाश में आये। पं० जी ने इस सब सामग्री का विधिवत् सम्पादन किया है और आवश्यक स्पष्टीकरण सहित हिन्दी अनुवाद भी। उन्होंने प्रस्तावना में तद्विषयक अपेक्षित जानकारी दे दी है और अपने विचार भी दिये हैं। उनके इस प्रयास के लिए हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं।

एक बात और उल्लेखनीय है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति रखा गया है तथापि मूल ग्रन्थ में कहीं भी यह नाम नहीं पाया जाता। आदि की गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की है और उसमें

प्रकृति–समुत्कीर्तन व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा की गयी है। टीकाकार सुमतिकीर्ति ने भी अपनी संवत् १६२० के लगभग रचित टीका में उसे कर्मप्रकृति नाम से उल्लिखित न कर कर्मकाण्ड कहा है, और हेमराज ने भी अपनी रचनाओं को कर्मकाण्ड की भाषा टीका कहा है। यह इस कारण ठीक है, क्योंकि ग्रन्थ का प्रायः दो–तिहाई भाग सीधा गोम्मटसार कर्मकाण्ड से लिया गया है। तीसरी अज्ञात लेखक की अनिश्चितकाल की जो टीका सुमतिकीर्ति कृत टीका पर से ही संकलित पायी जाती है, उसकी अन्तिम पुष्पिका में ही कहा गया है कि 'नेमिचन्द्रसिद्धान्ति–विरचित कर्मप्रकृति ग्रन्थः समाप्तः'। आश्चर्य नहीं जो इस ग्रन्थ का संकलन स्वयं सुमतिकीर्ति ने ही किया हो और अपने अभ्यासार्थ उस पर अपनी टीका लिखी हो। जो हो ग्रन्थ जिस रूप में है उसका अस्तित्व कम से कम गत तीन सौ वर्षों से तो पाया ही जाता है।

यह सब प्राचीन साहित्यिक निधि ज्ञानपीठ, काशी के संस्थापक श्री शान्तिप्रसादजी और उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमा रानीजी तथा संस्था के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन व अन्य अधिकारीगण बड़ी रुचि और उत्साह से प्रकाशित करा रहे हैं यह परम सौभाग्य की बात है।

**हीरालाल जैन, जबलपुर**
**आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, कोल्हापुर**
ग्रन्थमाला–सम्पादक

## सम्पादकीय

लगभग बीस वर्ष हुए जब मुझे कर्मप्रकृति की एक संस्कृत टीका युक्त तथा एक पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका युक्त ऐसी दो प्रतियाँ प्राप्त हुईं। उन दिनों मैं कसायपाहुडसुत्त के अनुवाद में व्यस्त था, अत: उसके पश्चात् ही इसे हाथ में लेना उचित समझा, परन्तु इस बीच कसायपाहुडसुत्त के सम्पादन के अतिरिक्त वसुनन्दिश्रावकाचार, जिनसहस्रनाम, पंचसंग्रह और जैनधर्मामृत के सम्पादन करने में व्यस्त रहने से इसे ई० सन् १९६० तक हाथ ही नहीं लगा सका। जब उक्त समस्त ग्रन्थों के सम्पादन से निवृत्त हुआ तब कर्मप्रकृति के कार्य को हाथ में लिया और मेरे पास जो प्रति थी, उसके आधार पर उसकी प्रेस कापी मूल और टीका दोनों की कर ली। पीछे जयपुर और ब्यावर के शास्त्रभण्डार से इसकी और भी प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुईं और उनमें श्री ज्ञानभूषण-सुमतिकीर्ति-रचित टीका भी उपलब्ध हुई। यह टीका पहले प्राप्त टीका से विस्तृत देखकर उसे भी प्रस्तुत संस्करण में देना उचित समझा और श्रीमान् डॉ० हीरालाल जी ने पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका के रूप को देखकर उसे भी प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण में तीन टीकाएँ सम्मिलित हैं–

१. मूलगाथाओं के साथ ज्ञानभूषण-सुमतिकीर्ति की संस्कृत टीका और उनका मेरे द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद। २. अज्ञात आचार्य द्वारा लिखित गयी संस्कृत टीका। ३. संस्कृत टीका गर्भित पं० हेमराजकृत भाषा टीका।

श्रीमान् डॉ० आ० ने० उपाध्याय का सुझाव था कि इसका मिलान दक्षिण भारत की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों से अवश्य करा लिया जाये। तदनुसार मैंने श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री से प्रार्थना की और उन्होंने मूडबिद्री के प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति से अपने सहयोगी श्री० पं० देवकुमारजी के साथ मिलान कर पाठ-भेद भेजने की कृपा की। पाठ-भेदों को यथास्थान दे दिया गया और जो उनके सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य था, वह प्रस्तावना में दे दिया है।

अनुवाद या विशेषार्थ में अनावश्यक विस्तार न हो, इस बात का भरपूर ध्यान रखा गया है। साथ में पं० हेमराजकृत भाषा टीका दी ही जा रही है, जिसमें यथास्थान सभी ज्ञातव्य बातों का स्पष्टीकरण किया ही गया है।

मूल गाथाओं के पाठ-भेदों आदि को पादटिप्पण में तथा टीकागत पाठ-भेदों को हिन्दी अंकों के साथ दिया गया है।

मूलग्रन्थ कर्मप्रकृति के रचयिता के बारे में कुछ विवाद है। कुछ विद्वान् उसे नेमिचन्द्राचार्य की कृति मानने को तैयार नहीं है, परन्तु जब तक सबल प्रमाणों से यह अन्य-रचित सिद्ध नहीं हो जाती

तब तक उसे प्रसिद्ध आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती-रचित मानने में कोई आपत्ति भी दृष्टिगोचर नहीं होती। टीकाकारों और प्रतिलिपिकारों के द्वारा उसे नेमिचन्द्र सिद्धान्ति, नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक और सिद्धान्तपरिज्ञानचक्रवर्ती विरचित लिखा हुआ मिलता ही है। इसके पश्चात् भी यदि किन्हीं प्रबल प्रमाणों से यह किन्हीं दूसरे ही नेमिचन्द्र द्वारा रचित सिद्ध हो जायेगी तो मुझे उसे स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी।

श्री ऐलक पन्नालाल दिग० जैन सरस्वती भवन ब्यावर की प्रति उसके व्यवस्थापक श्रीमान् पं० पन्नालालजी सोनी से तथा जयपुर भण्डार की प्रति उसके मन्त्री श्रीमान् केशरलालजी तथा श्रीमान् डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल एम० ए० की कृपा से प्राप्त हुई तथा ताड़पत्रीय प्रतियों का मिलान श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री और श्री पं० देवकुमारजी की कृपा से हुआ इसके लिए मैं उक्त सभी महानुभावों का आभारी हूँ।

ग्रन्थ को भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला से प्रकाशन की स्वीकृति उसके प्रधान सम्पादक श्रीमान् डॉ० हीरालालजी जैन एम० ए०, डी० लिट् जबलपुर और श्रीमान् डॉ० आ० ने० उपाध्याय एम० ए०, डी० लिट् कोल्हापुर से प्राप्त हुई। समय-समय पर पत्रों के द्वारा एवं प्रत्यक्ष भेंट में मौखिक रूप से आपने जो सुझाव और प्रोत्साहन ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए दिये उसके लिए मैं दोनों महानुभावों का बहुत आभारी हूँ। भारतीय ज्ञानपीठ के सुयोग्य मन्त्री श्रीमान् बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम०ए० का मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि दिये जाने के पश्चात् स्वल्प समय में ही इसे प्रकाशित करके ग्रन्थ को सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया है।

सर्वप्रथम धन्यवाद के अधिकारी दानवीर, श्रावक-शिरोमणि श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी और सौ० रमारानी जैन का आभार प्रकट करने के लिए मेरे पास समुचित शब्द नहीं हैं। सारा ही जैन समाज आपके इस ज्ञानपीठ का चिरकृतज्ञ रहेगा। आप लोगों के द्वारा संस्थापित और संचालित यह भारतीय ज्ञानपीठ अपने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति में उत्तरोत्तर अग्रेसर रहे यही अन्तिम मंगलकामना है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १६-०४-१९६३ **—हीरालाल शास्त्री**

# प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में जिन-जिन प्रतियों का उपयोग हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है-

**अ प्रति**-इसकी प्राप्ति मुझे श्री त्यागी मुन्नालाल जी चन्देरी के संग्रह से हुई। इसका आकार ९॥ × ४॥ इंच है। पत्र-संख्या २३ है। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या ६ और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या २८-३० है। मुख्य रूप से इसमें मूल गाथाएँ ही लिखी गयी हैं। गाथाओं के ऊपर और हासिये में टिप्पण के रूप में एक लघुटीका लिखी हुई है, जो अनेक स्थलों पर दूसरी टीकाओं से कुछ विशेषता रखती है और इसी कारण उसे मूल वा अनुवाद के अनन्तर प्रकाशित किया गया है। प्रति के अन्त में जो प्रशस्ति दी हुई है उससे स्पष्ट है कि यह वि० सं० १८१९ के भाद्रपद कृष्णा १० को लिखी गयी है। इसे पं० सिंभूरामने वेघूं नामक नगर के श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय में बैठकर अपने अध्ययन के लिए लिखा है। लेखक ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए तात्कालिक राजा रावजी श्रीमेघसिंहजी के प्रवर्तमान राज्य का भी निर्देश किया है। मूल पाठ का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रति शुद्ध है। किन्तु पंक्तियों के ऊपर और हासिये में जो टीका दी गयी है वह अनेक स्थलों पर अशुद्ध है और अनेक स्थलों पर पत्रों के चिपक जाने से स्पष्ट पढ़ने में नहीं आ सकी है। इस टीका वाली अन्य प्रति की अन्यत्र कहीं से प्राप्ति न हो सकने के कारण जैसा चाहिए संशोधन नहीं हो सकता है। फिर भी अन्य टीकाओं के आधार से उसे शोधने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ कोई पाठ ठीक संशोधित नहीं किया जा सका, वहाँ (?) प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है।

प्रति के अन्त में प्रशस्ति दी गयी है, वह इस प्रकार है-

"संवत्सरे रन्ध्रेन्दुवसुकेवलयुते १८१९ भाद्रपदमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शनिवासरे वेघूंनाम नगरे श्रीपार्श्वनाथचैत्यालये रावजीश्रीमेघसिंहजीराज्यप्रवर्तमाने भट्टारकेन्द्र-भट्टारकजीश्रीक्षेमेन्द्रकीर्त्तिजी आचार्यवर्य श्रीधर्मकीर्त्तिजी तच्छिष्य आचार्यवर्यजी श्रीमेरुकीर्त्तिजी पण्डितमनराम चैनराम लालचन्द रतनचन्द गुमानी सिंभ सेवाराउ एतेषां मध्ये पं० मनराम तच्छिष्य सिंभूरामेण इदं ग्रन्थं स्वपठनार्थं लिपिकृतं॥"

प्रति के हासिये पर ग्रन्थ का नाम यद्यपि कर्मकाण्ड लिखा है, तथापि ग्रन्थ की अन्तिम गाथा के अन्त में "इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्ति-विरचित कर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः" लिखा है, जिससे मूलग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति सिद्ध है।

सबसे ऊपर के पत्रपर 'कर्मकाण्ड पुस्तक भट्टारकजी की' लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि लेखक के पश्चात् यह प्रति किसी भट्टारक के स्वामित्व में रही है।

**ज प्रति—**यह प्रति आमेर-भण्डार जयपुर की है, जिसका नं॰ १६४ है। इसका आकार ११×५ इंच है। पत्र-संख्या ५४ लिखी है, पर वस्तुतः ५५ है; क्योंकि दो पत्रों पर ४२-४२ अंक लिपिकार की भूल से लिखे गये हैं। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या ९ और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या ३६-३७ है। प्रति के अन्त में लेखक ने प्रति-लेखन-काल नहीं दिया है, किन्तु कागज, स्याही और अक्षर-बनावट आदि को देखते हुए कम से कम इसे दो-सौ वर्ष प्राचीन अवश्य होना चाहिए। कागज देशी, मोटा और पुष्ट है, तथा प्रति अच्छी दशा में है। केवल एक पत्र किनारे पर कुछ जला-सा है। प्रति में एकार की मात्रा अधिकतर पडिमात्रा में है। यथा दोषादोष, शिलाभेद-शिलाभेद आदि।

प्रति के अक्षर सुन्दर एवं सुवाच्य हैं, तथापि वह अशुद्ध है। लेखक ने 'श' के स्थान पर 'स' और कहीं-कहीं 'स' के स्थान पर 'श' लिखा है। कई स्थलों पर पाठ छूटे हुए हैं और कई स्थलों पर दोबारा भी लिखे गये हैं। यथा—

पाठ छूठे स्थल—पत्र संख्या ३०, ४४, ४५/B, ४७, ४९, ५१ इत्यादि।

गाथाङ्क १४४-१४५ की पूरी टीका और गा॰ १४६ की अधिकांश टीका बिलकुल ही छूट गयी है।

दोबारा लिखे स्थल—पत्र संख्या १५, २४, ४५/A इत्यादि।

पत्र ४९वें पर तो लेखक से बहुत गड़बड़ी हुई है। छूटे पाठ का कोई भी संकेत न होकर इस ढंग से लिखा गया है मानो वहाँ पर कोई गड़बडी ही नहीं है। पर वास्तव में इस स्थल पर बहुत आगे का पाठ लिखा गया और यहाँ का पाठ छूट गया है। इसी पत्र पर जो संदृष्टियाँ दी हैं, वे भी अशुद्ध हैं और सम्भवतः उन्हें ठीक रूप से न समझ सकने के कारण ही उक्त गड़बड़ी हुई है। पत्र ५० पर दी गयी संदृष्टि भी अशुद्ध है।

यह प्रति मूल गाथाओं के अतिरिक्त भट्टा॰ मल्लिभूषण-सुमतिकीर्ति-विरचित टीका से समन्वित है। इस टीका की जो अन्य प्रति ऐलक सरस्वती भवन ब्यावर से प्राप्त हुई है, उसके साथ मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि अनेक गाथाओं की संस्कृत टीका भी संक्षिप्त एवं संदृष्टिविहीन है, जो कि ब्यावर प्रति में पायी जाती है।

प्रति के अन्त में भिन्न कलम के द्वारा यह वाक्य लिखा हुआ है—

"भट्टा॰ श्रीवादिभूषणस्तत् शिष्य ब्रह्म श्रीनेमिदासस्येदं पुस्तकं ॥श्री॥"

इस पंक्ति के आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसके लिखने का काल ब्रह्म श्रीनेमिदास से पूर्व का है। ये कब हुए, यह अन्वेषणीय है।

**ब प्रति—**यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल दिग॰ जैन सरस्वती भवन ब्यावर की है। इसका र॰ ज॰ नं॰ ९ है और पत्र संख्या ४८ है। आकार १२×५॥ इंच है। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या ११ और प्रतिपंक्ति अक्षर-संख्या ३७-३८ है। प्रति के अन्त में उसी स्याही किन्तु पतली कलम से जो प्रशस्ति दी गयी है

उससे स्पष्ट है कि यह प्रति वि० सं० १६२७ के कार्तिक कृष्णा ५ के दिन श्रीमधुकपुर के श्रीचन्द्रनाथ चैत्यालय में लिखकर समाप्त हुई है। इसे बलसाढनगर के रहने वाले सिंहपुराजातीयश्रेष्ठी हांसा और उनकी पत्नी मटकू से उत्पन्न पुत्री पूतलीबाई ने टीकाकार के सहाध्यायी श्री भट्टा० प्रभाचन्द्र के उपदेश से लिखाकर उन्हीं को समर्पित की है। इस व्रत-शील-सम्पन्ना एवं यति-जन-भक्ता बाई ने अपने रहने का मकान भी सम्भवतः उक्त चन्द्रप्रभजिनालय को दे दिया था।

यह प्रति बहुत शुद्ध है। अक्षर सुवाच्य और पडिमात्रा में लिखे हुए हैं। कागज अति जीर्ण-शीर्ण एवं पतला पीले से रंग को लिये हुए श्वेत है। प्रति में यथास्थान जो संदृष्टियाँ दी हुई हैं, वे भी शुद्ध एवं स्पष्ट हैं।

प्रति के अन्त में जो लेखक-प्रशस्ति दी गयी है, वह इस प्रकार है-

''स्वस्ति श्री संवत् १६२७ वर्षे कार्तिकमासे कृष्णपक्षे पञ्चम्यां तिथौ अद्येह श्रीमधूकपुरे श्रीचन्द्रनाथचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये भ० श्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टा० श्रीदेवेन्द्रकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टा० श्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टा० श्री [म-] ल्लिभूषणास्तत्पट्टे भट्टा० श्री लक्ष्मीचन्द्रास्तत्पट्टे भट्टा० श्रीवीरचन्द्रास्तत्पट्टे भट्टा० श्रीज्ञानभूषणास्तत्पट्टे भ० श्रीप्रभाचन्द्रोपदेशात् बलसाढ़नगरवास्तव्यः सिंहपुराज्ञातीयः धर्मकार्यतत्परः श्रे० हांसा भार्या मटकू तयोः पुत्री यतिजनभक्ता अने [क] व्रतकरणतत्परा जिनालयार्थ दत्तनिजगृहा बाई पूतली तयेमां श्रीकर्मकाण्डटीकां लिखाप्य भ० श्रीप्रभाचन्द्रेभ्यो दत्ता। चिरं नन्दतु॥ (पृ० ८४)

उक्त प्रशस्ति से सिद्ध है कि यह प्रति कर्मप्रकृति के टीकाकार भट्टा० श्रीज्ञानभूषण के शिष्य श्रीप्रभाचन्द्र के लिए लिखाकर समर्पित की गयी है, अतएव यह प्राप्त समस्त प्रतियों में प्राचीन होने के साथ-साथ प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि टीकाकार ने पंचसंग्रह की संस्कृत टीका वि० सं० १६२० में पूर्ण की है और यह प्रति १६२७ की लिखी हुई है।

प्रति के अन्तिम पत्र की पीठ पर भिन्न कलम और भिन्न स्याही से लिखा हुआ है-

**''गा० २ पो ६ प्र ५ भट्टा० श्रीजिनचन्द्राणां शिष्य भट्टा० श्रीविद्यानन्दिकस्येदं पुस्तकम्।''**

इससे ज्ञात होता है कि पीछे यह प्रति भ० श्रीविद्यानन्दि के अधिकार में रही है।

**स प्रति**—यह प्रति मेरे साढूमल भण्डार की है। इसका आकार १०×४॥ इंच है। पत्र-संख्या ७६ है। प्रतिपत्र पंक्ति-संख्या १० और प्रतिपंक्ति अक्षर संख्या ३५-३६ है। कागज देशी पृष्ठ, अक्षर सुन्दर सुवाच्य एवं स्याही गहरी काली तथा लाल है। सारी प्रति में उत्थानिका वाक्य लाल स्याही से ही लिखे हुए हैं। इस प्रति में श्री पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका दी हुई है। प्रति वि० सं० १७५३ के वैशाख सुदि ५ को चन्द्रापुरी के आदिनाथ चैत्यालय में लिखकर समाप्त हुई है। इससे ज्ञात होता है कि भाषा टीकाकार के द्वारा टीका रचे जाने के तत्काल पश्चात् ही यह प्रति लिखी गयी है।

प्रति के अन्त में जो प्रशस्ति दी गयी है, वह इस प्रकार है–

''संवत् १७५३ वर्षे वैशाखसुदि ५ रवौ चन्द्रापुरीमध्ये श्रीआदिनाथचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे नंद्याम्नाये कुन्दकुन्दाचार्यान्वये तदनुक्रमेण भट्टारक श्रीधर्मकीर्त्ति तत्पट्टे भट्टारक श्रीपद्मकीर्त्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री ५ सकलकीर्तिजू देव तत्पट्टे धरणधीरगच्छपति नायकभट्टारक श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री सुरेन्द्रकीर्तिजू देव आचार्यश्री ५ कनककीर्तिजू देव तच्छिष्याचार्य श्रीभूषण ब्रह्म सुमतिसागर पण्डित चिंतामणि पं॰ मनिराम पं॰ घनस्याम पं॰ मानसाहि इदं पुस्तकं लिखितं पंडित चिन्तामणि स्वपठनार्थं ज्ञानावरणीयकर्मक्षयार्थं। श्रीरस्तु।

उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि इसे पं॰ चिन्तामणि ने अपने पढ़ने और ज्ञानावरणीयकर्म के क्षय करने के लिए लिखा है।

## ग्रन्थ–नाम–निर्णय

प्रस्तुत ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार श्रीज्ञानभूषण वा सुमतिकीर्ति ने आदि के मंगल–श्लोकों में तथा अन्तिम प्रशस्ति के पद्यों में स्पष्ट शब्दों के द्वारा ग्रन्थ का नामकर्मकाण्ड घोषित किया है, परन्तु वह यथार्थता इसके विपरीत है।

इसी संस्करण में मुद्रित संस्कृत टीका युक्त पं॰ हेमराजकृत भाषाटीका के अन्त में 'कर्मप्रकृतिविधान' नाम पाया जाता है, पर यह भी ठीक नहीं है। हाँ, दूसरी संस्कृत टीका वाली प्रति के अन्त में इसका नाम स्पष्ट शब्दों में 'कर्मप्रकृति' ही दिया गया है। यह पुष्पिका इस प्रकार है–

**इति श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिविरचित कर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।**

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ की जितनी भी मूल प्रतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, उनमें तथा मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति में ग्रन्थ का नाम 'कर्मप्रकृति' ही मिलता है। इसलिए मैंने इसका नाम 'कर्मप्रकृति' ही रखा है।

## कर्मप्रकृति–परिचय

कर्मों के मूल और उत्तर भेदों के स्वरूप का सांगोपांग वर्णन करने वाला यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। गाथाओं की समता आदि को देखकर कुछ वर्ष पूर्व पं॰ परमानन्दजी शास्त्री ने इसे गो॰ कर्मकाण्ड के प्रथम अधिकार के रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न 'अनेकान्त' में प्रकाशित अपने लेखों द्वारा किया था, किन्तु तभी श्री डॉ॰ हीरालालजी जैन और श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपने लेखों के द्वारा उनके भ्रम का निरसन करके यह सिद्ध कर दिया था कि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। तत्पश्चात् श्री मुख्तार साहब ने पुरातन–जैनवाक्य–सूची की प्रस्तावना में विस्तारपूर्वक ऊहापोह के बाद यही निर्णय किया है कि कर्मप्रकृति एक स्वतन्त्र कृति है। (पुरातन–वाक्यसूची पृ॰ ८२ पैरा ३)

इसके रचयिता के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि यतः कर्मप्रकृति में गो॰

कर्मकाण्ड की अधिकांश गाथाएँ पायी जाती हैं, प्रारम्भ का मंगलाचरण आदि भी गो० कर्मकाण्ड वाला है, अतः यह ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का ही रचा हुआ होना चाहिए। परन्तु मुख्तार साहब का कहना है कि ''मुझे यह उन्हीं (गोम्मटसार कर्मकाण्ड के रचयिता) आचार्य नेमिचन्द्र की कृति मालूम नहीं होती; क्योंकि उन्होंने यदि गोम्मटसार-कर्मकाण्ड के बाद उसके प्रथम अधिकार को विस्तार देने की दृष्टि से उसकी रचना की होती, तो वह कृति और भी अधिक सुव्यवस्थित होती।....और यदि कर्मकाण्ड से पहले उन्हीं आचार्य महोदय ने कर्मप्रकृति की रचना की होती, तो उन्हें अपनी उन पूर्वनिर्मित २८ गाथाओं के स्थान पर सूत्रों को (जो कि कर्मकाण्ड की ताड़पत्रीय प्रतियों में पाये जाते हैं) नवनिर्माण करके रखने की जरूरत न होती-खासकर उस हालत में जबकि उनका कर्मकाण्ड भी पद्यात्मक था और इसलिए मेरी राय में यह 'कर्मप्रकृति' या तो नेमिचन्द्र नाम के किसी दूसरे आचार्य, भट्टारक अथवा विद्वान् की कृति है जिनके साथ नाम-साम्यादि के कारण 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' का पद बाद को कहीं-कहीं जुड़ गया है-सब प्रतियों में वह नहीं पाया जाता और या किसी दूसरे विद्वान् ने उसका संकलन कर उसे नेमिचन्द्र आचार्य के नामांकित किया है और ऐसा करने में उसकी दो दृष्टि हो सकती हैं-एक तो ग्रन्थ प्रचार की और दूसरी नेमिचन्द्र के श्रेय तथा उपकार-स्मरण को स्थिर रखने की, क्योंकि इस ग्रन्थ का अधिकांश शरीर आद्यन्त भागों सहित उन्हीं के गोम्मटसार पर से बना है।'' इत्यादि (पुरातन-जैनवाक्य-सूची पृ० ८८)

गोम्मटसार कर्मकाण्ड से पहले की रचना न मानने में श्री मुख्तार साहब ने जो युक्ति दी है, वह विचार करने पर कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखती। इसका कारण यह है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने जीवन के प्रारम्भकाल में जन-साधारण को कर्मप्रकृतियों का बोध कराने के निमित्त इस सरल सुबोध ग्रन्थ की रचना की हो और पीछे कर्मविषय के विशिष्ट जिज्ञासुओं एवं अभ्यासियों के लिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड की रचना की हो, यह अधिक सम्भव जँचता है। फिर जब तक सबल प्रमाणों से उसका अन्य आचार्य के द्वारा रचा जाना सिद्ध नहीं हो जाता तब तक उसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कृति मानने में कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। यह तर्क कि कर्मप्रकृति की अनेक गाथाएँ भावसंग्रहादि अन्य ग्रन्थों से संगृहीत हैं, अतः वह प्रसिद्ध नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती रचित नहीं माना जा सकता, कुछ ठीक नहीं है। कारण कि गो० जीवकाण्ड में अपने से पूर्ववर्ती प्राचीन पंचसंग्रह के प्रथम प्रकरण जीवसमास की १०० से भी ऊपर की गाथाएँ ज्यों की त्यों संगृहीत हैं। इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी उसी प्राचीन पंचसंग्रह के तीसरे, चौथे, पाँचवें प्रकरण की अनेक गाथाएँ संगृहीत दृष्टिगोचर होती हैं। प्राकृत साहित्य खासकर कर्म साहित्य के अनुशीलन करने पर यह पता चलता है कि आचार्य परम्परा से आने वाली पुरातन गाथाओं को परवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में बिना किसी उल्लेख या संसूचन के स्थान दिया है।

गोम्मटसार के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। इसका सबसे पुष्ट एवं सबल प्रमाण यह है कि उनके शिष्य चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण शक सं०

९०० (वि० सं० १०३५) में रचकर समाप्त किया है और यत: गोम्मटसार की रचना उनके लिए हुई है, अत: उसके रचयिता भी उनके ही समकालिक सुनिश्चित सिद्ध हैं।

## कर्मप्रकृति का परिमाण

कर्मप्रकृति की मूलपाठ वाली प्रतियों में से अधिकांश में १६१ गाथाएँ मिलती हैं, किन्तु ताड़पत्रीय प्रति में वा कुछ उत्तरदेशीय प्रतियों में १६० ही गाथाएँ मिलती हैं, **'सिय अत्थि णत्थि उभयं'** वाली सोलहवीं गाथा नहीं पायी जाती। इसके विषय में श्रीमुख्तार साहब लिखते हैं कि ''वह ग्रन्थ सन्दर्भ की दृष्टि से उसका संगत तथा आवश्यक अंग मालूम नहीं होती, क्योंकि १५वीं गाथा में जीव के दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व गुणों का निर्देश किया गया है, बीच में स्यात् अस्ति-नास्ति आदि सप्तनयों का स्वरूप निर्देश के बिना ही नामोल्लेखमात्र करके यह कहना कि ''द्रव्य आदेशवश से इन सप्त भंग रूप होता है'' कोई संगत अर्थ नहीं रखता। जान पड़ता है १५वीं गाथा में सप्त भंगों द्वारा श्रद्धान की जो बात कही गयी है, उसे लेकर किसी ने 'सप्तभंगीहिं' पद के टिप्पणरूप में इस गाथा को अपनी प्रति में पंचास्तिकाय ग्रन्थ से, जहाँ वह नं० १५ पर पायी जाती है, उद्‌धृत किया होगा, जो बाद को संग्रह करते समय कर्मप्रकृति के मूल में प्रविष्ट हो गयी।'' (पुरातन-जैनवाक्य-सूची, पृ० ८३)

श्री मुख्तार साहब की सम्भावना ठीक हो सकती है, क्योंकि मूडबिद्री की जिस प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति से मैंने श्री० पं० भुजबली शास्त्री के द्वारा मूलपाठ का मिलान कराया है, उसमें भी वह नहीं पायी जाती है। परन्तु फिर भी प्रस्तुत संस्करण में उक्त गाथा यथास्थान दी गयी है और इसका कारण यह है कि कर्मप्रकृति की संस्कृत टीकावाली जो प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, उन सबमें जो सबसे प्राचीन है अर्थात् वि० सं० १६२७ की लिखी हुई है उसमें भी वह गाथा अपनी संस्कृत टीका के साथ उपलब्ध है। इससे इतना तो निश्चित है कि टीका-रचना के पूर्व ही वह मूल का अंग बन चुकी थी। हाँ, टीका-प्रतियों में एक अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है, वह यह कि जयपुर वाली प्रति में उसकी टीका ठीक वही है, जो पंचास्तिकाय में पायी जाती है, किन्तु ब्यावर वाली प्रति में टीका उसमें भिन्न हैं और जिसका टीकाकार के द्वारा ही रचा जाना सिद्ध होता है।

ताड़पत्रीय प्रति में चौथी गाथा के बाद **''सयलरसरूवगन्धेहिं परिणदं चरिमचदुहिं फासेहिं। सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं॥''** यह गाथा तथा पचीसवीं गाथा के बाद **''आउगभागो थोओ णामागोदे समो तदो अहिओ। घादितिए वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये॥''** यह गाथा पायी जाती है, परन्तु ये गाथाएँ न तो संस्कृत टीकावाली प्रतियों में पायी जाती है और न पं० हेमराजजी वाली भाषाटीका की प्रति में ही पायी जाती है, अत: उन दोनों को प्रस्तुत संस्करण में नहीं दिया गया है।

ताड़पत्रीय प्रति में एक सौ उनतालीसवीं गाथा भी नहीं पायी जाती है, किन्तु वह संस्कृत और हिन्दी टीका में यथास्थान पायी जाती है, अतः उसे ज्यों का त्यों रखा गया है। ताड़पत्रीय प्रति-गत शेष पाठ-भेदों को यथास्थान पाद-टिप्पण में दे दिया गया है।

## ज और ब प्रति-गत विशेषताएँ

जयपुर-भण्डार की प्रतिवाली संस्कृत टीका के साथ ऐलक सरस्वती भवन ब्यावर की प्रतिवाली संस्कृत टीका का मिलान करने पर अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुईं, जिनसे बहुत-सी तो टीका के कर्तृत्व-निर्णय में भी सहायक सिद्ध होती है। नीचे कुछ खास विशेषताएँ दी जाती हैं–

(१) गा० ९ की टीका में ''श्री गोम्मटसारे·······'' से लेकर ''एवं सर्वाः १४८ प्रकृतयः'' तक की टीका ज प्रति में नहीं पायी जाती है। वह ब प्रति में पायी जाती है और तदनुसार ही यहाँ दी गयी है।

(२) गा० ५५ की टीका के अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की वह निरुक्ति दी गयी है, जो कि ज प्रति में गा० ६१ के स्थान पर दी गयी है। एक विशेषता और भी है कि ६१ नं० वाली गाथा को यहीं पर 'तथा चोक्तं' कहकर दिया गया है तथा उसी 'उक्तं च' वाली गाथा को यथास्थान ६१ नं० पर भी दिया गया है, किन्तु वहाँ पर टीका में उक्त निरुक्तियाँ न देकर लिखा है–

**''एतद् व्याख्यानं पूर्वं विस्तरतः कषायनिरूपणप्रस्तावे प्रतिपादितमस्ति''**

(व प्रति, पत्र १८/A भाग)

(३) गा० ६५ की टीका के अन्तर्गत 'तथा चोक्तं' कहकर जो तीन श्लोक दिये गये हैं, वे भी ब प्रति की टीका में नहीं पाये जाते।

(४) गा० ६९ की टीका के अन्त में जो गाथा ज प्रति में दी गयी है, वह भी ब प्रति में नहीं है।

(५) ब प्रति में पत्र २१ पर नामकर्म की रचना-संदृष्टि दी गयी है, वह ज प्रति में नहीं है। हमने इसे परिशिष्ट में भी संदृष्टियों के साथ दिया है।

(६) गा० ७३ की टीका में जो छह संस्थानों का स्वरूप दिया गया है, वह ब प्रति में नहीं है। इसी प्रकार गा० ७४ की टीका में जो अंगोपांगों का स्वरूप दिया गया है, वह भी ब प्रति में नहीं पाया जाता।

(७) ज प्रति की गा० ९९ की टीका में दिया हुआ छहों पर्याप्तियों का स्वरूप भी ब प्रति में नहीं है। वहाँ केवल पर्याप्तियों के नाम दिये गये हैं।

(८) गा० १०० की टीका में जो 'साहारणमाहारो' आदि तीन गाथाएँ दी हुई हैं, वे भी ब प्रति में नहीं हैं।

(९) गा० १०१ की टीका में शरीरों के १० उत्तर भेद गिनाये गये हैं, वे भी इसमें नहीं हैं।

(१०) गा० १०२ की टीका में 'अथवा' कहकर अन्तराय कर्म की पाँचों प्रकृतियों का जो स्वरूप

दिया गया है, ब प्रति में वह न देकर इतना मात्र ही लिखा है—''**अथवा दानादिपरिणामस्य व्याघातहेतुत्वाद् दानाद्यन्तरायः।**''

(११) गा॰ १०४ के पूर्वार्ध के अन्त में 'सम्ममिच्छत्तं' के स्थान पर टीकाकार को 'मिच्छत्तं' पाठ ही मिला रहा प्रतीत होता है, तभी उन्होंने टीका में 'सम्म' इति मीलित्वा आदि कहकर पूरे नाम की पूर्ति की है।

(१२) ब प्रति में गा॰ १०८ की टीका अति संक्षिप्त रूप से दी गयी है, जबकि ज प्रति में वह विस्तृत रूप के साथ पायी जाती है।

(१३) ज प्रति की गा॰ १०९ की टीका में पाँचों निद्राओं के नाम पाये गये हैं, किन्तु ब प्रति में पृथक्-पृथक् नाम न देकर 'स्त्यानगृद्धायादिपंचकं' इतना ही दिया गया है।

(१४) गा॰ ११३-११४ की टीका में पाँच संस्थान पाँच संहननों के नाम नहीं दिये गये, जबकि ज प्रति में ये पाये जाते हैं।

(१५) ब प्रति की गा॰ ११६ की टीका में प्रत्येक कषायपद के साथ 'वासनाकालः' पद नहीं दिया गया है, जबकि वह ज प्रति में पाया जाता है।

(१६) ब प्रति में गा॰ ११७ की टीका संक्षिप्त है, वह ज में विस्तृत है।

(१७) आगे अनेक स्थलों पर दोनों प्रतियों की टीका में संक्षेप-विस्तार का भेद नामादि के साथ भी पाया जाता है। जिनमें से कुछ एक को उदाहरण के स्वरूप यहाँ दिया जाता है—

**ब** प्रति—गा॰ १२१ चतुर्गतयः, पंच जातयः, गा॰ १२३ षोडशकषायेषु

**ज** प्रति—नरकादि चतुर्गतयः, एकेन्द्रियादि पंच जातयः, अनन्तानुबन्धि.........भेदभिन्नेषु षोडशकषायेषु

(१८) ब प्रति की गा॰ १३९ की टीका के अन्त में जो संदृष्टियाँ दी गयी हैं और जो कि प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित हैं, वे जयपुर-भण्डार की प्रति में नहीं पायी जातीं।

(१९) ज प्रति में स्थितिबन्ध प्रकरण के अन्त में संदृष्टियों से पूर्व '**इत्यनुभाषाप्रकरणं समाप्तं**' वाक्य लिखा है। पर ब प्रति में वह नहीं है, किन्तु संदृष्टियों के अन्त में 'इति स्थितिबन्धप्रकरणं समाप्तं' दिया है।

उक्त अन्तरों के अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे अनेक अन्तर हैं, जिन्हें विस्तार के भय से नहीं दिया गया है। टीकागत इन विभिन्नताओं को देखने पर उसके दो व्यक्तियों के द्वारा रचे जाने की बात पर प्रकाश पड़ता है कि एक के द्वारा संस्कृत टीका के रचे जाने पर दूसरे ने उसे यथास्थान जो पल्लवित किया है, वही भेद जयपुर और ब्यावर की प्रतियों में दिखाई दे रहा है, दोनों प्रतियों को देखते हुए यह बात हृदय पर सहज में ही अंकित होती है।

(२०) गा० १६ की टीका ज और ब दोनों ही प्रतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की पायी जाती है। ब में वह संक्षिप्त है, वह पाठ पादटिप्पण में दिया गया है। ज का पाठ विस्तृत है, उसे ऊपर दिया गया है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि ज प्रति का पाठ पञ्चास्तिकाय की टीका का शब्दशः अनुकरण करता है।

## मूल ग्रन्थ की विशेषताएँ

यद्यपि कर्मप्रकृति की बहुभाग गाथाएँ गो० कर्मकाण्ड में तथा कुछ गाथाएँ भावसंग्रहादि में पायी जाती हैं, तथापि अनेक गाथाएँ ऐसी हैं जो कि अन्यत्र नहीं पायी जाती हैं और न उनके द्वारा प्ररूपित अर्थ ही अन्यत्र दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कुछ बातों को नीचे दिया जाता है।

(१) गा० ८७ में गुणस्थानों के भीतर संहननों का वर्णन है जिससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि किस संहनन का धारक जीव किस गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है।

(२) गा० ८८ में जीवसमासों के भीतर संहननों का अस्तित्व बतलाया गया है।

(३) गा० ८९ में विदेह क्षेत्र वाले मनुष्यों के, विद्याधरों के, म्लेच्छ मनुष्यों के तथा नागेन्द्र पर्वत से परवर्ती क्षेत्र में रहने वाले तिर्यंचों के छहों संहननों का सद्भाव बतलाया गया है।

(४) गो० कर्मकाण्ड की टीका में यद्यपि अगुरुलघुषट्क, त्रसद्वादशक, स्थावरदशक नाम से सूचित प्रकृतियों का वर्णन मिलता है। पर गाथाओं में उनका निर्देश इसी ग्रन्थ में पहली बार देखने को मिलता है। गुणस्थानों, जीवसमासों एवं मार्गणास्थानों के भीतर बन्ध, उदय, सत्त्व प्रकृतियों के निरूपण-काल में इनका बार-बार उपयोग होता है और कण्ठस्थ न रहने के कारण अभ्यासी को कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में गा० ९५ के द्वारा अगुरुलघुषट्क, गा० ९९ के द्वारा त्रसद्वादशक और गा० १०० के द्वारा स्थावरदशक का निरूपण करके ग्रन्थकार ने अभ्यासियों को कण्ठस्थ करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया है।

(५) तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव कितने भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसका स्पष्ट निर्देश गा० १५८ में किया गया है, उससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि जिन जीवों ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है, वह तीन (दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण) कल्याणकों का धारी होकर उसी भव से मोक्ष जा सकता है और जिसने मुनि-अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है, वह (ज्ञान-निर्वाण) दो कल्याणकों का धारक होकर उसी भव से मुक्त हो जाता है। जो जीव तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके उसी भव से मुक्त नहीं हो पाते, वे स्वर्ग या नरक जाकर और वहीं से आकर मनुष्य भव को धारण करके पंच कल्याणकों का धारी बनकर तीसरे भव में मोक्ष जाते हैं। इसी गाथा में क्षायिकसम्यक्त्वी जीव की भी मुक्ति का वर्णन किया गया है कि वह अधिक से अधिक तीसरे या चौथे भव में नियम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

## टीकाकार

कर्मप्रकृति की बड़ी संस्कृत टीका जो मूल गाथाओं के साथ दी गयी है, उसके रचयिता वस्तुतः श्री सुमतिकीर्ति ही हैं, यह बात टीका के प्रारम्भ में दिये गये द्वितीय मंगल श्लोक से सिद्ध है। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपने गुरुजनों का स्मरण करते हुए '**विरेन्दुं ज्ञानभूषं हि वन्दे सुमतिकीर्तिकः**' कहकर वीरचन्द्र और ज्ञानभूषण की वन्दना की है और कर्त्ता रूप से अपने नाम का स्पष्ट निर्देश किया है। तथापि टीका के अन्त में दी गयी प्रशस्ति के द्वितीय पद्य से यह भी स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि उन्होंने अपने साथ अपने गुरु ज्ञानभूषण को प्रस्तुत टीका का रचयिता स्वीकार किया है। वह पद्य इस प्रकार है–

**तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः।**
**टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥**

दोनों पद्यों पर गहराई के साथ विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि टीका का प्रारम्भ तो सुमतिकीर्ति ने ही किया और सम्भवतः अन्त तक उसकी रचना भी की, किन्तु जैसा कि 'ज और ब प्रतिगत विशेषताएँ' शीर्षक के अन्तर्गत दिखाया गया है उनके गुरु ज्ञानभूषण ने उस टीका का संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धनादि किया और इसी कारण प्रशस्ति में सुमतिकीर्ति ने उक्त प्रकार से अपने साथ रचयिता रूप से ज्ञानभूषण का भी उल्लेख किया है। यहाँ यह आशंका व्यर्थ है कि सम्भव है-अन्तिम प्रशस्ति ज्ञानभूषण-रचित हो। इसका कारण यह है कि ज्ञानभूषण के लिए जिन 'दयाम्भोधि' और 'गुणाकर' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है और अपने लिए एक भी विशेषण का प्रयोग न करके केवल 'सुमतिकीर्तियुक्' इतना मात्र लिखा है, उससे यह बात असन्दिग्ध रूप से सिद्ध है कि वस्तुतः आदि मंगल-श्लोकों से लेकर अन्तिम प्रशस्ति-श्लोकों तक टीका की रचना सुमतिकीर्ति ने ही की है। किन्तु संशोधन-परिवर्धनादि करने के कारण कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए उन्होंने अपने गुरु के नाम का भी रचयिता रूप से उल्लेख कर दिया है। इसके अतिरिक्त प्रशस्ति के अन्त में जो पुष्पिका दी है, उससे भी मेरे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। वह इस प्रकार है–

**''इति भट्टारकज्ञानभूषणनामाङ्किता सूरिश्रीसुमतिकीर्तिविरचिता कर्मकाण्डस्य टीका समाप्ता।''**

**एक भ्रम**–ऊपर के उद्धरणों को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि संस्कृत टीकाकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ को कर्मकाण्ड ही समझ लिया है। जबकि यह ग्रन्थ गो० कर्मकाण्ड के पहले और दूसरे अधिकार से ही सम्बन्ध रखता है और विवेचन-पद्धति को देखते हुए वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और विषय की दृष्टि से 'कर्मप्रकृति' ही उसका यथार्थ नाम है।

## टीकाकार-परिचय

प्रस्तुत कर्मप्रकृति की टीका के अन्त में जो प्रशस्ति दी हुई है, वह बहुत संक्षिप्त है। इन्हीं

सुमतिकीर्ति ने प्राकृत पञ्चसंग्रह की भी टीका लिखी है और उसके अन्त में एक विस्तृत प्रशस्ति दी है, जिसके द्वारा उनकी गुरुपरम्परा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसका सार इस प्रकार है–

''आचार्य कुन्दकुन्द के मूलसंघ में क्रमशः पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्त्ति, मल्लिभूषण हुए। उनके पट्ट पर अनेक शिष्यों वाले भट्टा० लक्ष्मीचन्द्र हुए। उनके पट्ट पर वीरचन्द्र हुए, उनके पट्ट पर ज्ञानभूषण हुए। और उनके पट्ट पर प्रभाचन्द्र हुए। इनमें से लक्ष्मीचन्द्र सुमतिकीर्ति के दीक्षागुरु और वीरचन्द्र तथा ज्ञानभूषण शिक्षागुरु थे।''

प्रारम्भ की गुरुपरम्परा के पश्चात् लक्ष्मीचन्द्र, उनके शिष्य वीरचन्द्र, उनके शिष्य ज्ञानभूषण का उल्लेख सुमतिकीर्ति ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में भी किया है। उक्त कथन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि सुमतिकीर्ति के शिक्षागुरु श्रीज्ञानभूषण थे। उक्त परिचय के अतिरिक्त दोनों ही प्रशस्तियों से न टीकाकार के माता-पिता का ही परिचय प्राप्त होता है और न उनके जन्मस्थान, जाति आदि का ही। हाँ, पञ्चसंग्रह की प्रशस्ति से यह अवश्य ज्ञात होता है कि उन्होंने पञ्चसंग्रह की टीका की समाप्ति ईलाव (?) नगर के श्रीआदिनाथचैत्यालय में की। यह ईलावनगर ईडर है, या अन्य कोई नगर, यह अन्वेषणीय है। ईडर-गादी की भट्टारक-परम्परा से सम्भवतः इसका निर्णय किया जा सकेगा।

## टीकाकार का समय

यद्यपि कर्मप्रकृति की टीका के रचने के समय का कोई उल्लेख इसकी प्रशस्ति में नहीं दिया गया है तथापि पञ्चसंग्रह की प्रशस्ति में उसकी टीकासमाप्ति का स्पष्ट निर्देश किया गया है। वह टीका वि० सं० १६२० में समाप्त हुई है, अतः इसके रचे जाने का समय भी इसी के आसपास होना चाहिए। अधिक सम्भावना तो यह है कि पञ्चसंग्रह की टीका के पूर्व ही कर्मप्रकृति की टीका रची गयी है। इसके दो कारण हैं–एक तो यह कि पञ्चसंग्रह की अपेक्षा कर्मप्रकृति स्वल्प परिमाण वाली है, दूसरे सुगम भी है, जबकि पञ्चसंग्रह विस्तृत एवं दुर्गम है। इसके अतिरिक्त पञ्चसंग्रह-जैसे दुर्गम एवं विस्तृत ग्रन्थ की टीका पर तो केवल सुमतिकीर्ति का ही नाम अंकित है, जबकि कर्मप्रकृति की टीका पर उनके नाम के अतिरिक्त उनके गुरु ज्ञानभूषण का भी नाम अंकित है। इससे यही सिद्ध होता है कि सुमतिकीर्ति ने अपने जीवन के प्रारम्भ में कर्मप्रकृति की टीका गुरु के साहाय्य से की। पीछे विद्या और वय में प्रौढ़ हो जाने पर पञ्चसंग्रह की टीका का उन्होंने स्वयं निर्माण किया।

## टीकागत-विशेषताएँ

टीकाकार ने अपनी टीका का प्रारम्भ करते हुए ''**भाष्यं हि कर्मकाण्डस्य वक्ष्ये भव्यहितंकरम्**'' इस प्रतिज्ञाश्लोक के द्वारा अपनी रची जाने वाली कृति को 'भाष्य' कहा है और ग्रन्थ-समाप्ति पर ''**टीकां ही कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक्**'' कहकर उसे 'टीका' नाम भी दिया है। यद्यपि

सूक्ष्म दृष्टि से भाष्य और टीका में अन्तर है, वह यह कि टीका तो मूल में दिये गये पदों के अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है, किन्तु भाष्य उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त सभी प्रकार की बातों को स्पष्ट करता है, साथ ही स्वयं शंकाएँ उठाकर उनका समाधान करना यह भाष्य की विशेषता होती है। इस दृष्टि से देखने पर सुमतिकीर्ति के शब्दों में इसे भाष्य और टीका दोनों ही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कर्म के विषय का निरूपण किया गया है और जहाँ तक विषय-प्रतिपादन का सम्बन्ध है, वह आगम-परम्परा के अनुकूल ही है। फिर भी अनेक स्थलों पर हमें कुछ विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, जो कि इसके पूर्ववर्ती दिगम्बर साहित्य में नहीं पायी जातीं। हालाँकि श्वेताम्बर साहित्य में वे पायी जाती हैं। उदाहरण के रूप में छह संहननों की आकृतियों को लिया जा सकता है, जिन्हें कि प्रस्तुत संस्करण में छपाई की कठिनाई के कारण टीका-स्थान पर न देकर परिशिष्ट में दिया गया है। वस्तुतः संहननों की उक्त आकृतियाँ अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और उन पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म का स्वरूप बतलाते हुए 'वा' कहकर एक-एक और भी लक्षण दिया है, जो मुझे दिगम्बर-परम्परा के शास्त्रों में दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। इसी प्रकार अन्तरायकर्म की पाँचों प्रकृतियों की परिभाषा भी दो-दो प्रकार से दी है, जो कि अपनी एक खास विशेषता रखती हैं।

शेष टीका अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों की आभारी है। कर्म-प्रकृतियों के स्वरूप का बहुभाग सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति और गो० कर्मकाण्ड की टीका से ज्यों का त्यों या कहीं-कहीं थोड़े से शब्द परिवर्तन के साथ लिया गया है।

गा० ७६ की टीका करते हुए मूल में प्रयुक्त "**अणाइणिहणारि से उत्तं**" का अर्थ बड़ा विलक्षण किया गया है-"**इतिसंहननं षड्विधं अनादिनिधनेन ऋषिणा भणितं आद्यन्तरहितेन ऋद्धिप्राप्तेन वृषभदेवेन कथितम्।**" अर्थात् इस प्रकार छह प्रकार का संहनन आदि अन्तरहित, ऋद्धिप्राप्त वृषभदेव ने कहा। वस्तुतः उक्त गाथाचरण की संस्कृत छाया यह है-'**अनादिनिधनार्षे भणितम्**' इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि ये छह संहनन अनादि-निधन आर्ष अर्थात् ऋषिप्रणीत आगम में कहे गये हैं। सम्भवतः प्राकृतभाषा की ठीक जानकारी न होने से उक्त अर्थ किया गया प्रतीत होता है।

## दूसरी संस्कृत टीका

प्रस्तुत संस्करण में किसी अज्ञात आचार्य-रचित एक और संस्कृत टीका प्रकाशित की गयी है। इसके आदि और अन्त में रचने वाले के नाम आदि का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि यह संक्षिप्त है और अनेक स्थलों पर पं० हेमराजकृत भाषा टीका के साथ समान है, तथापि कुछ स्थलों पर अपनी विशेषताओं को भी लिये हुए है। अतः हमारे प्रधान सम्पादक महोदयों ने इसे भी प्रकाशित करने

की अनुमति प्रदान की। इसकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(१) गा० २४ की टीका में दो प्राचीन गाथाएँ देकर यह बतलाया गया है कि कर्मभूमियाँ मनुष्य तिर्यंचों के आगामी भव की आयु का बन्ध कब होता है। आगम के अनुसार वर्तमान भव की दो त्रिभाग प्रमाण आयु के बीतने पर और एक त्रिभाग के शेष रहने पर एक अन्तर्मुहूर्तकाल तक आगामी भव की आयु के बाँधने का अवसर आता है, यदि इस अवसर पर वह न बँध सके, तो शेष आयु के भी दो त्रिभाग के बीतने और एक त्रिभाग के शेष रहने पर पुनः दूसरा अवसर आता है। इस प्रकार जीवन में आठ अवसर आते हैं। यदि इनमें से किसी भी अवसर में आगामी भव की आयु न बँध सकी हो तो मरण के कुछ क्षण पूर्व अवश्य ही नवीन आयु का बन्ध हो जाता है। गाथाओं में वर्णित इसी त्रिभाग के क्रम को टीकाकार ने अंकसंदृष्टि देकर स्पष्ट किया है कि यदि किसी मनुष्य की वर्तमान भव–सम्बन्धी आयु ६५६१ वर्ष की मानी जाये, तो दो त्रिभाग के बीतने और २१८७ वर्षप्रमाण एक त्रिभाग के शेष रहने पर, पहला अवसर आयुबन्ध का प्राप्त होगा। दूसरा अवसर ७२९ वर्ष के शेष रहने पर, तीसरा २४३ वर्ष के शेष रहने पर, चौथा ८१ वर्ष के शेष रहने पर, पाँचवां २७ वर्ष के शेष रहने पर, छठा ९ वर्ष के शेष रहने पर, सातवाँ ३ वर्ष के शेष रहने पर और आठवाँ १ वर्ष के शेष रहने पर प्राप्त होगा। आयुबन्ध के उक्त आठों अवसरों को आगम की भाषा में अपकर्षकाल कहते हैं। यदि उक्त जीव के आठवें अपकर्षकाल अर्थात् एक वर्ष के शेष रहने पर भी आयुबन्ध न हो सके, तो मरण के कुछ समय पूर्व तो वह नियम से होगा। यहाँ एक विशेष बात ज्ञातव्य है कि कोई जीव एक अपकर्षकाल में ही नवीन भव की आयु का बन्ध करते हैं, कोई दो अपकर्षकालों में, कोई तीन अपकर्षकालों में; इस प्रकार से बढ़ते हुए कितने ही जीव आठों ही अपकर्ष कालों में नवीन भव की आयु का बन्ध करते हैं, किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि एक बार जिस गति–सम्बन्धी आयु का बन्ध हो जायेगा, आगामी दूसरे–तीसरे आदि अपकर्षकालों में उसी ही आयु का बन्ध होगा, उससे भिन्न अन्य आयु का नहीं। आठों अपकर्षों में आयु का बन्ध करने वाले जीव सबसे कम पाये जाते हैं, सात में उससे अधिक। इसी प्रकार उत्तरोत्तर अधिक–अधिक जानना चाहिए।

कुछ संदिग्ध स्थलों के निर्णयार्थ मैंने गाथाओं के टीका पाठ मिलान के लिए श्री कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल को लिखा था, कि यदि और भी प्राचीन प्रतियाँ जयपुर के भण्डारों में हों, तो आप उन्हें भेजिए। वे प्रति तो नहीं भिजवा सके पर संदिग्ध स्थलों का मिलान कर पाठ भेद आदि भिजवायें। उसमें प्रस्तुत संस्करण के अन्तर्गत मूल गाथांक १४२ के नीचे पादटिप्पण में आमेर प्रति का पाठ दिया है, वह इन दोनों ही टीकाओं से सर्वथा भिन्न है। जयपुर से इस प्रति का जो परिचय प्राप्त हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि यह टीका सुमतिकीर्ति की पहली टीका से भी प्राचीन है, क्योंकि वह प्रति वि०सं० १५७७ के आषाढ़ सुदी ३ की लिखी हुई है। जबकि सुमतिकीर्ति की टीका १६२० के आस–पास की लिखी है।

प्रयत्न करने पर भी हम उस प्रति को नहीं प्राप्त कर सके। यदि वह मिल जाती तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता कि एक और प्राचीन तथा विस्तृत टीका कर्मप्रकृति की है।

(२) गा० ३७ की टीका में मतिज्ञान के अवग्रहादि चारों भेदों का बहुत ही थोड़े शब्दों में सुन्दर स्वरूप दिया गया है। इतने स्वल्प शब्दों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का इतना सुन्दर स्वरूप अन्य दोनों टीकाओं में नहीं आया।

(३) गा० ६९ में पाँचों शरीरों के संयोगी १५ भेदों को एक संदृष्टि द्वारा बहुत ही सुन्दर ढंग से दिखलाया गया है। यह संदृष्टि भी शेष दोनों टीका में नहीं पायी जाती।

(४) गा० ८४ में छहों संहनन-धारियों के स्वर्ग-गमन की योग्यता भी एक संदृष्टि द्वारा प्रकट की गयी है। इस संदृष्टि में एक विशेषता और भी है और वह यह कि संहनन के साथ उसके धारक स्त्री या पुरुष दोनों का नामोल्लेख कर दिया गया है।

(५) गा० ८५-८६ की टीका में उक्त संहनन-धारियों के नरक-गमन की योग्यता भी एक संदृष्टि द्वारा बतलायी गयी है।

(६) गा० ८७ की टीका में संहनन-धारियों के गुणस्थानों का निरूपण एक संदृष्टि द्वारा किया गया है। उक्त दोनों संदृष्टियाँ भी शेष दोनों टीकाओं में नहीं दी गयी है।

(७) गा० १३२-१३३ की टीका में सिद्धान्त ग्रन्थों से एक प्राकृत गद्य का उद्धरण देकर उत्कृष्ट, मध्यम और ईषत् संक्लेश का स्वरूप समझाया गया है।

टीका बहुत सुगम है। प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी को इसका अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

## पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका

प्रस्तुत संस्करण में मूलग्रन्थ, भट्टा० मल्लिभूषण-सुमतिकीर्ति की संस्कृत टीका और अनुवाद के पश्चात् पं० हेमराजजी कृत भाषा टीका भी दी जा रही है। पण्डितजी आज से लगभग ३०० वर्ष के पूर्व हुए हैं। उन्हें जो संस्कृत टीका प्राप्त हुई, उसी के आधार पर आपने भाषा टीका लिखी है। इस भाषा टीका की विशेषता यह है कि आपने मूल में दिये हुए प्रायः प्रत्येक विषय को खुलासा करने का प्रयत्न किया है। अनेक स्थलों पर स्वयं ही शंकाएँ उठाकर, आगमानुकूल उनका समाधान किया है। यद्यपि यह टीका ढुंढारी भाषा में पुरानी शैली के ढंग पर लिखी गयी है, तथापि यह सुबोध है और जिन लोगों ने ढुंढारी भाषा में लिखी गयी वचनिकाओं का स्वाध्याय नहीं भी किया है, उन्हें भी इसके समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। फिर भी ढुंढारी भाषा में लिखे गये कुछ मुहावरों की सूचना करना आवश्यक है, ताकि पाठकों को समझने में सुगमता होये।

बहुरि—यह शब्द पुनः के अर्थ में व्यवहार किया जाता है।

अरु—यह और का ही अपभ्रंश रूप है।

जातें–यह यत: के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसे हिन्दुस्तानी में 'चूँकि' कहते हैं।

तातें–यह तत: के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसे हिन्दी में 'इसलिए' लिखा जाता है।

कै–यत वर्तमान में प्रयुक्त 'कि' के स्थान में लिखा गया है।

करि–यह तृतीया विभक्ति के अर्थ में प्रयोग किया जाता है यथा–ज्ञानकरि अर्थात् ज्ञान के द्वारा।

नि–इसका प्रयोग जिस शब्द के अन्त में किया जाये उससे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का अर्थ समझना चाहिए। जैन कर्मनिकरिका अर्थ कर्मों के द्वारा।

हु–इसका प्रयोग भी षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में किया गया है। यथा–कर्महुकी दशा का अर्थ कर्मों की दशा है। कहीं–कहीं इसका प्रयोग 'ही' के अर्थ में भी हुआ है।

जु–का प्रयोग 'जो' के अर्थ में हुआ है।

सु–का प्रयोग 'सो' के अर्थ में हुआ है।

विषें–या विषैं–का प्रयोग सप्तमी विभक्ति के अर्थ में होता है। यथा–कुल विषें यानी कुल में।

ताईं–का अर्थ 'तक' है। जैसे–छठे ताई–अर्थात् छठे गुणस्थान तक।

कह्या–कहा।

काहे–क्यों, किस कारण।

संते–संस्कृति के 'सति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे ज्ञान के होते संते यानी ज्ञान के होते हुए।

इसी प्रकार के कुछ और भी शब्दों का प्रयोग इस भाषा टीका में हुआ है जिनका कि अर्थ पढ़ते हुए ही पाठकों की समझ में आ जायेगा।

यह तो हुई टीका की भाषा के विषय में सूचना। अर्थ के विषय में भी कुछ बातें सूचना के योग्य है। यद्यपि भाषा टीकाकार ने प्रत्येक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या करने में पूरी सावधानी रखी है और जहाँ तक सम्भव हुआ–आगमानुकूल ही अर्थ किया है, पर कुछ का अर्थ फिर भी विचारणीय है। जैसे सप्तभंगों के स्वरूप में पाँचवें, छठे, सातवें भंग का स्वरूप; गाथा ३७ की टीका में 'नियमित' का अर्थ; इसी के भावार्थ में क्षिप्र–अक्षिप्र का अर्थ; ध्रुव–अध्रुव का अर्थ विचारणीय है। बहु–ईहा के अर्थ को करते हुए ''बहुत को सन्देहरूप जानना'' भी विचारणीय है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी स्थल विचारणीय है, जिन्हें विद्वज्जन तो सहज ही समझ जायेंगे और साधारण जन प्रारम्भ में दी हुई संस्कृत टीका से निर्णय कर सकेंगे।

भाषा टीका की शैली को देखते हुए इसे हिन्दी भाष्य कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि मूल में अनुक्त ऐसे कितने ही विषयों की चर्चा स्वयं शंका उठा करके की गयी है। कितने ही गूढ़ विषयों का भावार्थ में स्पष्टीकरण किया गया है। इससे यह भाषा टीका स्वाध्याय करने वालों के लिए बहुत ही उत्तम है। इसी बात को देख करके हमारे प्रधान सम्पादकों ने इसके प्रकाशन की भावना प्रकट कर सहर्ष

स्वीकृति प्रदान की।

पं॰ हेमराजजी ने अपनी भाषा टीका जिस संस्कृत टीका के आधार पर की है और जिसके वाक्य बीच-बीच में देकर अपनी टीका को समृद्ध किया है, उसके आदि में न कोई मंगलाचरण पाया जाता है और न अन्त में रचयिता की प्रशस्ति आदि ही। इससे उसके कर्त्ता आदि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल इतना अवश्य कह सकते हैं कि आपके सामने भट्टा॰ मल्लिभूषण-सुमतिकीर्ति की संस्कृत टीका नहीं थी। अन्यथा अपनी वचनिका में आप उसका अवश्य ही भरपूर उपयोग करते या यों कहना चाहिए कि उसी को आधार बनाकर आप अपनी भाषा टीका लिखते।

संस्कृत टीकाकार के समान आपने भी 'कर्मप्रकृति' की 'कर्मकाण्ड' नाम से उल्लेख किया है और टीका समाप्ति पर जो इति वाक्य लिखा है, उसमें स्पष्ट शब्दों के द्वारा अपनी टीका को 'कर्मकाण्ड' की टीका घोषित किया है। पर यह गोम्मटसार कर्मकाण्ड से भिन्न एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, यह बात मैं पहले ही बतला आया हूँ।

## विषय-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति है और इसमें अपने नाम के अनुरूप ही कर्मों की प्रकृति यानी स्वभाव या स्वरूप का वर्णन किया गया है।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि कर्म क्या वस्तु है और इसे स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है, कर्म को मानने की आवश्यकता हमारे महर्षियों को इसलिए हुई कि तर्क की कसौटी पर कसने या जाँचे जाने पर संसार का स्रष्टा ईश्वर आदि कोई सिद्ध नहीं होता। उसके विषय में इतने प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि न कोई जगत् का सर्जनहारा सिद्ध होता है और न असंख्य जाति का जगत्-वैचित्र्य किसी एक के द्वारा रचा जाना सम्भव है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने व्यक्तिगत जगत् का स्वयं स्रष्टा है! वह स्वयं कैसे अपने शरीरादि का स्रष्टा है, यह बात कर्मसिद्धान्त के विवेचन और मनन से पाठकों को स्वयं ही भली-भाँति विदित हो जायेगी। यतः ईश्वर के जगत्-कर्तृत्व का खण्डन या निराकरण जो न्याय के ग्रन्थों में बहुत अच्छी तरह किया गया है, अतः यहाँ पर उसकी चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

### कर्म क्या वस्तु है ?

इसका उत्तर यह है कि राग-द्वेष से संयुक्त इस संसारी जीव के भीतर प्रतिसमय जो परिस्पन्दरूप एक प्रकार की क्रिया होती रहती है उसके निमित्त से आत्मा के भीतर एक प्रकार का बीजभूत अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वही बीजभूत द्रव्य सुख-दुःख रूप फल देने लगता है, इसे ही कर्म कहते हैं। जीव के साथ इस प्रकार के कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। ऐसा नहीं है कि जीव अनादिकाल से सर्वथा शुद्ध चैतन्य

रूप में था, पीछे किसी समय उसका कर्म के साथ सम्बन्ध हो गया हो। ग्रन्थकार ने इसी बात को अपने ग्रन्थ की दूसरी ही गाथा में यह दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण का अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी अनादिकालीन सम्बन्ध स्वयं सिद्ध जानना चाहिए।

यतः जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है, अतः मोटे तौर पर कर्म के दो भेद किये गये हैं–एक भावकर्म और दूसरा द्रव्यकर्म। जीव के जिन राग-द्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावों का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के भीतर आता है उसका नाम द्रव्यकर्म है। इस द्रव्य और भावकर्म की ऐसी ही कार्य-कारण परम्परा अनादि से चल रही है कि राग-द्वेष रूप भावकर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बँधता है और उसका निमित्त पाकर आत्मा में पुनः राग-द्वेष का उदय होता है।

द्रव्यकर्म क्या वस्तु है ? इसका उत्तर यह है कि जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार दो प्रकार के द्रव्य संसार में पाये जाते हैं–१. चेतन, २. अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पाँच प्रकार के हैं–धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें से चार प्रकार के द्रव्य तो अमूर्तिक एवं अरूपी हैं, अतः वे इन्द्रियों के अगोचर हैं और इसी से अग्राह्य भी हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसी से वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है तथा वह पकड़ा और छोड़ा भी जाता है। "**पूरणाद् गलनात् पुद्गलः**" इस निरुक्ति के अनुसार मिलना और बिछुड़ना इसका स्वभाव ही है। इस पुद्गल द्रव्य की ग्राह्य-अग्राह्य रूप से २३ प्रकार की वर्गणाएँ जैन सिद्धान्त में बतलायी गयी हैं, उनमें से जो कर्म और नोकर्म वर्गणाएँ हैं, उन्हें यह जीव अपनी चंचलता रूप क्रिया के द्वारा प्रति समय अपने भीतर खींचता रहता है, जिस प्रकार से कि लोहे का गरम गोला पानी के भीतर डाले जाने पर चारों ओर से अपने भीतर पानी को खींचता है। इनमें जो कर्म वर्गणाएँ हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप से परिणत होती हैं और जो नोकर्मवर्गणाएँ हैं, वे शरीर रूप से परिणत होती हैं। इन कर्मवर्गणाओं को ही आत्मा से संबद्ध हो जाने पर द्रव्यकर्म कहा जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी द्रव्यकर्म का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

द्रव्यकर्म के मूल में आठ भेद हैं–१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय। आत्मा के जानने की शक्ति को ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं। आत्मा के देखने की शक्ति को दर्शन कहते हैं और उस दर्शन गुण के आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। सुख और दुःख के अनुभव कराने वाले कर्म को वेदनीय कहते हैं। सांसारिक पदार्थों में मोहित करने वाले कर्म को मोहनीय कहते हैं। मनुष्य-तिर्यंचादि के किसी एक शरीर में नियत काल तक रोक रखने वाले कर्म का नाम आयुकर्म है। मनुष्य-तिर्यंच आदि के शरीर, अंग-उपांग आदि बनाने वाले कर्म को नामकर्म कहते हैं। ऊँच-नीच कुलों

में उत्पन्न करने वाले कर्म का नाम गोत्रकर्म है और जिसके उदय से जीव मनोवांछित वस्तु को न पा सके उसका नाम अन्तराय कर्म है। प्रस्तुत ग्रन्थ में गाथा ८ से लेकर ३५वीं गाथा तक उक्त आठों कर्मों के स्वरूप आदि का दृष्टान्तपूर्वक बहुत सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है, जिसे विशेष जिज्ञासुओं को वहीं से देखना चाहिए।

उक्त आठों कर्मों के उत्तरभेद जिन्हें कि उत्तर प्रकृति कहते हैं, इस प्रकार बतलाये गये हैं—ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के ५। ये सब मिलकर आठों कर्मों के उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस (१४८) हो जाते हैं।

मूल आठ कर्मों को दो भागों में विभक्त किया गया है—१. घातिकर्म और २. अघातिकर्म। जो कर्म आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुणों का घात करते हैं, उन्हें घातिकर्म कहते हैं। ऐसे घातिकर्म चार हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. मोहनीय और ४. अन्तराय। जो कर्म आत्म-गुणों के घातने में असमर्थ हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। उनके भी चार भेद हैं—१. वेदनीय, २. आयु, ३. नाम और ४. गोत्र। घातिकर्म के भी दो भेद हैं—१. देशघाति और २. सर्वघाति। जो कर्म आत्म-गुणों को पूरे रूप से घातते हैं, उन्हें सर्वघाति कहते हैं और जो आत्मगुणों के एक देश को घातते हैं, उन्हें देशघाति कहते हैं। ऊपर जो आठों कर्मों के उत्तरभेद बताये गये हैं, उनमें घातिया कर्मों के ४७ उत्तरभेद हैं। इनमें से २१ प्रकृतियाँ तो सर्वघाती है और २६ प्रकृतियाँ देशघाती हैं। घातिया कर्मों को पाप रूप ही माना गया है, किन्तु अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों रूप पाये जाते हैं। इसका विशद विवेचन भी ग्रन्थ में यथास्थान किया गया है।

## बन्ध के भेद

कर्म बन्ध के चार भेद होते हैं—१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. अनुभागबन्ध और ४. प्रदेशबन्ध।

**प्रकृतिबन्ध—**प्रतिसमय आने वाले कर्मपरमाणुओं में आत्मा के रागादि परिणामों के निमित्त से जो ज्ञानदर्शनादि गुणों को आवरण करने का स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। प्रकृतिबन्ध के ज्ञानावरण आदिक आठ मूल भेद हैं, उन्हीं के उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस होते हैं और तर-तम भावों की अपेक्षा असंख्यात भेद होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकृतिबन्ध प्रकरण के भीतर कर्मों के १४८ भेदों का स्वरूप गा० १२१ तक बतलाया गया है, जिसे विस्तार भय से यहाँ नहीं दे रहे हैं। पाठक ग्रन्थ से ही ज्ञात करें।

**स्थितिबन्ध—**आने वाले कर्म-परमाणु जितने काल तक आत्मा के साथ बँधे रहते हैं, उस काल की मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं। यह स्थितिबन्ध दो प्रकार का है—उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और

जघन्य स्थितिबन्ध। जब आत्मा क्रोधादि कषायों के तीव्र उदय का निमित्त पाकर संक्लेश-परिणति की चरम सीमा को प्राप्त होता है उस समय उसके बँधने वाले कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है और जब कषायों का उदय अत्यन्त मन्द होने से आत्मा विशुद्धि से परिणत होता है, उस समय उसके बँधने वाले कर्मों का जघन्य बन्ध होता है। उदाहरण के तौर पर मोहनीयकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल है। यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उस मिथ्यादृष्टि तीव्रकषायी जीव के होगा, जो संक्लेश परिणामों की चरमसीमा तक पहुँचा हुआ है। मोहनीयकर्म के जघन्य स्थितिबन्ध का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल है इतनी अल्प स्थिति वाला मोहकर्म का बन्ध उस जीव के होगा, जो मिथ्यात्व के महागर्त से निकल कर आत्मपरिणामों की विशुद्धि से सम्यग्दृष्टि हो ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता हुआ संयमी बनकर मोहकर्म की २८ प्रकृतियों में से २७ के नवीन बन्ध का निरोध कर चुका है, पुरानी बँधी प्रकृतियों के सत्त्व का विनाश कर चुका है, ऐसे कर्मक्षय के अभिमुख महासंयमी के नवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होगा। इसी प्रकार से शेष कर्मों के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध के विषय में जानना चाहिए। स्थितिबन्ध के उक्त नियम की ३ प्रकृतियाँ अपवादरूप भी हैं—देवायु, मनुष्यायु और तिर्यगायु की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था में होता है और जघन्य स्थिति का बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश की अवस्था में होता है। इस प्रकार से सभी कर्म-प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ की गाथा १२२ से लेकर १३९वीं तक किया गया है।

**अनुभागबन्ध**—बँधने वाले कर्म परमाणुओं में आत्मा के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर जो सुख-दुःख या भले-बुरे फल देने की शक्ति पड़ती है, उसे अनुभागबन्ध कहते हैं। घातिया कर्मों के अनुभाग की उपमा लता (वेलि), दारू (काठ), अस्थि (हड्डी) और शैल (पाषाण) के रूप में दी गयी है। जिस प्रकार लता से काठ में कठोरता अधिक होती है, उससे हड्डी में और उससे अधिक पाषाण में कठोरता अधिक पाई जाती है, उसी प्रकार संक्लेश परिणामों के तर-तम भाव से ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियों की अनुभाग यानी फलदानशक्ति लता, दारू आदि के रूप से चार प्रकार की होती है। इसका अभिप्राय यह है कि उन प्रकृतियों की जैसी अनुभाग शक्ति होगी, उसी के अनुसार वे अपना फल भी हीनाधिक रूप में देंगी। यतः घातियाकर्मों की सभी प्रकृतियों को पापरूप ही माना गया है, अतः उनका अनुभाग भी बुरे रूप में ही अपना फल देता है। वेदनीय आदि चार अघातिया कर्मों की १०१ प्रकृतियों का विभाजन पुण्य और पाप दोनों में किया गया है। सातावेदनीय, उच्चगोत्र आदि पुण्य प्रकृतियाँ हैं और असातावेदनीय, नीचगोत्र आदि पाप प्रकृतियाँ हैं। पाप प्रकृतियों के अनुभाग की उपमा नीम, काँजी, विष और हालाहल से दी गयी है। जैसे इन चारों में कड़वापन उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में पाया जाता है, उसी प्रकार से पापप्रकृतियों में अपने फल देने की शक्ति भी चार प्रकार की पायी जाती है। पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग की उपमा गुड़, खाँड़, शक्कर और

अमृत से दी गयी है। जिस प्रकार इन चारों में मिष्टता की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक पायी जाती है उसी प्रकार से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में भी चार प्रकार से फल देने की शक्ति पायी जाती है। इस प्रकार कुछ अन्य विशेषताओं के साथ संक्षिप्त सा वर्णन गाथा १४० से लेकर १४३ तक किया गया है। अनुभाग का विस्तृत विवेचन गोम्मटसार कर्मकाण्ड में देखना चाहिए।

**प्रदेशबन्ध—**प्रति समय आत्मा के साथ बँधने वाले कर्मपुंज में जितने परमाणु होते हैं, उनका यथासम्भव सब कर्मों में जो विभाजन होता है, उसका नाम प्रदेशबन्ध है। इसका यह नियम है कि एक समय में बँधने वाले कर्म-परमाणुओं में से आयुकर्म को सबसे कम परमाणु मिलते हैं, नाम और गोत्रकर्म को परस्पर में समान मिलते हुए भी आयुकर्म से अधिक मिलते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को परस्पर में समान मिलते हुए भी नाम-गोत्र की अपेक्षा अधिक भाग मिलता है। इन तीनों घाति कर्मों की अपेक्षा मोहकर्म को और भी अधिक हिस्सा मिलता है और वेदनीयकर्म को मोह से भी अधिक हिस्सा मिलता है। ग्रन्थकार ने यह विभाजन का वर्णन संक्षेप के कारण इस स्थल पर नहीं किया है, किन्तु जैसा कि पहले बतलाया गया है—मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति में उक्त अर्थ की प्रतिपादक '**आउगभागो थोओ**' इत्यादि गाथा ग्रन्थ के प्रारम्भ में पचीसवीं गाथा के पश्चात् पायी जाती है। उक्त वर्णन की उपयोगिता को देखते हुए उसका वहाँ होना प्रकरणसंगत है, किन्तु यह गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में प्रदेशबन्ध प्रकरण के भीतर ही दी गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रदेश बन्ध-प्रकरण के भीतर पृथक्-पृथक् आठों कर्मों के बन्ध-कारणों का निरूपण किया गया है। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि उक्त वर्णन गो॰ कर्मकाण्ड में प्रदेशबन्ध-प्रकरण के भीतर न करके ग्रन्थ के अन्त में प्रत्यय-प्ररूपणा के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकरण में जो गाथाएँ वहाँ पायी जाती हैं, वे ही ज्यों की त्यों यहाँ कर्मप्रकृति के प्रदेश बन्ध-प्रकरण में दी गयी हैं। और प्रदेशबन्ध सम्बन्धी वर्णन करने वाली जो गाथाएँ गोम्मटसार कर्मकाण्ड के प्रदेशबन्ध अधिकार के भीतर पायी जाती हैं, उनमें से एक भी गाथा यहाँ नहीं पायी जाती है। दोनों ग्रन्थों के विषय-निरूपण की यह विभिन्नता यद्यपि दोनों के एक कर्तृत्व में सन्देह उत्पन्न करती है, तथापि यतः बन्ध का सम्बन्ध आस्रव से है और तत्त्वार्थसूत्र आदि प्राचीन सूत्र एवं आगम ग्रन्थों में तत्प्रदोष, निह्नव आदि को आस्रव-कारणों के रूप से प्रतिपादन किया गया है, अतः उक्त परम्परा को सूचित करने या अपनाने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रधान बन्ध-कारणों का यहाँ प्रतिपादन करना उचित समझा हो।

जो कुछ भी हो, पर यहाँ एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बरीय प्राचीन कर्म ग्रन्थों को नवीन कर्मग्रन्थ रूप से रचने वाले श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मविपाक नामक प्रथम कर्मग्रन्थ के अन्त में कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ उक्त गाथाओं को स्थान दिया है, जबकि गर्ग ऋषि प्रणीत कर्मविपाक नामक प्राचीन प्रथम कर्मग्रन्थ में उक्त वर्णन इस स्थल पर नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य

है कि देवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है जबकि आचार्य नेमिचन्द्र विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं।

## दिगम्बर श्वेताम्बर कर्म-साहित्य में समता और विषमता

मोटे तौर पर प्राचीन दिगम्बर और श्वेताम्बर कर्म-साहित्य में कोई विषमता या विभिन्नता नहीं है, किन्तु जब उनके स्थान पर नवीन पंचसंग्रह और नवीन कर्मग्रन्थों की रचना की गयी, तब से कर्मप्रकृतियों के स्वरूप में तथा उनके बन्ध, उदय, सत्त्व आदि सूक्ष्म बातों के वर्णन में कहीं कुछ विभिन्नता दृष्टि-गोचर होने लगी, इस बात का कुछ जिक्र मैंने दिग० पंचसंग्रह की प्रस्तावना में किया है। प्रकृत ग्रन्थ में यतः केवल कर्म की प्रकृतियों के स्वरूप का निरूपण ही प्रधानता से किया गया है, अतः यहाँ पर जिन प्रकृतियों के स्वरूप आदि में कुछ अन्तर है, वह दिखाया जाता है–

**प्रकृति-नाम**

**१. निद्रा– दिग० मान्यता–**जिसके उदय से चलता व्यक्ति खड़ा रह जाये, खड़ा हुआ बैठ जाये और बैठा हुआ गिर जाये। (कर्मप्र० गा० ५०)।

**श्वे० मान्यता–**जिसके उदय से हलकी नींद आये, सोता हुआ जीव जरा-सी आवाज से जग जाये। (प्रा० कर्मवि० गा० २२, न० कर्मवि० गा० ११)

**२. प्रचला–दिग० मान्यता–**जिसके उदय से जीव कुछ जागता और कुछ सोता-सा रहे। (कर्मप्र० गा० ५१)।

**श्वे० मान्यता–**जिसके उदय से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद आ जाये। (प्रा० कर्मवि० गा० २३, न० कर्मवि० गा० ११)।

**३. प्रचला-प्रचला–दिग० मान्यता–**जिसके उदय से मुख से लार बहे और सोते में जीव के हाथ-पाँव आदि चलें। (कर्म प्र० ५०)।

**श्वे० मान्यता–**जिसके उदय से मनुष्य को चलते-फिरते भी नींद आ जाये। (कर्मवि० गा० ११)।

**४. सम्यक्त्वप्रकृति–दिग० मान्यता–**जिसके उदय से सम्यग्दर्शन में चल-मलिनादि दोष लगें।

**श्वे० मान्यता–**जिसके उदय से जीव सर्वज्ञ-प्रणीत तत्त्व श्रद्धान करे। (प्रा० कर्मवि० गा० ३७ न० कर्मवि० गा० १५)।

**५. सम्यग्मिथ्यात्व–दिग० मान्यता–**जिसके उदय से जीव के तत्त्व और अतत्त्व श्रद्धान रूप दोनों प्रकार के भाव हों।

**श्वे० मान्यता–**जिसके उदय से जीव के जिन-धर्म में न राग हो और न द्वेष हो। (प्रा० कर्म० गा० ३८, नं० कर्मवि० गा० १६)।

**६. जुगुप्सा—दिग॰ मान्यता—**जिसके उदय से जीव अपने दोष छिपावे और पर के दोष प्रकट करे। (कर्मप्र॰ टी॰ गा॰ ६२)।

**श्वे॰ मान्यता—**जिसके उदय से जीव के गन्दी वस्तुओं पर घृणा या ग्लानि हो। (प्रा॰ कर्मवि॰ गा॰ ६०, नं॰ कर्मवि॰ गा॰ टी॰ २२)।

**७. गतिनामकर्म—दिग॰ मान्यता—**जिसके उदय से जीव भवान्तर को जाता है। (कर्मप्र॰ ६७)।

**श्वे॰ मान्यता—**जिसके उदय से जीव को मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्याय की प्राप्ति हो। (कर्मवि॰ गा॰ २४ टीका)।

**८. शरीर के संयोगी भेद—दिग॰ मान्यता—**पाँचों शरीरों के संयोगी भेद १५ हैं। (कर्मप्र॰ गा॰ ६९)।

**श्वे॰ मान्यता—**पाँचों शरीर सम्बन्धी बन्धननामकर्म के संयोगी भेद १५ होते हैं। (प्रा॰ कर्मवि॰ गा॰ ९३-१०१ नं॰ प्र. कर्मवि॰ ३७)

**९. परघात—दिग॰ मान्यता—**जिसके उदय से दूसरों के घात करने वाले शरीर के अवयव उत्पन्न हों, दाढ़ों में विष आदि हो। (कर्मप्र॰ गा॰ ९५ टीका)।

**श्वे॰ मान्यता—**जिसके उदय से जीव दूसरे बलवानों के द्वारा भी अजेय हो वह परघातकर्म है। (न॰ कर्मवि॰ गा॰ ४४) नोट-प्राचीन कर्म विपाक में परघात का स्वरूप दिग॰ स्वरूप के समान है। (प्रा॰ कर्मवि॰ गा॰ १२०)।

**१०. आनुपूर्वीनामकर्म—दिग॰ मान्यता—**जिसके उदय से विग्रहगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बना रहे। (कर्मप्र॰ गा॰ ९३)।

**श्वे॰ मान्यता—**जिसके उदय से समश्रेणी से गमन करता हुआ जीव विश्रेणी गमन करके उत्पत्ति स्थान को पहुँचे। (कर्मवि॰ गा॰ २५ टी॰)।

**११. स्थिरनामकर्म—दिग॰ मान्यता—**जिसके उदय से उग्र तपश्चरण करने पर भी परिणाम स्थिर रहें। (राजवा॰ अ॰ ८) जिसके उदय से शरीर के धातु-अधातु अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहें। (कर्मप्र॰ गा॰ ९९ टी॰)। **श्वे॰ मान्यता—**जिस कर्म के उदय से दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर रहें। (प्रा॰ कर्मवि॰ गा॰ १४०, नं॰ कर्मवि॰ गा॰ ५०)।

**१२. अस्थिरनामकर्म—दिग॰ मान्यता—**जिस कर्म के उदय से जरा से उपवासादि करने पर परिणाम चंचल हो जायें। (राजवा॰ अ॰ ८ सू॰····) जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु स्थिर न रहें। (कर्मप्र॰ गा॰ १०० टी॰)।

**श्वे॰ मान्यता—**जिस कर्म के उदय से जीभ, कान आदि अवयव चंचल रहें। (प्रा॰ कर्मवि॰ गा॰

१४१, नं० कर्मवि० टी० ५१)।

**१३. आदेयकर्म—दिग० मान्यता—**जिसके उदय से शरीर में प्रभा हो। (कर्मप्र० गा० ९९ टीका)।

**श्वे० मान्यता—**जिसके उदय से जीव को चेष्टा वचनादि सर्वमान्य हो। (प्रा० कर्मवि० गा० १४६ नं० कर्मवि० गा० ५१ टी०)।

**१४. अनादेयकर्म—दिग० मान्यता—**जिसके उदय से शरीर में प्रभा न हो। (कर्मप्र० गा० १०० टीका)।

**श्वे० मान्यता—**जिसके उदय से जीव को चेष्टा, वचनादि सर्वमान्य न हों। (प्रा० कर्मवि० गा० १४६ नं० कर्मवि० गा० ५१ टी०)।

**१५. शुभनाम—दिग० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों। (कर्मप्र० गा० ९९ टी०)।

**श्वे० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव सुन्दर हों। (प्रा० कर्मवि० गा० १४२ नं० कर्मवि० गा० ५०)।

**१६. अशुभनाम—दिग० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव कुरूप हों। (कर्मप्र० गा० १०० टी०)।

**श्वे० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव असुन्दर हों। (प्रा० कर्मवि० गा० १४३ नं० कर्मवि० गा० ५०)।

**१७. निर्माणनामकर्म—दिग० मान्यता—**इसके दो भेद किये गये हैं-स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। स्थाननिर्माण के उदय से अंगोपांग अपने स्थान पर होते हैं और प्रमाण नामकर्म के उदय से जिस अंग का जितना प्रमाण होना चाहिए उतना होता है। (कर्मप्र० गा० ९९ टीका)।

**श्वे० मान्यता—**श्वे० शास्त्रों में इसके दो भेद नहीं किये गये हैं और इसका कार्य अंगोपांगों को अपने-अपने स्थान में व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है। (कर्मवि० गा० २५ टीका)।

**१८. यशस्कीर्ति—दिग० मान्यता—**जिसके उदय से संसार में यश फैले। (कर्म० गा० ९९ टी०)।

**श्वे० मान्यता—**जिसके उदय से दान-तपादि जनित यश फैले। एक दिशा में फैलने वाली ख्याति को यश और सर्वदिशा में फैलने वाली ख्याति को कीर्ति कहते हैं। (कर्मवि० गा० ५१ टीका)।

**१९. उच्चगोत्र—दिग० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से लोक-पूजित, कुल में जन्म हो। (कर्मप्र० गा० १०१ टी०)।

**श्वे० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से बुद्धि-विहीन, निर्धन एवं कुरूप भी व्यक्ति लोक में पूजा जावे। (प्रा० कर्मवि० गा० १५४)।

**२०. नीचगोत्र—दिग० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से जीव लोक-निंद्य कुल में उत्पन्न हो। (कर्मप्र० गा० १०१ टी०)।

**श्वे० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से बुद्धिमान, धनवान और रूपवान भी व्यक्ति लोक में निन्दा पावे। (प्रा० कर्मवि० १५५)।

**२१. वीर्यान्तरायकर्म—दिग० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से जीव के बल-वीर्य की प्राप्ति न हो, किसी कार्य के करने का उत्साह न हो। (कर्मप्र० गा० १०२ टीका)।

**श्वे० मान्यता—**जिस कर्म के उदय से बलवान्, नीरोग और सामर्थ्यवान् होते हुए भी वीर्य से विहीन हो। (प्रा० कर्मवि० गा० १६६)।

उपर्युक्त विभिन्नता के अतिरिक्त एक और सबसे बड़ी दोनों सम्प्रदायों में कर्मप्रकृतियों के पुण्य-पाप में विभाजन की है। वह यह कि दिगम्बर सम्प्रदाय के सभी कर्म विषयक ग्रन्थों में घातिया कर्मों की सभी प्रकृतियों को पाप प्रकृतियों में परिगणित किया गया है, तब श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मोहनीयकर्म के अन्तर्गत दर्शनमोह की सम्यक्त्व प्रकृति को तथा चारित्रमोह के अन्तर्गत जो नव नोकषाय प्रकृतियाँ हैं उनमें से हास्य, रति और पुरुषवेद इन तीन प्रकृतियों को पुण्य प्रकृतियों में गिना गया है। (देखो तत्त्वार्थ भाष्य अ० ८, सू० २६)।

# अनुक्रमणिका

## प्रकृति समुत्कीर्तन

ॐ

श्रीनेमिचन्द्राचार्यविरचिता

# कर्मप्रकृतिः

**महावीरं प्रणम्यादौ विश्वतत्त्वप्रकाशकम्।**
**भाष्यं हि कर्मकाण्डस्य वक्ष्ये भव्यहितङ्करम्॥१॥**
**विद्यानन्दि[1]सुमल्लयादि[2]भूषलक्ष्मीन्दुसद्गुरून्।**
**वीरेन्दुं ज्ञानभूषं हि वन्दे सुमतिकीर्तिकः[3]॥२॥**

**सिद्धान्त[4]परिज्ञानचक्रवर्तिश्रीनेमिचन्द्रकविः ग्रन्थप्रारम्भे पूर्वं ग्रन्थनिर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थमिष्टदेव-नेमिनाथं[5] नमस्कुर्वन्[6] गाथामाह—**

**पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविहू[7]सणं महावीरं।**
**सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं[8]॥१॥**

**मंगलाचरण और ग्रन्थ-निरूपण-प्रतिज्ञा—**मैं (ग्रन्थकार नेमिचन्द्र) अनन्त ज्ञानादि गुणरूप रत्नों के आभूषण धारण करने वाले, महान् बलशाली और क्षायिक सम्यक्त्वरूप रत्न के स्थान ऐसे नेमिनाथ तीर्थंकर को तथा उक्त विशेषणों से विशिष्ट एवं धर्मतीर्थरूप रथ के चक्र की धुरा को धारण करने वाले ऐसे महावीर तीर्थंकर को नमस्कार करके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक अधिकार को कहता हूँ।

**टीका—**वोच्छं अहं[9] नेमिचन्द्रकविः वक्ष्ये। किम्? प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनम्, प्रकृतीनां ज्ञानावरणादि-मूलोत्तरभेदयुक्तानां विवरणमित्यर्थः। किं कृत्वा ? पूर्वं पणमिय सिरसा णेमिं इति। शिरसा मस्तकेन नेमिं तीर्थङ्करं स्वामिनं प्रणिपत्य। किं लक्षणं नेमिम् ? गुणरयणविहूसणं-गुणाः अहिंसादयः, त एव रत्नानि तान्येव विभूषणानि यस्य स गुणरत्नविभूषणस्तम्। पुनरपि कथम्भूतं

१. ज न्दी। २. ब मल्लादि। ३. ब कीर्त्तिकं। ४. ज सिद्धान्तस्य परिज्ञान। ५. ब नेमिं। ६. ब कुर्वन्नाह। ७. त क विभूसणं। ८.गोम्मटसार कर्मकाण्ड १। ९. ब अहं कविः।

नेमिम्? महावीरम्। विशिष्टां ईं लक्ष्मीं राति ददाति आत्मीयत्वेन गृह्णातीति वा वीरः। महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तम्। भूयोऽपि कथम्भूतम्? सम्मत्तरयणणिलयं। सम्यक्त्वरत्ननिलयं स्वस्वरूपलाभः सम्यक्त्वम्, सप्तप्रकृतिक्षयलक्षणं क्षायिक-सम्यक्त्वं वा। तदेव रत्नं तस्य निलयः स्थानं तं सम्यक्त्वरत्ननिलयम् ॥१॥

**प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनं वक्ष्ये इति नमस्कारगाथायामुक्तम्। तर्हि का प्रकृतिरित्याशङ्कायामाह—**

**पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।**
**कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं[१०]॥२॥**

**प्रकृति शब्द का अर्थ तथा जीव-कर्म के सम्बन्ध की अनादिता—**प्रकृति, शील और स्वभाव ये कर्म के पर्यायवाची नाम हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालिक है। जिस प्रकार कनकोपल (सुवर्ण-पाषाण) में सोने और पाषाणरूप मल का मिलाप अनादिकालिक है और इसीलिए सुवर्ण-पाषाण के अनादिकालिक अस्तित्व के समान जीव और कर्म का अस्तित्व भी स्वयं सिद्ध है।

**भावार्थ—**संसारी जीव का स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और कर्म का स्वभाव रागादिरूप से परिणमाने का है, इस प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकाल से चला आ रहा है, अतएव जीव और कर्म की सत्ता अनादिकाल से जानना चाहिए।

**टीका—**प्रकृतिः शीलं स्वभाव इति प्रकृतेः पर्यायनामानि। स्वभावस्य लक्षणं किमिति चेत् कारणान्तर-निरपेक्षत्वं स्वभावः[११]। यथाऽग्नेरूर्ध्वगमनं स्वभावः, वायोस्तिर्यग्गमनं स्वभावः, जलस्य च निम्नगमनं स्वभावः। स च स्वभावः स्वभाववन्तमपेक्षते[१२]। स स्वभावः कयोः ? जीवाङ्गयोः। अङ्गशब्देन कर्म लभ्यते, जीवकर्मणोरित्यर्थः। तत्र जीवकर्मणोर्मध्ये आत्मनः रागादिपरिणमनं स्वभावः, कर्मणः रागाद्युत्पादकत्वं स्वभावः। स्वभावो हि स्वभाववन्तमन्तरेण न भवति, स्वभाववान् स्वभावं विना न भवतीत्युच्यमाने इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः[१३] स्यात्। तत्परिहारार्थमनयोर्जीवकर्मणोः सम्बन्धोऽनादिर्वर्तत इत्युक्तम्। कयोरिव? कनकोपलयोर्मलमिव। यथा कनकपाषाणे मलसम्बन्धोऽनादिः तथा जीवकर्मणोरनादिसम्बन्धः। तयोर्जीवकर्मणोरस्तित्वं कथं सिद्धम् ? स्वतः सिद्धम्। कथमिति चेत् [१४]अहम्प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनोऽस्तित्वं सिद्धमिति एको दरिद्रः, एकः श्रीमान् इति विचित्रपरिणमनात् कर्मणोऽस्तित्वं सिद्धमिति ॥२॥

---

१०. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २। ११. ब यः कारणान्तरं विना उत्पद्यते स स्वभावः, इत्यधिकः पाठः। १२. ब आत्मानं वाञ्छति, इत्यधिकः पाठः। १३. ब यथा द्रव्यं विना गुणो न भवति, गुणं विना द्रव्यं न भवति, इदमपि अन्योन्याश्रयदूषणम्। १४. अहमिति ज्ञानेन आत्मा ज्ञायते।

**संसारिणां जीवानां कर्म-नोकर्मग्रहणप्रकारगाथामाह—**

**देहोदएण सहिओ[१५] जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।**
**पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं[१६]॥३॥**

**अब ग्रन्थकार बतलाते हैं कि यह जीव कर्म-नोकर्म का ग्रहण किस प्रकार से करता है—**जिस प्रकार अग्नि से सन्तप्त लोहे का गोला प्रतिसमय अपने सर्वांग से जल को खींचता है, उसी प्रकार शरीर नामक नामकर्म के उदय से चंचलता को प्राप्त हुआ यह जीव प्रतिसमय सर्व ओर से कर्म और नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है।

**भावार्थ—**जो पुद्‌गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप से परिणत होती हैं, उन्हें कर्मवर्गणा कहते हैं और जो औदारिकादि शरीररूप से परिणत होती हैं, उन्हें नोकर्मवर्गणा कहते हैं ये दोनों प्रकार की पुद्‌गलवर्गणाएँ सारे संसार में भरी हुई हैं, उन्हें यह जीव अपने मन-वचन-काय की चंचलता से प्रतिसमय ग्रहण करता रहता है; जैसे कि गर्म किया हुआ लोहे का गोला पानी में डालने पर सर्वांग से जल को अपने भीतर खींचता रहता है।

**टीका—**देहा औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणीति नामानः। तत्र पञ्चभेदभिन्नेषु मध्ये कार्मणदेहनामोदय-जनितयोगेन सहितो जीवः ज्ञानावरणाद्यष्टविधं कर्म आहरति आकर्षति। पुनः औदारिकशरीरोदयेन सहितो जीवः औदारिकनोकर्म आहरति, वैक्रियिकदेहोदयेन सहित आत्मा वैक्रियिकनोकर्म आकर्षति, आहारकदेहोदयेन सहितो जीवः आहारकनोकर्म आहरति, तैजसकायोदयेन सहितः प्राणी तैजसनोकर्म आकर्षति। कदा आहरतीति चेत् प्रतिसमयम्। तेषामौदारिकादिशरीराणामुदयकाले समयं समयं प्रति आहरतीत्यर्थः। केन प्रकारेणाऽऽहरति ? सर्वाङ्गं यथा भवति तथा सर्वात्मनः प्रदेशैरित्यर्थः। किमिव ? तप्तायसपिण्डः जलमिव। यथा तप्तो लोहमयपिण्डः सर्वप्रदेशैर्जलमाहरति तथा शरीरनामोदयेन सहितो जीवः प्रतिसमयं कर्म नोकर्म आहरतीत्यर्थः ॥३॥

**कियत्संख्योपेतान् तत्परमाणूनाहरतीति चेत् प्राह—**

**सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।**
**समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं[१७] ॥४॥**

**अब ग्रन्थकार प्रतिसमय ग्रहण की जाने वाली उन वर्गणाओं का प्रमाण बतलाते हैं—**साधारणतः यह संसारी जीव सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणित समयप्रबद्धरूप कर्म-नोकर्मवर्गणाओं को प्रतिसमय ग्रहण कर अपने साथ सम्बद्ध करता है, किन्तु योगों की विशेषता से अर्थात् मन्दता या तीव्रता से हीन या अधिक परिमाण में भी बाँधता है।

---

१५. त सहियो। १६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३। १७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४।

**टीका**—सिद्धेभ्योऽनन्तैकभागं सिद्धराश्यनन्तैकभागं अभव्यसिद्धेभ्यः अनन्तगुणं अभव्यजीवेभ्योऽनन्तगुणं कर्म-नोकर्मद्रव्यं जीवो बध्नाति। कथं (किं) बध्नाति ? समयप्रबद्धम्। समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धस्तम्। कुतो बध्नाति ? योगवशात्, मनोवचनकाययोगवशात्। कीदृशं बध्नाति ? विसदृशमनेकरूपमित्यर्थः। समयप्रबद्धस्य लक्षणमाह—

**परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु हवदि एक्का दु।**
**ताहिं अणंतहिं णियमा समयपबद्धो हवइ एक्को ॥१॥**
**वर्गः-शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता।**
**वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकः स्पर्धकापहैः ॥२॥**

**अथप्रतिसमयभवस्य बन्धस्य प्रमाणं कथयित्वा उदयसत्त्वप्रमाणं कथयति—**

**जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेगसमयबद्धं[१८] वा।**
**गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं[१९]॥५॥**

**इस प्रकार कर्म-परमाणुओं के बन्ध का प्रमाण बतलाकर अब ग्रन्थकार उनके उदय और सत्त्व का प्रमाण बतलाते हैं—**साधारणतः एक समय में एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्म-परमाणु उदय में आकर और अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं अर्थात् झड़ जाते हैं, किन्तु तपश्चरणादि विशेष प्रयोग से अनेक समयप्रबद्ध भी निर्जीर्ण हो जाते हैं अर्थात् झड़ जाते हैं। तथापि कुछ कम डेढ़ गुणहानि आयामगुणित समयप्रबद्ध सत्त्वरूप से अवस्थित रहते हैं।

**विशेषार्थ**—पूर्वोक्त दो गाथाओं में प्रतिसमय बँधने वाले, उदय में आने वाले और सत्ता में रहने वाले कर्म-परमाणुओं का परिमाण बतलाया गया है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—

सामान्य तौर पर यह जीव एक समय में एक समयप्रबद्ध-प्रमाण कर्म-परमाणुओं को बाँधता है और गुणश्रेणी निर्जरा की अविवक्षा से इतने की ही निर्जरा करता है, फिर भी उसकी सत्ता कुछ कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध-प्रमाण पायी जाती है। यहाँ यह शंका स्वभावतः उत्पन्न होती है कि जब प्रत्येक समय में जितना आता है उतना ही चला जाता है तब सत्त्व इतना अधिक कैसे रहता है ? खासकर उस दशा में जबकि आय और व्यय दोनों समान हैं, तब यह कैसे सम्भव है ? क्या जो आता है वही जाता है और इसके अन्तर्गत कुछ और रहस्य हैं ? इनमें से दूसरी शंका का समाधान कर देने पर पहली शंका का समाधान सुगम हो जायेगा। अतः पहले उसी का समाधान किया जाता है।

जीव के भीतर एक समय में सिद्धराशि के अनन्तवें भाग-प्रमाण और अभव्य-राशि से अनन्त-गुणित कर्म परमाणु आते हैं, इसे ही दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जीव अपने आत्म-प्रदेशों

---

१८. आ–समयपबद्धं। १९. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५। २०. श्लोकोऽयं ब प्रतौ नास्ति।

की चंचलता रूप योग-शक्ति से उक्त परिमाण अनन्त परमाणुओं को प्रतिसमय बाँधता है। वे परमाणु आयुकर्म के बन्ध न होने की दशा में शेष सात कर्मों के बन्ध-योग्य होते हैं, क्योंकि आयुकर्म का बन्ध सदा नहीं होता, किन्तु त्रिभाग आदि विशेष अवसर पर ही होता है। अब इन प्रतिसमय बँधने वाले कर्म परमाणुओं में फल देने की जो शक्ति है वह तुरन्त फल नहीं देने लगती, किन्तु कुछ समय के बाद फल देना प्रारम्भ करती है। जितने समय तक फल नहीं देती उसे ही शास्त्र की भाषा में अबाधा-काल कहते हैं। जैसे कोई भी बीज बोये जाने के तुरन्त बाद ही नहीं उग आता, कुछ समय के बाद ही उगता है, यही हाल कर्मों का है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि आने वाले कर्म की एक निश्चित काल-मर्यादा भी आने के साथ ही पड़ जाती है, सो आने वाले कर्म की आत्मा के साथ रहने की काल-मर्यादा का नाम ही स्थितिबन्ध है। उसे और भी सुगम शब्दों में कर्मस्थिति-काल कह सकते हैं। इस कर्मस्थितिकाल में से अबाधाकाल को छोड़कर शेष काल में उक्त बँधे हुए कर्म परमाणु एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार अपना फल देकर झड़ते हुए चले जाते हैं। उनके इस प्रकार झड़ने का क्रम कर्मस्थिति के अन्तिम काल तक चलता है। एक समय में जितने कर्म-परमाणु उस विवक्षित समयप्रबद्ध में से झड़ते हैं, उनका नाम निषेक है। यह व्यवस्था इस प्रकार की है कि अबाधाकाल के बाद पहले समय में कर्म-परमाणु सबसे अधिक निर्जीर्ण होते हैं दूसरे समय में उससे कम। तीसरे समय में उससे कम। इस प्रकार उत्तरोत्तर कम होते हुए अन्तिम समय में सबसे कम कर्म-परमाणु अपना फल देकर झड़ जाते हैं। इस प्रकार समयप्रबद्ध में उत्तरोत्तर कमती-कमती होने का नाम ही शास्त्रीय भाषा में गुणहानि है। उक्त क्रम के भीतर भी कुछ समय तक एक निश्चित परिमाण में परमाणु कम-कम होते हैं। पुनः कुछ समय के बाद उससे आधे कर्म-परमाणु एक निश्चित संख्या को लेकर कम होते हैं। इस प्रकार का यह क्रम बन्ध और उदय में अन्तिम समय तक चला जाता है। निश्चित एक परिमाण से जहाँ तक संख्या घटती जाती है, उसका नाम एक गुणहानि है और उतने समय तक के निश्चित काल का नाम एक गुणहानि आयाम है। उत्तरोत्तर आधे-आधे परिमाण को लिये हुए जितनी गुणहानियाँ होती हैं उन्हें नाना गुणहानि कहते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए एक अंक-राशि को लेते हैं-एक समय में आने वाले कर्म-परमाणुओं की संख्या को ६३०० मान लीजिए, इसी का नाम एक समयप्रबद्ध है। उसकी पूरी स्थिति ५१ समय की कल्पना कीजिए। उसमें से अबाधाकाल ३ समय रखिए और फल देने का काल जिसे कि निषेककाल या निषेक-रचनाकाल कहते हैं वह ४८ समय का मानिए। इसमें उत्तरोत्तर आधे-आधे होकर जिस क्रम में उक्त परमाणु विभक्त होंगे। ऐसी गुणहानियों की संख्या ६ होगी और प्रत्येक गुणहानि का काल ८ समय होगा। इस प्रकार अबाधाकाल के बाद ८×६=४८ समयों में वे बँधे हुए कर्म-परमाणु विभक्त होंगे। इनमें से पहली गुणहानि में ३२००। दूसरी में १६००, तीसरी में ८००, चौथी में ४००, पाँचवी में २०० और छठी में १००। सबका

जोड़ ६३०० हो जायेगा। अतः प्रत्येक गुणहानि का काल ८ समय है, अतः ऊपर बतलाये गये प्रत्येक गुणहानि के ३२००, १६०० आदि परमाणु इन आठ-आठ समयों के भीतर विभक्त होते हैं। उनमें से प्रत्येक समय में प्राप्त होने वाले परमाणुओं की जो विधि आगम में बतलायी गयी है उसके अनुसार पहली गुणहानि के प्रथम समय में ५१२, दूसरे में ४८०, इस प्रकार से ३२-३२ कम होते हुए ८वें समय में २८८ परमाणु प्राप्त होंगे। पुनः दूसरी गुणहानि का प्रारम्भ होगा। पहली की अपेक्षा दूसरी में प्रतिसमय ३२ के आधे अर्थात् १६-१६ परमाणु कम होकर प्राप्त होंगे। तदनुसार पहले समय में २५६, दूसरे समय में २४०। इस प्रकार १६-१६ कम होते हुए ८वें समय में १४४ परमाणु रहेंगे। पुनः तीसरी गुणहानि का प्रारम्भ होगा। उसमें १६ के आधे अर्थात् ८-८ कम होते हुए परमाणु रहेंगे। तदनुसार पहले समय में १२८, दूसरे में १२०, इस प्रकार आठवें समय में ७२ कर्म-परमाणु रहेंगे। पुनः चौथी गुणहानि का प्रारम्भ होगा। इसमें तीसरे से आधे अर्थात् ४-४ कर्म-परमाणु प्रतिसमय कम-कम होकर रहेंगे। तदनुसार पहले समय में ६४, दूसरे में ६०, इस प्रकार कम होते हुए आठवें समय में ३६ कर्म-परमाणु रहेंगे। पुनः पाँचवी गुणहानि प्रारम्भ होगी। इसमें चौथी के ४ की अपेक्षा आधे अर्थात् २-२ कर्म-परमाणु प्रतिसमय कम होंगे। तदनुसार पहले समय में ३२, दूसरे में ३०, इस प्रकार से आठवें समय में १८ कर्म-परमाणु रहेंगे। पुनः छठी गुणहानि प्रारम्भ होगी। इसमें पाँचवीं के २ की अपेक्षा आधे अर्थात् १-१ ही कम होकर प्रतिसमय परमाणु रहेंगे। तदनुसार पहले समय में १६, दूसरे में १५ इस प्रकार एक-एक कम होकर आठवें समय में ९ कर्म-परमाणु रहेंगे।

इस प्रकार बन्ध और उदय दोनों की अपेक्षा ४८ समयों में प्राप्त होने वाले परमाणुओं की अंक-संदृष्टि इस प्रकार होगी—

| समय | प्रथम गुणहानि | द्वितीय गुणहानि | तृतीय गुणहानि | चतुर्थ गुणहानि | पंचम गुणहानि | षष्ठ गुणहानि |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | ५१२ | २५६ | १२८ | ६४ | ३२ | १६ |
| २ | ४८० | २४० | १२० | ६० | ३० | १५ |
| ३ | ४४८ | २२४ | ११२ | ५६ | २८ | १४ |
| ४ | ४१६ | २०८ | १०४ | ५२ | २६ | १३ |
| ५ | ३८४ | १९२ | ९६ | ४८ | २४ | १२ |
| ६ | ३५२ | १७६ | ८८ | ४४ | २२ | ११ |
| ७ | ३२० | १६० | ८० | ४० | २० | १० |
| ८ | २८८ | १४४ | ७२ | ३६ | १८ | ९ |
| सर्व धन | ३२०० | १६०० | ८०० | ४०० | २०० | १०० |

= ६३००

यह तो हुआ विवक्षित एक समय में बँधने और उदय में आने वाले कर्म-परमाणुओं की रचना का क्रम। इसे ही शास्त्रीय भाषा में निषेक-रचना कहते हैं। इसी क्रम के अनुसार अनादि काल से प्रति समय प्रत्येक जीव के कर्म-परमाणु बँधते और उदय होते चले आ रहे हैं। अतः हम जब भी जिस किसी समय बँधने और उदय में आने वाले परमाणुओं को देखेंगे तो वे हमेशा ही एक समयप्रबद्ध-प्रमाण बँधते और उदय होते हुए दिखायी देंगे। इसका कारण यह है कि पहले जैसे हम एक विवक्षित वर्तमान समय में आने वाले कर्म-परमाणुओं की निषेक-रचना बतला आये हैं उसी प्रकार की निषेक-रचना उससे एक समय पूर्व बँधे हुए परमाणुओं की भी हुई है, दो समय पूर्व बँधे हुए परमाणुओं की भी हुई है, तीन समय पूर्व बँधे हुए कर्म-परमाणुओं की भी हुई है। इस प्रकार हम पूर्वोक्त काल्पनिक संदृष्टि के अनुसार ४८ समय पूर्व तक की रचना को सामने रखकर विचार करें तो दिखाई देगा कि विवक्षित वर्तमान समय में ४८ समय पूर्व बँधे हुए समय-प्रबद्ध के अन्तिम निषेक के ९ परमाणु इस समय निर्जीर्ण हो रहे हैं। उसके बाद अर्थात् ४७ समय पूर्व बँधे हुए समय-प्रबद्ध के उपान्त्य निषेक के १० परमाणु इस समय निर्जीर्ण हो रहे हैं। ४६ समय पूर्व के बँधे हुए में से ११ परमाणु, ४५ समय पूर्व में बँधे हुए में से १२ परमाणु निर्जीर्ण हो रहे हैं। इस प्रकार से आगे-आगे बढ़ते जाने पर आप देखेंगे कि ४८ समयों के भीतर बँधे हुए कर्म-परमाणुओं के निर्जीर्ण होने का क्रम इस प्रकार है–

यहाँ ४८ समय का कथन अबाधा-काल की विवक्षा न करके किया गया है। यहाँ दिशा-बोध के लिए यह संक्षिप्त त्रिकोण-रचना का संकेत किया जा रहा है। पूरी त्रिकोण-रचना परिशिष्ट में देखिए।

त्रिकोण रचना अगले पृष्ठ में देखिए।

| | 1 | 5 | 10 | 15 | 20 | 25 | 30 | 35 | 40 | 48 |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 48 | 9 | 9 | 9 | 9 | 9 | 9 | 9 | 9 | 9 | 9 |
| 47 | 10 | 10 | . | . | . | . | . | . | . | 10 |
| 46 | 11 | 11 | . | . | . | . | . | . | . | 11 |
| 45 | 12 | 12 | . | . | . | . | . | . | . | 12 |
| 44 | 13 | 13 | . | . | . | . | . | . | . | 13 |
| 43 | 14 | 14 | . | . | . | . | . | . | . | 14 |
| 42 | 15 | 15 | . | . | . | . | . | . | . | 15 |
| 41 | 16 | 16 | . | . | . | . | . | . | . | 16 |
| . | . | . | . | . | . | . | . | . | . | . |
| . | . | . | . | . | . | . | . | . | . | . |
| 8 | 288 | . | . | . | . | . | . | . | . | 288 |
| 7 | 320 | . | . | . | . | . | . | . | . | 320 |
| 6 | 352 | . | . | . | . | . | . | . | . | 352 |
| 5 | 384 | . | . | . | . | . | . | . | . | 384 |
| 4 | 416 | . | . | . | . | . | . | . | . | 416 |
| 3 | 448 | . | . | . | . | . | . | . | . | 448 |
| 2 | 480 | . | . | . | . | . | . | . | . | 480 |
| 1 | 512 | 512 | 512 | 512 | 512 | 512 | 512 | 512 | 512 | 512 |

उक्त त्रिकोण-रचना में स्पष्ट रूप से दिखाई देगा कि प्रत्येक समय में जिस परिमाण में काल्पनिक रूप से ६३०० परमाणु का पिण्ड जैसे एक समय में आ रहा है उसी प्रकार विभिन्न समयों में बँधे हुए समय-प्रबद्धों के जो-जो निषेक प्रतिसमय उदय में आकर निर्जीर्ण हो रहे हैं उन सबका परिमाण भी एक समय-प्रबद्ध प्रमाण अर्थात् ६३०० ही है। यह हुई एक समय में बँधने और उदय में आने वाले द्रव्यों के परिमाण की बात।

अब इसी त्रिकोण-रचना में देखिए कि जहाँ सीधी पंक्ति में प्रतिसमय बँधने वाले समय-प्रबद्ध की निषेक-रचना दृष्टिगोचर हो रही है, वहाँ ऊपर से नीचे की पंक्ति में उदयागत निषेकों के समय-प्रबद्ध प्रमाण परमाणु भी निर्जीर्ण होते हुए दिखाई दे रहे हैं। अब हम किसी भी विवक्षित समय में

काल्पनिक संदृष्टि के अनुसार ४८वें समय में सत्त्व का परिमाण यदि जानना चाहते हैं तो वहाँ उसके नीचे से खींची गयी पंक्ति नम्बर २ पर दृष्टिपात कीजिए। इसके नीचे का सर्वद्रव्य समुच्चय रूप से सदा ही सत्ता में मिलेगा। इस द्रव्य का प्रमाण कितना है, इसी का उत्तर गाथा के उत्तरार्ध में दिया गया है कि वह कुछ कम डेढ़ गुणहानि आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध प्रमाण है।

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं एक गुणहानि का आयाम ८ समय है उसके आधे ४ होते हैं, दोनों का जोड़ १२ होता है। उससे समय-प्रबद्ध का प्रमाण जो ६३०० परमाणु है उसमें गुणा कर देने पर ६३००×१२=७५६०० प्रमाण संख्या होती है और उक्त त्रिकोण-रचना में विविध समय-प्रबद्धों के जो परमाणु सत्ता में पड़े हुए हैं उनका जोड़ ७१३०४ होता है। इसलिए सत्ता के द्रव्य को कुछ कम डेढ़ गुणहानि-आयाम से गुणित समय-प्रबद्ध प्रमाण कहा है।

इस प्रकार उक्त दोनों गाथाओं में जो यह कहा गया है कि जीव के प्रतिसमय एक समय-प्रबद्ध बँधता है, एक उदय में आता है और कुछ कम डेढ़ गुणहानि आयाम से गुणित समयप्रबद्ध-प्रमाण द्रव्य सत्ता में रहता है वह सर्वथा युक्ति-युक्त ही कहा गया है।

यहाँ इतनी विशेषता और समझनी चाहिए कि जब यह संसारी जीव सम्यग्दर्शनादि विशेष गुणों को प्राप्त करता है, तब उसके पूर्वोक्त क्रम को उल्लंघन कर गुणश्रेणी रचना आदि के द्वारा सम्यक्त्वोत्पत्ति आदि ग्यारह स्थानों में प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी रूप से अनेक समय-प्रबद्धों की भी निर्जरा करता है जिसका निर्देश गाथा में ''पओगदो णेगसमयबद्धं वा'' इस वाक्य के द्वारा किया गया है।

**टीका—**अस्य जीवस्य प्रतिसमयमेकः कार्मणसमयप्रबद्धः जीर्यते हीनो भवति। पुन एतस्याऽऽत्मनः प्रतिसमयं एकः कार्मणसमयप्रबद्धः उदेति उदयं प्राप्नोति। वा अथवा सातिशयक्रियासहितस्य जीवस्य प्रयोगतः सम्यक्त्वादिप्रयोगलक्षणहेतुना एकादशनिर्जरा [स्थान] विवक्षया अनेकसमयप्रबद्धो जीर्यते। द्व्यर्धगुणहानि-मात्रसमयप्रबद्धः प्रतिसमयं सत्त्वं भवति ॥५॥

**कर्मणः सामान्यादिभेदप्रभेदान् गाथाद्वयेनाऽऽह—**

**कम्मत्तणेण इक्कं[२१] दव्वं भावो त्ति होइ दुविहं खु।**
**पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती[२२] भावकम्मं[२३] तु[२४]॥६॥**

**अब दो गाथाओं के द्वारा कर्म के भेद-प्रभेदों का निरूपण करते हैं—**अभेद या सामान्य की अपेक्षा कर्म एक प्रकार का है। भेद की अपेक्षा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उनमें ज्ञानावरणादि रूप पुद्गलपरमाणुओं के पिण्ड को द्रव्यकर्म कहते हैं और उस द्रव्यकर्म रूप पिण्ड में

---

२१. आ इक्कं। २२. पिण्डगतशक्तिः कार्ये कारणोपचारात्, शक्तिजनिताज्ञानादिर्वा भावकर्म (गोम्मटसार कर्मकाण्ड टी०)। २३. त—कम्मो त्ति। २४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ६।

फल देने की जो शक्ति है, उसे भावकर्म कहते हैं अथवा उस शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को भी भावकर्म कहते हैं।

**टीका**—पूर्वोक्तं कर्म सामान्यकर्मत्वेन एकं भवति। तु पुनः तत् कर्म द्विविधं भवति—द्रव्यकर्म-भावकर्म-भेदात्। तत्र द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डो भवति। तस्य पुद्गलपिण्डस्य या शक्तिः रागद्वेषाद्युत्पादिका रागद्वेष-परिणामो वा भावकर्म भवति ॥६॥

**तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।**
**ताणं पुण[२५] घादि त्ति अघादि त्ति य होंति सण्णाओ[२६] ॥७॥**

वह कर्म मूल प्रकृतियों की अपेक्षा आठ प्रकार का भी है अथवा उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा एक सौ अड़तालीस प्रकार का भी है अथवा बन्ध के कारणभूत कषायाध्यवसायस्थानों की अपेक्षा असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं, उतने भेदरूप भी हैं। कर्मों के जो आठ भेद हैं उनमें से चार कर्मों की घातिसंज्ञा है और चार कर्मों की अघातिसंज्ञा है।

**टीका**—पुनः तत्सामान्यं कर्म ज्ञानावरणादिभेदेन अष्टविधं भवति। वा अथवा तत्कर्म प्रकृतिभेदेन अष्टचत्वारिंशच्छतविधं (१४८) भवति। वा अथवा तत्कर्म असंख्यातलोकप्रमाणं भवति। वा शब्दोऽत्र समुच्चयार्थः। तेषां चाष्टविधादीनां पृथक्-पृथक् घातिरिति अघातिरिति च द्वे संज्ञे भवतः ॥७॥

प्रथमोद्दिष्टाष्टविधं कर्म तद्घात्यघातिभेदौ च गाथाद्वयेन सूरिराह—

**णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।**
**आउग णामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ[२७] ॥८॥**

**अब कर्मों के आठ भेदों का निरूपण करते हैं**—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्मों के आठ मूलभेद हैं।

**विशेषार्थ**—आत्मा के ज्ञानगुण के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं। दर्शनगुण के आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। सुख-दुःख का वेदन कराने वाले कर्म को वेदनीय कहते हैं। सांसारिक वस्तुओं में मोहित करने वाले कर्म को मोहनीय कहते हैं। नरकादि गतियों में रोककर रखने वाले कर्म को आयु कहते हैं। नाना प्रकार के शरीरादिक के निर्माण करने वाले कर्म को नाम कहते हैं। ऊँच और नीच कुलों में उत्पन्न करने वाले कर्म को गोत्र कहते हैं तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करने वाले कर्म को अन्तराय कहते हैं।

**टीका**—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयं आयुः नाम गोत्रं अन्तरायश्चेति मूलप्रकृतयोऽष्टौ ॥८॥

---

२५. त पुद। ब पुध। २६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ७। २७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८। भाव सं० ३३०।

**आवरण मोह विग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो।**
**आउग णामं गोदं वेयणियं तह अघादि त्ति[२८] ॥९॥**

**अब उक्त कर्मों में घाति-अघाति का विभाजन करते हैं—**ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं, क्योंकि ये जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म है; क्योंकि वे जीव के ज्ञानादि गुणों के घात करने में असमर्थ हैं।

**टीका—**ज्ञानावरणं दर्शनावरणं मोहनीयं अन्तरायश्चेति चत्वारि कर्माणि घातिनामानि स्युः। कुतः? जीवानां ज्ञानादिगुणघातकत्वात्। आयुष्यं नाम गोत्रं वेदनीयं चेति चत्वारि कर्माणि तथा न नैव, जीवगुणघातकप्रकारेण अप्रवृत्तत्वात् अघातिसंज्ञानि भवन्ति श्रीगोम्मटसारे (?) सर्वघातिदेशघातिप्रकृतिसंज्ञा कथ्यते—

''केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसयं। ता सव्वघाइसण्णा मिच्छत्तमेयवीसदिमं ॥१॥''

केवलज्ञानावरणं निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिः केवलदर्शनावरणं अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानचतुष्कं मोहद्वादशकं मिश्रसम्यक्त्वं मिथ्यात्वं एवं प्रकृतयः सर्वघातिसंज्ञाः भवन्ति। देशघातिप्रकृतयः २६। ''णाणावरणचउक्कं दंसणतिगमंतराइगं पंच। ता होंति देसघादी सम्मं संजलण णोकसाया य॥२॥'' मत्याद्यावरणचतुष्कं चक्षुरादित्रिकं दानादिपञ्चकं सम्यक्त्वप्रकृतिः संज्वलनचतुष्कं नव नोकषाया एवं २६ देशघातिप्रकृतयः। अन्याः प्रकृतयः १०१ अघातिसंज्ञिकाः। सर्वघातयः २१ देशघातयः २६ अघातिप्रकृतयः १०१ एवं सर्वाः १४८ प्रकृतयः ॥९॥

**तान् जीवगुणानाह—**

**केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खइयसम्मं च।**
**खइयगुणे मदियादी खओवसमिए य घादी दु[२९]॥१०॥**

**अब ग्रन्थकार घातियाकर्मों से घात किये जाने वाले गुणों को बतलाते हैं—**केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य और क्षायिकसम्यक्त्व तथा 'च' शब्द से सूचित क्षायिकचारित्र और क्षायिकदानादिरूप क्षायिक गुणों को; तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणों को भी ये ज्ञानावरणादि कर्म घात करते हैं, इसलिए उन्हें घातिया कर्म कहते हैं।

**विशेषार्थ—**क्षायिक भाव के नौ भेद हैं—क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र तथा क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। क्षायोपशमिक भावों के अठारह भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान; चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन; दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य; ये पाँच लब्धियाँ;

२८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ९। २९. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १०।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम। इन दोनों प्रकार के भावों को घातने के कारण ज्ञानावरणादि कर्मों को घातिया कहते हैं।

**टीका**—केवलज्ञानं केवलदर्शनं अनन्तवीर्यं क्षायिकसम्यक्त्वं चशब्दात् क्षायिकचारित्रं द्वितीय च शब्दात् क्षायिकदान-लाभभोगोपभोगाश्च एतान् नव क्षायिकगुणान्; तु पुनः मतिश्रुतावधि-मनःपर्ययाख्यान् क्षायोपशमिकगुणान् च घ्नन्तीति घातीनि कर्माणि भवन्ति ॥१०॥

**आयुःकर्मकार्यमाह—**

**कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि।**
**जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं[30] ॥११॥**

**अब अघातिया कर्मों में से पहले आयुकर्म का कार्य बतलाते हैं**—कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए मोह, अज्ञान, असंयम और मिथ्यात्व भाव से वृद्धि को प्राप्त इस अनादिकालीन संसार में जो मनुष्य को हलि या खोडे के समान जीव को रोक रखे, उसे आयुकर्म कहते हैं।

**भावार्थ**—जैसे किसी मनुष्य के पाँव को यदि किसी मोटी लकड़ी के छेद में डालकर उसमें कील ठोक दी जाये, तो वह मनुष्य उस स्थान से इधर-उधर नहीं जा सकता है, उसी प्रकार आयुकर्म भी इस चतुर्गतिरूप संसार में जीव को रोके रखता है, उसे अपने अभीष्ट स्थान पर नहीं जाने देता। गाथा के पूर्वार्ध द्वारा ग्रन्थकार ने यह भाव प्रकट किया है कि यद्यपि संसार की वृद्धि तो मिथ्यात्व आदि के कारण होती है पर संसार में जीव का अवस्थान आयुकर्म के कारण होता है।

**टीका**—कर्मकृते मोहवर्धिते अनादियुक्ते एवम्भूते संसारे चतुर्गतिषु आयुःकर्मोदयः जीवस्यावस्थानं स्थितिं करोति। क इव ? हलिरिव। छिद्रितकाष्ठविशेषो हडिः। यथा हडिः नरस्यावस्थितिं करोति तथा आयुष्कर्म जीवस्य संसारे स्थितिकारकं भवतीत्यर्थः ॥११॥

**नामकर्मकार्यमाह—**

**गदि आदि जीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेयं च।**
**गदि-अंतरपरिणमणं करेदि णामं अणेयविहं[31] ॥१२॥**

**अब नामकर्म का कार्य बतलाते हैं**—नामकर्म अनेक प्रकार का है। वह गति, जाति आदि जीवों के भेदों को, शरीर, अंगोपांग आदि पुद्गलों के भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गति रूप परिणमन को करता है।

**विशेषार्थ**—नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं, उनमें कितनी ही प्रकृतियाँ जीव-विपाकी हैं, कितनी ही पुद्गलविपाकी हैं और कितनी ही क्षेत्रविपाकी हैं, सो इन सबका वर्णन स्वयं ग्रन्थकार आगे करेंगे। यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि जिन गति, जाति आदि प्रकृतियों का फल जीव में होता

३०. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ११। ३१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १२।

है, उन्हें जीवविपाकी कहते हैं। जिनका फल शरीर, संस्थान आदि के रूप से पुद्‌गल में होता है, उन्हें पुद्‌गलविपाकी कहते हैं और जिनका फल विग्रहगतिरूप क्षेत्र-विशेष में ही होता है ऐसी प्रकृतियों को क्षेत्रविपाकी कहते हैं। जिन प्रकृतियों का फल नारक आदि भव-विशेष में ही होता है, उन्हें भवविपाकी कहते हैं। सो यथार्थतः आयुकर्म की चारों प्रकृतियों को ही भवविपाकी माना है, परन्तु यतः गतिनामा नामकर्म आयुकर्म का अविनाभावी है, अतः उपचार से उसे भी भवविपाकी कहा जा सकता है, ऐसी सूचना गाथा-पठित 'च' शब्द से मिलती है, ऐसा टीकाकार सूचित करते हैं।

**टीका**—गत्याद्यनेकविधं[३२] नामकर्म कर्तृभूतं सत्[३३] नारकादिजीवपर्यायभेदं औदारिकादिशरीर-पुद्‌गलभेदं गत्यन्तरपरिणमनं च करोति, तेन कारणेन तन्नामकर्म जीव-पुद्‌गल-क्षेत्रविपाकि भवति। चशब्दाद् भवविपाकि च भवति। तत्कथमित्याह-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मोहनीयाष्टाविंशतिकं अन्तराय-पञ्चकं वेदनीयद्वयं गोत्रद्विकं प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयं नरकादिगतिचतुष्कं एकेन्द्रियादि-जातिपञ्चकं[३४] उच्छ्वासं १ तीर्थकरत्वं स्थावरत्रसे २ यशोऽयशसी २ बादरसूक्ष्मे २ पर्याप्तापर्याप्ते २ सुस्वरदुःस्वरे २ आदेयानादेये २ सुभगदुर्भगे २ एवमेकीकृताः अष्टसप्ततिः प्रकृतयो जीवविपाकिन्यो भवन्ति। औदारिकादिशरीर ५ बन्धन ५ संघात ५ संस्थान ६ अङ्गोपाङ्ग ३ संहनन ६ रस ५ गन्ध २ वर्ण ५ स्पर्श ८ अगुरुलघु १ उपघात १ परघात १ आतप १ उद्योत १ निर्माण १ प्रत्येकसाधारण २ स्थिरास्थिर २ शुभाशुभ २ एवं समुच्चयीकृताः द्वाषष्टिः प्रकृतयः ६२ पुद्‌गलविपाकिन्यो भवन्ति। नरकतिर्यङ्-मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यश्चतस्रः ४ क्षेत्रविपाकिन्यो भवन्ति। नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवायुष्कं च ४ भवविपाकिन्यो भवन्ति ॥१२॥

**गोत्रकर्मकार्यमाह—**

**संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।**
**उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं[३५] ॥१३॥**

**अब गोत्रकर्म का स्वरूप बतलाते हैं**—सन्तान-क्रम से अर्थात् कुल की परम्परा से चले आये आचरण की गोत्र संज्ञा है। उसके दो भेद हैं; उनमें से कुल-परम्परागत उच्च (उत्तम) आचरण को उच्चगोत्र कहते हैं और निन्द्य आचरण को नीच गोत्र कहते हैं।

**टीका**—सन्तानक्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा स्यात्। तच्च गोत्रं द्विविधम्-उच्चैर्नीचैर्भेदात्। तत्रोच्चाचरणमुच्चैर्गोत्रम्, नीचाचरणं नीचैर्गोत्रं च भवति ॥१३॥

**वेदनीयकर्मकार्यमाह—**

**अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं।**
**दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेयणीयं[३६] ॥१४॥**

---

३२. ब प्रकारं। ३३. अ सतं तत्। ३४. ब एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिपंचकं। ३५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३। ३६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४।

**अब वेदनीयकर्म का स्वरूप बतलाते हैं**—जो कर्म इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन अर्थात् वेदन करावे, उसे वेदनीय कहते हैं। उसके दो भेद हैं, उनमें से जो सुखरूप इन्द्रिय-विषयों का अनुभव करावे, उसे सातावेदनीय कहते हैं और जो दुःख-स्वरूप इन्द्रिय-विषयों का अनुभव करावे, उसे असातावेदनीय कहते हैं।

**टीका**—इन्द्रियाणामनुभवनं इन्द्रियविषयसुखानुभूतिः वेदनीयम्। तच्च सुखस्वरूपं सातं वेदनीयं भवति। दुःखस्वरूपमसातावेदनीयं भवति। ते द्वे सातासाते वेदनीये वेदयति ज्ञापयतीति वेदनीयम् ॥१४॥

**अथ सामान्यतः जीवानां[३७]दर्शनादिगुणस्वरूपमाह—**

**अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहिं।**
**इदि दंसणं च णाणं सम्मत्तं हुंति जीवगुणा[३८] ॥१५॥**

**अब आवरण का क्रम बतलाने के लिए पहले जीव के कुछ प्रधान गुणों का निर्देश करते हैं**—संसारी जीव पहले पदार्थ को देखकर जानता है, पीछे सात भंगवाली नयों से निश्चय कर उनका श्रद्धान करता है। इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व ये तीन जीव के गुण सिद्ध होते हैं अर्थात् देखना दर्शनगुण है, जानना ज्ञानगुण है और श्रद्धान करना सम्यक्त्वगुण है।

**टीका**—अयं संसारी जीवः अर्थं पदार्थं दृष्ट्वा जानाति, तमेवार्थं पुनः सप्तभङ्गीभिर्निश्चित्य पश्चात् श्रद्धधाति रोचते इत्यनेन प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं सम्यक्त्वं च जीवगुणा भवन्ति ॥१५॥

**सप्तभङ्गानां नामानि दर्शयन्नाह—**

**सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो वि तत्तिदयं।**
**दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि[३९] ॥१६॥**

**अब सात भंग कैसे संभव हैं, इस बात को बतलाते हैं**—वस्तु स्यात् अस्तिरूप है, स्यात् नास्तिरूप है, स्यात् उभयरूप है और स्यात् अवक्तव्यरूप है। पुनः स्यात् अस्ति अवक्तव्यरूप है, स्यात् नास्ति अवक्तव्यरूप है और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यरूप है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के प्रति उपर्युक्त सात भंग आदेश अर्थात् विवक्षा के वश से संभव हैं।

**विशेषार्थ**—स्यात् शब्द, कथंचित् विवक्षाविशेष का वाचक है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, इसलिए वह स्यात्-अस्तिरूप कहा जाता है। किन्तु वही पदार्थ अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नहीं पाया जाता है, इसलिए वह स्यात् नास्तिरूप कहलाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा अस्तिरूप है और पर्याय की अपेक्षा नास्तिरूप है। जब पदार्थ के इन अस्ति-नास्ति रूपों की क्रमशः कथन करने की विवक्षा होती

---

३७. ब जीवगुणस्वरूपमाह। ३८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १५। ३९. पंचास्तिकाय १४।

है तब वह स्यात् उभयरूप कहलाता है और जब इन दोनों ही धर्मों के एक साथ कथन करने की विवक्षा होती है, तब वह स्यात् अवक्तव्यरूप सिद्ध होता है, इसका कारण यह है कि किसी भी वस्तु के परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक साथ कहना असंभव है। इस प्रकार ये चार भंग सिद्ध हो जाते हैं। पुनः वक्ता जब वस्तु के अस्तिरूप के साथ अवक्तव्यरूप धर्म के कहने की विवक्षा करता है, तब स्यात् अस्ति-अवक्तव्यरूप पाँचवाँ भंग बन जाता है। जब वस्तु के नास्तिरूप के साथ अवक्तव्यरूप धर्म के कहने की विवक्षा करता है, तब स्यात् नास्ति-अवक्तव्यरूप छठा भंग बन जाता है और जब अस्ति और नास्तिरूप दोनों धर्मों के क्रमशः कथन करने के साथ युगपत् कथन की विवक्षा करता है, तब स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप सातवाँ भंग बनता है। गाथाकार ने प्रारंभ के चार भंगों का स्पष्टरूप से नाम-निर्देश करके शेष तीन भंगों के जानने की सूचना ''पुणोवि तत्तिदयं'' इस पद के द्वारा कर दी है। ये सात भंग जैनदर्शन के मूल या प्राण हैं, इसलिए प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप-वर्णन इसी सप्तभंगरूप वाणी के द्वारा किया जाता है, यही संकेत ग्रन्थकार ने प्रस्तुत गाथा के द्वारा किया है।

**टीका**—खु स्फुटं द्रव्यं सप्तभङ्गं सम्भवति। केन ? आदेशवशेन पूर्वसूरिकथनवशेन। ते सप्त भङ्गाः के? इति चेदुच्यन्ते—'सिय अत्थि' इत्यादि। स्याच्छब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—[40]स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्यम्। पुनरपि तृतीयं स्यादस्त्यवक्तव्यम् स्यान्नास्त्यवक्तव्यम् स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्। तद्यथा—

**एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः।**
**सदादिकल्पना या च सप्तभङ्गीति सा मता ॥३॥**

**टीका**—स्यादस्ति—स्यात्कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तीत्यर्थः। [स्यान्नास्ति-स्यात्कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्तीत्यर्थः] स्यादस्तिनास्ति-स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति-नास्तीत्यर्थः। स्यादवक्तव्यम्-स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् 'क्रमप्रवर्त्तिनी

---

४०.ब प्रतौ इतोऽग्रे टीकापाठो भिन्नप्रकारः। तद्यथा—स्यात् कथञ्चित् स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति १। स्यात् कथञ्चित् परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति २। स्यात् कथञ्चित् स्व-परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तिनास्ति ३। स्यात् कथञ्चित् युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया वक्तुमशक्यत्वाद्द्रव्यमवक्तव्यम् ४। स्यात् कथञ्चित् स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च वक्तुमशक्यत्वाद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यम् ५। स्यात् कथञ्चित् परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च वक्तुमशक्यत्वाद् द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यम् ६। स्यात् कथञ्चित्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च वक्तुम-शक्यत्वाद् द्रव्यमस्तिनास्त्यवक्तव्यम् ७।

भारती' ति वचनात् युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमवक्तव्यमित्यर्थः। स्यादस्त्यवक्तव्यम्-स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यमस्त्य-वक्तव्यमित्यर्थः। स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्-स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया च द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः। स्यादस्तिनास्त्य-वक्तव्यम्-स्यात् कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्वपरद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया च द्रव्यमस्तिनास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः। × एकमपि द्रव्यं कथं सप्तभङ्गात्मकं भवतीति प्रश्ने परिहारमाह-यथैकोऽपि देवदत्तो गौण-मुख्यविवक्षावशेन बहुप्रकारो भवति। कथमिति चेत् पुत्रापेक्षया पिता भण्यते, सोऽपि स्वकीयपित्रपेक्षया पुत्रो भण्यते, मातुलापेक्षया भागिनेयो भण्यते, स एव भागिनेयापेक्षया मातुलो भण्यते, भार्यापेक्षया भर्त्ता भण्यते, भगिन्यपेक्षया भ्राता भण्यते, विपक्षापेक्षया शत्रुर्भण्यते, इष्टापेक्षया मित्रं भण्यते इत्यादि। तथैकमपि द्रव्यं गौणमुख्यविवक्षावशेन सप्तभङ्गात्मकं भवतीति नास्ति दोष इति[४१]॥१६॥

**अथ तदावरणानां पाठक्रमं प्रतीतिपूर्वकमाह—**

**अब्भरिहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो दु दंसणं होदि।**
**सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे[४२] ॥१७॥**

**ग्रन्थकार ने 'अत्थं देक्खिय जाणदि' इस गाथा में जिस क्रम से जीव के गुणों का निर्देश किया है, तदनुसार पहले दर्शनावरण का और पीछे ज्ञानावरणकर्म का निर्देश करना चाहिए था, परन्तु वैसा न करके पहले ज्ञानावरणकर्म का जो निर्देश आगम-परम्परा में पाया जाता है, सो क्यों ? इस शंका का समाधान ग्रन्थकार युक्तिपूर्वक करते हैं—**जीव के सर्व गुणों में ज्ञानगुण प्रधान है, इसलिए उसके आवरण करने वाले कर्म का सबसे पहले नाम-निर्देश किया गया है। उसके पश्चात् दर्शन और सम्यक्त्वगुण के आवरण करने या घातने वाले कर्मों का निर्देश किया गया है। वीर्यगुण शक्तिरूप है और यह शक्तिरूप गुण जीव और अजीव दोनों में पाया जाता है, इसलिए उसके घात करने वाले अन्तराय कर्म का सब कर्मों के अन्त में निर्देश किया गया है।

**टीका—**अभ्यर्हितात् पूज्यात् पूर्वं ज्ञानं भणितम्, [४३]यच्चार्च्चितं द्वयोः, इति सूत्रसद्भावात्। ततो हि दर्शनं भवति। अतः सम्यक्त्वं भवति। वीर्यं तु जीवाजीवेषु प्राप्तमिति हेतोः चरिमे अन्ते पठितम् ॥१७॥

**घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।**
**णामतियणिमित्तादो विग्घं पठिदं[४४] अघादिचरिमम्हि[४५]॥१८॥**

---

४१. सन्दर्भोऽयं पञ्चास्तिकायजयसेनीयतात्पर्यवृत्या सह शब्दशः समानः। ब प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति। ४२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १६। ४३. ब यच्चावितं। ४४. ब पडिदं। ४५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १७।

**यहाँ पर पुनः शंका उत्पन्न होती है कि अन्तराय तो घातियाकर्म है उसका अघातिया कर्मों के अन्त में क्यों नाम-निर्देश किया गया है ? ग्रन्थकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—**यद्यपि अन्तराय घातिया कर्म है तथापि अघातिया कर्मों के समान वह जीव के वीर्यगुण को सम्पूर्ण रूप से घात करने में समर्थ नहीं तथा नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों के निमित्त से ही वह अपना कार्य करता है, इसलिए उसे अघातिया कर्मों के अन्त में कहा गया है।

**टीका—**अन्तरायकर्म घात्यपि अघातिवद् ज्ञातव्यम्। कुतः? निःशेषजीवगुणघातने अशक्यत्वात्, नामगोत्रवेदनीयनिमित्तत्वाच्च। नामगोत्रवेदनीयान्येव निमित्तं कारणं यस्यान्तरायस्य तत्तथोक्तम्। तस्मादघातिनां चरमे प्रान्ते पठितं पतितं वा। आयुर्नामगोत्रसंज्ञाघातिनां प्रान्ते कथितम्। अथवा घातिनां चरमे पठितम् ॥१८॥

**आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु।**
**भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु[४६] ॥१९॥**

**अब ग्रन्थकार शेष कर्मों के क्रम की सार्थकता बतलाते हैं—**आयुकर्म के बल से जीव का विवक्षित भव या चतुर्गतिरूप संसार में अवस्थान होता है, इसलिए आयुकर्म के निर्देश के पश्चात् नामकर्म का निर्देश किया गया है तथा शरीर रूप भव का आश्रय लेकर ही नीच और ऊँचपने का व्यवहार होता है, इसलिए नामकर्म के पश्चात् गोत्रकर्म का निर्देश किया गया है।

**टीका—**तु पुनः आयुर्बलाधानेना[४७]वस्थितिः। कस्य ? नामकर्मकार्यगतिलक्षणभवस्य। इति हेतोः नामकर्म आयुःकर्मपूर्वकं भवति। आयुःकर्म पूर्वमस्येति नामकर्मणः। तत्तु पुनः गतिलक्षणभवमाश्रित्य नीचत्वमुच्चत्वं चेति हेतोः गोत्रकर्म नामकर्मपूर्वकं कथितम्। नामकर्म पूर्वं यस्य गोत्रस्य तत् ॥१९॥

**घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।**
**इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदं[४८] तु[४९] ॥२०॥**

**यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि वेदनीयकर्म तो अघातिया है, फिर उसका पाठ घातिया कर्मों के बीच में क्यों किया गया है ? इसका ग्रन्थकार समाधान करते हैं—**यद्यपि वेदनीयकर्म अघातिया है तथापि वह मोहनीयकर्म के बल से घातिया कर्म के समान ही जीव का घात करता है, इसलिए घातिया कर्मों के मध्य में और मोहनीयकर्म के आदि में उसका नाम-निर्देश किया गया है।

**भावार्थ—**जब तक जीव के मोहकर्म का सद्भाव रहता है, तब तक ही वेदनीयकर्म जीव को सुख-दुःख का अनुभव कराकर उसे अपने ज्ञानादिगुणों में उपयुक्त नहीं रहने देता, प्रत्युत पर पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना उत्पन्न कर उन्हें सुखी या दुःखी बनाता रहता है इस कारण उसका नाम-

४६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १८। ४७. ब बलाधारेण। ४८. ब पडिदं। ४९. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १९।

निर्देश मोहकर्म के पूर्व घातिया कर्मों के बीच में किया गया है।

**टीका**—वेदनीयं कर्म घातिकर्मवत् मोहनीयविशेषरत्यरत्युदयबलेनैव जीवं घातयति, सुखदु:खरूप-सातासातनिमित्तेन्द्रियविषयानुभवनेन हन्तीति हेतो: घातिकर्मणां मध्ये मोहनीयस्यादौ वेदनीयं पठितम् ॥२०॥

**णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।**
**आउग णामं गोदंतरायमिदि पठिदमिदि सिद्धं[५०] ॥२१॥**

**इस प्रकार से कर्मों का जो पाठक्रम सिद्ध हुआ उसका ग्रन्थकार उपसंहार करते हैं**—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इस प्रकार से आगम में जो कर्मों का पाठ का क्रम है वही युक्ति-पूर्वक सिद्ध होता है।

**टीका**—ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं वेदनीयं मोहनीयं आयु: नाम गोत्रं अन्तराय: इति पूर्वोक्तपाठक्रम एवं सिद्ध:। तेषां निरुक्ति: कथ्यते-ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्। तस्य का प्रकृति:? ज्ञानप्रच्छादनता। किंवत् ? देवतामुखवस्त्रवत्। दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयम्। तस्य का प्रकृति: ? दर्शनप्रच्छादनता। किं वत् ? राजद्वारप्रतिहारवत्। राजद्वारे प्रतिनियुक्तप्रतिहारवत्। वेदयतीति वेदनीयम्। तस्य का प्रकृति: ? सुखदु:खोत्पादनता। किंवत् ? मधुलिप्तासिधारावत्। मोहयतीति मोहनीयम्। तस्य का प्रकृति: ? मोहोत्पादनता। किंवत् ? मद्यधत्तूरमदनकोद्रववत्। भवधारणाय एति गच्छतीत्यायु:। तस्य का प्रकृति: ? भवधारणता। किंवत् ? शृङ्खलाहडिवत्। नाना मिनोतीति नाम। तस्य का प्रकृति:? नर-नारकादिनानाविधकरणता। किंवत् ? चित्रकारकवत्। उच्चं नीचं गमयतीति गोत्रम्। तस्य का प्रकृति:? उच्चत्वनीचत्वप्रापकता। किंवत् ? कुम्भकारवत्। दातृ-पात्रयोरन्तरमेतीत्यन्तराय:। तस्य का प्रकृति: ? विघ्नकरणता। किंवत् ? भाण्डागारिकवत् ॥२१॥

**जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा।**
**होंति घणणिविडभूओ संबंधो होइ णायव्वो[५१] ॥२२॥**

**अब ग्रन्थकार जीव के प्रदेशों के साथ कर्म के प्रदेशों के सम्बन्ध होने का निरूपण कहते हैं**—जीव के एक-एक प्रदेश के ऊपर कर्मों के अन्त-परिहीन अर्थात् अनन्त प्रदेश अत्यन्त सघन प्रगाढ़ रूप से अवस्थित होकर सम्बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानना चाहिए।

**टीका**—जीवराशिरनन्त:। प्रत्येकमेकैकस्य जीवस्यासङ्ख्याता: प्रदेशा:। आत्मन एकैकस्मिन् प्रदेशे कर्मप्रदेशा: हु स्फुटं अन्तपरिहीना इति अनन्ता भवन्ति। एतेषां आत्म-कर्मप्रदेशानां सम्यक् बन्धो भवति सम्बन्ध:। किंलक्षणो ज्ञातव्य: ? घननिबिडभूत:-घनवत् लोहमुद्‌गरवत् निबिडभूत: दृढतर इत्यर्थ: ॥२२॥

---

५०. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २०। ५१. भावसं० ३२५।

**अत्थि अणाईभूओ बंधो जीवस्स विविहकम्मेण[५२]।**
**तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-दोसमओ[५३] ॥२३॥**

**अब ग्रन्थकार जीव और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का निरूपण करते हैं—** इस जीव का नाना प्रकार के कर्मों के साथ अनादिकालीन सम्बन्ध है। पुनः उन कर्मों के उदय से जीव के राग-द्वेषमय भाव उत्पन्न होता है।

**टीका—** जीवस्य विविधकर्मणा सह अनादिभूतो बन्धोऽस्ति। तस्य द्रव्यकर्मबन्धस्योदयेन जीवस्य पुनः रागद्वेषमयः भावः परिणामः भावकर्म इति यावत् जायते उत्पद्यते ॥२३॥

**भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहुपुग्गला हु लग्गंति।**
**जह तुप्पियगत्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति[५४] ॥२४॥**

पुनः उस राग-द्वेषमय भाव के निमित्त से बहुत से अन्य कर्मपुद्गल-परमाणु जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे कि घृत से लिप्त शरीर के साथ धूलि-कण अति सघनता के साथ चिपक जाते हैं।

**टीका—** पुनरपि तेन रागद्वेषमयेन भावेन अन्ये बहवः कर्मपुद्गलाः आत्मनः लगन्ति बन्धं प्राप्नुवन्ति। यथा घृतविलिप्तगात्रस्य निविडा रेणवो लगन्ति, [५५]तथा रागद्वेषक्रोधादिपरिणाम-स्निग्धावलिप्तात्मनः निविडकर्मरजसो लगन्तीत्यर्थः ॥२४॥

**एक्कसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेएहिं।**
**परिणमइ आउकम्मं बंधं भूयाउ [भुत्ताउ] सेसेण[५६] ॥२५॥**

**अब ग्रन्थकार एक समय में बँधनेवाले कर्मों के विभाग का क्रम बतलाते हैं—** जीव के द्वारा एक समय में बाँधा गया कर्म आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों के स्वरूप से परिणमित होता है, किन्तु जो आयुकर्म है, वह भुज्यमान आयु के (त्रिभाग के) शेष रहने पर बन्ध को प्राप्त होता है।

**भावार्थ—** जीव के राग-द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर प्रति समय जो अनन्त कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे प्रति समय ही आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों के रूप में परिणत होते रहते हैं, किन्तु आयुकर्म का बन्ध प्रति समय नहीं होता, किन्तु जो आयुकर्म भोगा जा रहा है, उसके दो भाग भोग लिये जाने पर तथा तीसरा भाग शेष रहने पर नवीन आयु का बन्ध होगा। यदि इस प्रथम त्रिभाग के शेष रहने पर परभव-सम्बन्धी आयु का बन्ध किसी कारण से नहीं हो सके, तो शेष जो आयु बची है, उसके भी दो भाग भोग लेने और एक भाग शेष रहने पर नवीन आयु का बन्ध होगा। यही नियम आगे भी जानना चाहिए। जैसे यदि किसी जीव की आयु ८१ वर्ष

५२. क कम्मेहिं। ५३. भावसं० ३२६। ५४. भावसं० ३२७। ५५. ब प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति। ५६. भावसं० ३२८।

की हो, तो उसके ५४ वर्ष व्यतीत होने पर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक नवीन आयु बन्ध का अवसर प्राप्त होगा। यदि किसी कारणवश उस समय आयु-बन्ध न हो, तो शेष जो २७ वर्ष बची है, उनमें से दो भाग बीतने और एक भाग के शेष रहने पर अर्थात् ७२ वर्ष की आयु में आयु-बन्ध का अवसर प्राप्त होता है। इसके भी खाली जाने पर ८० वर्ष में तीसरी बार नवीन आयु के बन्ध का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रकार आगे भी जानना। इस प्रकार भुज्यमान आयु के त्रिभाग शेष रहने पर आठ अवसर नवीन आयुबन्ध के प्राप्त होते हैं। यदि इन सभी त्रिभागों में नवीन आयु का बन्ध न हो सके, तो मरण से कुछ काल पूर्व नियम से नवीन आयु का बन्ध हो जायेगा। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि किसी जीव के नवीन आयु का बन्ध एक ही त्रिभाग में होता है, किसी के दो त्रिभागों में होता है, इस प्रकार अधिक से अधिक आठ बार तक जीव विवक्षित एक ही आयु का बन्ध कर सकता है।

**टीका**—जीवेन एकसमयेन बद्धं यत्कर्म तत्कर्म आयुष्कर्म विना ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नामगोत्रन्तरायसप्तभेदैः परिणमति बन्धं प्राप्नोति। च पुनः यदायुः कर्म तद् भुक्तायुःशेषेण भुक्तायुस्तृतीयभागेन [५७]त्रिभागानुक्रमेणबन्धं प्राप्नोति ॥२५॥

**सो बंधो चउभेओ णायव्वो होदि सुत्तणिद्दिट्ठो।**
**पयडिट्ठिदि-अणुभाग-पएसबंधो पुरा कहियो[५८]॥२६॥**

**अब ग्रन्थकार बन्ध के भेदों का निरूपण करते हैं**—जीव के एक समय में जो कर्मबन्ध होता है वह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के रूप में आगमसूत्र में चार प्रकार का पुरातन आचार्यों द्वारा निर्देश किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

**विशेषार्थ**—प्रतिसमय बँधने वाले कर्म परमाणुओं के भीतर ज्ञान दर्शन आदि आत्मगुणों को आवरणादि करने का जो स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। वे बँधे हुए कर्म-परमाणु जितने समय तक आत्मा के साथ रहेंगे, उस काल की मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्म-परमाणुओं में जो सुख-दुःखादिरूप फल देने की शक्ति होती है, उसे अनुभागबन्ध कहते हैं और आने वाले कर्म-परमाणुओं का जो पृथक्-पृथक् कर्मों में विभाजन होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

**टीका**—स पूर्वोक्तकर्मबन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति। स कथम्भूतः ? जिनागमे कथितः। ते चत्वारो भेदाः के ? प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः। बन्धस्य अयं भेदः पुरा पूर्वोक्तगाथासु कथितः। उक्तं हि—

---

५७. ब त्रिभंग्यनुक्रमेण। ५८. भावसं० ३२९।

प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशः प्रचयात्मकः[५९]॥४॥

पूर्वोक्तज्ञानावरणादिकर्मणां क्रमेण दृष्टान्तमाह–

**पडपडिहारसिमज्जा - हडि - चित्त - कुलाल - भंडयारीणं।**
**जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा[६०] ॥२७॥**

**अब दृष्टान्तपूर्वक आठों कर्मों के स्वभाव का निरूपण करते हैं–**पट (वस्त्र), प्रतीहार (द्वारपाल), मधु-लिप्त असि, मद्य (मदिरा), हलि (पैर को फाँसकर रखने वाला काठ का यन्त्र-खोड़ा), चित्रकार, कुलाल (कुम्भकार) और भण्डारी के जैसे अपने-अपने कार्य करने के भाव होते हैं, उसी प्रकार क्रम से आठों कर्मों के कार्य जानना चाहिए।

**विशेषार्थ–**ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं। इसका स्वभाव देव-मूर्ति के मुख पर ढके हुए वस्त्र के समान है। जिस प्रकार देवमूर्ति के मुख पर ढका हुआ वस्त्र देवता सम्बन्धी विशेष ज्ञान नहीं होने देता उसी प्रकार ज्ञानावरणकर्म ज्ञान को रोकता हुआ उसे प्रकट नहीं होने देता। आत्मा के दर्शनगुण को आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। इसका स्वभाव द्वारपाल के समान कहा है। जैसे द्वारपाल आगन्तुक व्यक्ति को राजद्वार पर ही रोक देता है, भीतर जाकर राजा के दर्शन नहीं करने देता उसी प्रकार यह कर्म भी आत्मा के दर्शनगुण को प्रकट नहीं होने देता। जो सुख-दुःख का वेदन या अनुभव करावे, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव शहद लपेटी तलवार की धार के समान है, जिसे चखने से पहले कुछ सुख होता है परन्तु पीछे जीभ के कट जाने पर अत्यन्त दुःख होता है। इसी प्रकार साता और असाता वेदनीयकर्म जीव को सुख और दुःख का अनुभव कराते हैं। जो जीव को मोहित या अचेत करे उसे मोहनीयकर्म कहते हैं इसका स्वभाव मदिरा के समान है। जैसे मदिरा जीव को अचेत कर देती है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म भी आत्मा को मोहित कर देता है, उसे अपने स्वरूप का कुछ भी भान नहीं रहता। जो जीव को किसी एक पर्याय-विशेष में रोके रखता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की साँकल या काठ के खोड़े के समान है। जिस प्रकार साँकल या काठ का खोड़ा मनुष्य को एक ही स्थान पर रोक रखता है, दूसरे स्थान पर नहीं जाने देता; उसी प्रकार आयुकर्म भी जीव को मनुष्य-पशु आदि की पर्याय में रोके रखता है। जो शरीर और उसके अंग-उपांग आदि की रचना करे, उसे नामकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है उसी प्रकार नामकर्म भी जीव के मनुष्य-पशु आदि अनेक रूपों का निर्माण करता है। जो जीव को ऊँच या नीच कुल में उत्पन्न करे, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसका स्वभाव कुम्भकार के समान है। जैसे कुम्भकार मिट्टी के छोटे-बड़े नाना

५९. सं० पञ्चसं० ४, ३६६। ब प्रतौ नास्त्ययं श्लोकः। ६०. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २१।

प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार गोत्रकर्म भी जीव को ऊँच या नीच कुल में उत्पन्न करता है। जो जीव को मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति न होने दे, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव राजभण्डारी के समान है। जैसे भण्डारी दूसरे को इच्छित द्रव्य प्राप्त करने में विघ्न करता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म भी जीव को इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होने देता।

**टीका**—देवतामुखवस्त्र राजद्वारप्रतिनियुक्तप्रतिहार मधुलिप्तासिधारा मद्य हडि[६१] चित्रक कुलाल भाण्डागारिकाणां एतेषां भावा यथा तथैव यथासङ्ख्यं ज्ञानावरणादिकर्माणि ज्ञातव्यानि ॥२७॥

**अथाष्टकर्मणां ज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतिसंख्यार्थं तेषां च स्वभावनिर्दर्शनार्थं गाथाष्टकमाह—**

**णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं।**
**जह पडिमोवरि खित्तं कप्पडयं छादयं होइ[६२] ॥२८॥**

ज्ञानावरणकर्म आगमसूत्र में पाँच प्रकार का कहा गया है। जिस प्रकार प्रतिमा के ऊपर पड़ा हुआ कपड़ा प्रतिमा का आच्छादक होता है उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण का आच्छादन करता है।

**टीका**—ज्ञानावरणं कर्म पञ्चविधं सूत्रनिर्दिष्टं जिनागमे कथितं भवति। तत्स्वभावदृष्टान्तमाह-यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं कर्पटकं छादकं भवति तथा ज्ञानावरणं कर्म जीवगुणज्ञानाच्छादकं भवति ॥२८॥

**दंसण-आवरणं पुण जह पडिहारो हु णिवदुवारम्हि।**
**तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाईहि[६३] सुत्तम्हि[६४] ॥२९॥**

जिस प्रकार राजद्वार पर बैठा हुआ प्रतिहार (द्वारपाल) किसी को राजा के दर्शन नहीं करने देता उसी प्रकार दर्शनावरणकर्म आत्मा के दर्शन नहीं करने देता। यह कर्म स्पष्टवादी आचार्यों ने परमागमसूत्र में नौ प्रकार का कहा है।

**टीका**—पुनः दर्शनावरणं कर्म किं स्वभावम् ? यथा नृपद्वारे प्रतिहारः राजदर्शननिषेधको भवति तथा दर्शनावरणं कर्म वस्तुदर्शननिषेधकं भवति। तद्दर्शनावरणं कर्म नवप्रकारं स्फुटार्थवाग्भिर्गणधर-देवादिभिः[६५] सूत्रे सिद्धान्ते प्रोक्तम्[६६] ॥२९॥

**महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु।**
**सायासायविभिण्णं सुह-दुक्खं देइ जीवस्स[६७] ॥३०॥**

मधुलिप्त खड्ग के सदृश वेदनीयकर्म है। वह दो प्रकार का है जो सातावेदनीय कर्म है वह जीव को सुख देता है और जो असातावेदनीय कर्म है, वह जीव को दुःख देता है।

**टीका**—पुनः वेदनीयं कर्म द्विविधं भवति। कथम्भूतम्? मधुलिप्तखड्गसदृशम्। तत्सातासात-

---

६१. बा हलि। ६२. भावसं० ३३१। ६३. ब फुडत्थवागियहिं। ६४. भावसं० ३३२। ६५. ब जिनैः। ६६. ब कथितम्। ६७. भावसं० ३३४।

भेदप्राप्तं सत् जीवस्य सुख-दुःखं ददाति ॥३०॥

**मोहेइ मोहणीयं [६८]जह मयिरा अहव कोद्दवा पुरिसं।**
**तं अडवीसविभिण्णं णायव्वं जिणुवदेसेण[६९] ॥३१॥**

जिस प्रकार मदिरा अथवा मत्तौनिया कोदों पुरुष को मोहित करते हैं उसी प्रकार मोहनीयकर्म जीव को मोहित करता है। जिनेन्द्रदेव के उपदेश से उसे अट्ठाईस भेदरूप जानना चाहिए।

**टीका**—मोहनीयं कर्म आत्मानं मोहयति। यथा पुरुषं मदिरा मोहयति। अथवा कोद्रवाः पुरुषं मोहयन्ति। तन्मोहनीयं अष्टाविंशति-भेदभिन्नं जिनोपदेशेन ज्ञातव्यम् ॥३१॥

**आऊ[७०] चउप्पयारं णारय-तिरिच्छ-मणुय-सुरगइगं।**
**हडिखित्त पुरिससरिसं जीवे भवधारणसमत्थं[७१] ॥३२॥**

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवायु के भेद से आयुकर्म चार प्रकार का कहा गया है। यह कर्म हडि (खोड़े) में डाले गये पुरुष के सदृश जीवों को किसी एक भव में धारण करने के लिए समर्थ है।

**टीका**—आयुःकर्म चतुःप्रकारम्-नारक-तिर्यङ्मनुष्य-सुरगतिप्राप्तं सत्। कथम्भूतम्? हडिक्षिप्त-पुरुषसदृशम्। पुनः किं लक्षणम्? जीवानां भवधारणसमर्थं भवति ॥३२॥

**चित्तपडं[७२] व विचित्तं णाणाणामे णिवत्तणं णामं।**
**तेयाणवदी गणियं गइ-जाइ-सरीर-आईयं[७३] ॥३३॥**

चित्रकार के सदृश नामकर्म जीव के नाना प्रकार के आकारों का निर्माण करता है। यह गति, जाति, शरीर आदि के भेद से तेरानवे प्रकार का कहा गया है।

**टीका**—नामकर्म गति-जाति-शरीरादिकं त्रिनवति संख्यागणितं भवति। पुनः तन्नामकर्म किम्भूतम्? चित्रपटवद् विचित्रं भवति। पुनः किम्भूतम्? नानाप्रकारनामनिष्पादकं भवति ॥३३॥

**गोदं कुलालसरिसं णीचुच्चकुले[७४]सुपायणे दच्छं।**
**घडरंजणाइकरणे कुंभायारो जहा णिउणो[७५]॥३४॥**

कुलाल (कुम्भकार) के सदृश गोत्रकर्म नीच और उच्चकुलों में उत्पादन करने में समर्थ कहा गया है। जिस प्रकार कुम्भकार घट-सिकोरा आदि बनाने में निपुण होता है उसी प्रकार यह गोत्रकर्म भी नीच और ऊँच कुलों में जीव को पैदा करने में समर्थ है।

**टीका**—गोत्रं कर्म कुलालसदृशं नीचोच्चकुलेषु समुत्पादने दक्षं समर्थं भवति। यथा कुम्भकारो [७६]घटरञ्जनादिकरणे निपुणो भवति तथा गोत्रकर्म नीचोच्चकुलेषूत्पादने समर्थं भवति ॥३४॥

---

६८. ब जिह। ६९. भावसं० ३३३। ७०. ब आउं। ७१. भावसं० ३३५। ७२. ब पडव्व। ७३. भावसं० ३३६। ७४. ज समुपायणे। ७५. भावसं० ३३७। ७६. ब घटालंजरादिकरणे।

**जह भंडयारि पुरिसो धणं णिवारेइ राइणा दिण्णं।**
**तह अंतरायपणगं णिवारयं होइ [७७]लद्धीणं[७८] ॥३५॥**

जिस प्रकार राजा के द्वारा दिये गये धन को भण्डारी देने से रोकता है उसी प्रकार पाँच प्रकार का अन्तरायकर्म दान आदि लब्धियों का निवारक कहा गया है।

**टीका**—यथा भाण्डागारिकपुरुषः राज्ञा दत्तं धनं निवारयति तथा अन्तरायपञ्चकं दानलाभ-भोगोपभोगवीर्यलब्धीनां[७९] निवारकं भवति ॥३५॥

**ज्ञानावरणादीना[८०]मुत्तरप्रकृत्युत्पत्तिक्रममाह—**

**पंच णव दोण्णि [८१]अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी।**
**ते उत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति[८२] ॥३६॥**

**ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्तर प्रकृति का कथन**—उक्त आठों कर्मों के क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे अथवा एक सौ तीन, दो और पाँच उत्तर भेद होते हैं।

**टीका**—*ज्ञानावरणादीनां कर्मणां यथासंख्यमुत्तरभेदान् कथयन्ति सूरयःपञ्च नव द्वावष्टा-विंशतिश्चत्वारस्त्रिनवति स्त्र्युत्तरशतं वा द्वौ पंच भवन्ति। तद्यथा–ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं वेदनीयं मोहनीयमायुर्नामगोत्रमन्तरायश्चेति मूलप्रकृतयः[८३]। ज्ञानावरणस्य पञ्च प्रकृतयो भवन्ति। दर्शनावरणस्य नव प्रकृतयो भवन्ति। वेदनीयस्य द्वे प्रकृती भवतः। मोहनीयस्य अष्टाविंशतिः प्रकृतयो भवन्ति। आयुष्कर्मणश्चतस्रः प्रकृतयः सन्ति। नामकर्मणः त्रिनवतिः त्र्यधिकशतप्रकृतयो वा भवन्ति। गोत्रकर्मणः द्वे प्रकृती भवतः । अन्तरायकर्मणः पञ्च प्रकृतयो भवन्ति। अनुक्रमेण ज्ञानावरणादीनां प्रकृतिसंख्या ज्ञातव्या ॥३६॥

**तत्र ज्ञानावरणीयं पञ्चप्रकारम्–मति–श्रुतावधि–मनःपर्ययज्ञानावरणीयं केवलज्ञानावरणीयं चेति। मतिज्ञानावरणादिस्वरूपं गाथापञ्चकेनाऽऽह—**

**अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि - इंदियजं।**
**बहुआदि–ओग्गहादिय–कयछत्तीसतिसयभेयं[८४] ॥३७॥**

**अब ग्रन्थकार ज्ञान के पाँच भेदों में से पहले मतिज्ञान का स्वरूप कहते हैं**—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ के जानने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिक कहते हैं। यह प्रत्येक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से तथा बहु आदि के भेद से तीन सौ छत्तीस प्रकार का कहा गया है।

---

७७. ब ऋद्धीणं। ७८. भावसं० ३३८। ७९. ब दानादिलब्धीनां। ८०. ब ज्ञानावरणानीनामिति पाठो नास्ति। ८१. ब अट्ठावीसं। ८२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २२। ८३.ज प्रतौ चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति। ८४. पञ्चसं० १, १२१। गोम्मटसार जीवकाण्ड ३०५।

**विशेषार्थ**—स्थूल, वर्तमान योग्य क्षेत्र में अवस्थित पदार्थ को अभिमुख कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के निश्चित विषय को नियमित कहते हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों का मन और इन्द्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय और मन की अपेक्षा उक्त ज्ञान के छह भेद होते हैं। इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार भेद होते हैं। वस्तु के सामान्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं, जैसे कि यह मनुष्य है। इससे अधिक विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं जैसे कि यह मनुष्य दक्षिणी है या उत्तरी। इसी के आकार-प्रकार एवं बोलचाल आदि के द्वारा निश्चय करने को अवाय कहते हैं, जैसे कि उक्त मनुष्य दक्षिणी ही है और आगे कालान्तर में इसे नहीं भूलने को धारणा कहते हैं। पुनः उनके बहु, बहुविध आदि बारह प्रकार के पदार्थों की अपेक्षा (२४×१२=२८८) दो सौ अठासी भेद हो जाते हैं। ये सब अर्थावग्रह के भेद हैं। व्यक्त पदार्थ के ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं। अव्यक्त पदार्थ के जानने को व्यंजनावग्रह कहते हैं। यह मन और नेत्रइन्द्रिय के बिना शेष चार इन्द्रियों से केवल अवग्रह रूप ही होता है और बहु आदि बारह पदार्थों की अपेक्षा उसके (४×१२=४८) अड़तालीस भेद होते हैं। इन्हें उपर्युक्त दो सौ अठासी भेदों में जोड़ देने पर (२८८+४८=३३६) तीन सौ छत्तीस भेद मतिज्ञान के हो जाते हैं।

**टीका**—स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः। अस्येन्द्रियस्यायमेवार्थ इत्यवधारितो नियमितः। अभिमुखश्चासौ नियमितश्च अभिमुखनियमितः। तस्यार्थस्य बोधनं ज्ञानं आभिनिबोधिकं मतिज्ञानमित्यर्थः। स्पर्शनादीन्द्रियाणां स्थूलविषयेषु ज्ञानजननशक्तित्वात् सूक्ष्मार्थेषु परमाणुषु अन्तरितार्थेषु नरकस्वर्गपटलादिषु दूरार्थेषु मेर्वादिषु ज्ञानजननशक्तिर्न सम्भवतीत्यर्थः। अनेन मतिज्ञानस्वरूपं निवेदितम्। तत्कथम्भूतम् ? अनिन्द्रियेन्द्रियजम्-अनिन्द्रियं मनः, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि पञ्च। एभ्यो जातं अनिन्द्रियेन्द्रियजम्। अनेन इन्द्रिय-मनसां मतिज्ञानोत्पत्तिकारणत्वं भणितमिति मतिज्ञानं षोढा कथितम्। पुनः प्रत्येकैकस्य मतिज्ञानस्य अवग्रहादयश्चत्वारो भेदा भवन्ति। तद्यथा-मानसोऽवग्रहः १ मानसीहा २ मानसोऽवायः ३ मानसी धारणा ४ इति चत्वारः। एवं स्पर्शनेन्द्रियजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। रसनजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। घ्राणजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। चाक्षुषाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। श्रोत्रजाः अवग्रहादयश्चत्वारः ४। एवं मतिज्ञानभेदाश्चतुर्विंशतिः २४ भवन्ति। बहुः १ अबहुः २ बहुविधः ३ अबहुविधः ४ क्षिप्रः ५ अक्षिप्रः ६ अनिस्सृतः ७ निस्सृतः ८ अनुक्तः ९ उक्तः १० ध्रुवः ११ अध्रुवः १२ एतैर्द्वादशभिर्गुणिताश्चतुर्विंशतिः २४ मतिज्ञानस्य भेदाः अष्टाशीत्युत्तरद्विशतं २८८ भवन्ति। एते अष्टाशीत्यधिकद्विशतभेदाः २८८ अर्थस्य स्थिरस्थूलरूपस्य पदार्थस्य भवन्ति। व्यञ्जनस्य अव्यक्तवस्तुनः एकोऽवग्रहो भवति। स तु व्यञ्जनावग्रहः बह्वादिभिर्द्वादशभिः १२ गुणितः द्वादशप्रकारो भवति। स तु द्वादशात्मकः चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां विना स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रैश्चतुर्भिः ४ गुणितोऽष्टचत्वारिंशत्

४८ भेदा भवन्ति। एवं एकत्रीकृताः षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदाः ३३६ मतिज्ञानस्य भवन्ति। मतिज्ञान-मावृणोतीति [८५]आव्रियतेऽनेन वेति मतिज्ञानावरणीयम् ॥३७॥

**अथ श्रुतज्ञानस्वरूपमाह—**

**अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं।**
**आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह [८६]सद्दजप्पमुहं[८७]॥३८॥**

**श्रुतज्ञान का स्वरूप—**आभिनिबोधिक ज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के जानने को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य ये दो भेद हैं। इनमें शब्दजन्य और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान मुख्य है।

**विशेषार्थ—**वर्ण, पद और वाक्य के द्वारा होने वाले ज्ञान को शब्द-जनित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और शब्द के बिना ही इन्द्रियों के संकेत आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को लिंगज या अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। ११ अंग और १४ पूर्वरूप भेद अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के हैं।

**टीका—**अर्थात् मतिज्ञानेन निश्चितार्थात् अर्थान्तरं तत्सम्बद्धं अन्यार्थं उपलभ्यमानं ज्ञायमानं श्रुतज्ञाना-वरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमजातं जीवस्य ज्ञानपर्यायं श्रुतज्ञानम्, इति मुनिश्वरा भणन्ति। तत्कथं भवेत् ? आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेन आभिनिबोधिकं मतिज्ञानं पूर्वं कारणं यस्य तदाभिनिबोधिकपूर्वं मतिज्ञानावरणक्षयोपशमेन मतिज्ञानं पूर्वमुत्पद्यते। पश्चात्तद्-गृहीतार्थमवलम्ब्य तद्बलाधानेनार्थान्तरविषयं श्रुतज्ञानमुत्पद्यते। इहास्मिन् श्रुतज्ञानप्रकरणे अक्षरानक्षरात्मकयोः शब्दज-लिङ्गजयोः श्रुतज्ञानभेदयोर्मध्ये शब्दजं वर्णपदवाक्यात्मकशब्दजनितं श्रुतजातं[८८] ज्ञानं प्रमुखं प्रधानं दत्तग्रहणशास्त्राध्ययनादि सकल-व्यवहाराणां तन्मूलत्वात्। अनक्षरात्मकं तु लिङ्गजं श्रुतज्ञानमेकेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु विद्यमानमपि व्यवहारानुपयोगित्वादप्रधानं भवति। श्रूयते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते इति श्रुतः शब्दः, तस्मादुत्पन्नमर्थज्ञानमिति व्युत्पत्तेरक्षरात्मकप्राधान्याश्रयणात्प्रधान [मक्षरात्मकं श्रुतज्ञानम्।] श्रुतज्ञान-मावृणोति, [८९]आव्रियतेऽनेनेति वा श्रुतज्ञानावरणीयम् ॥३८॥

**अवधिज्ञानस्वरूपमाह—**

**अवधीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।**
**भव-गुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं विंति[९०]॥३९॥**

**अवधिज्ञान का स्वरूप—**द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा निश्चित है ऐसे भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालवर्ती सीमित पदार्थों के जानने वाले ज्ञान को

---

८५. ब पाठोऽयं नास्ति। ८६. आ 'सत्थजं' इति पाठः। ८७. पञ्चसं० १, १२२। गोम्मटसार जीवकाण्ड ३१४। ८८. ब श्रुतज्ञातज्ञानं। ८९. ब पाठोऽयं नास्ति। ९०. पञ्चसं० १, १२३, गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६९।

अवधिज्ञान कहते हैं। सीमित जानने की अपेक्षा परमागम में इसे सीमाज्ञान कहा गया है। जिनेन्द्रदेव ने इसके दो भेद कहे हैं—एक भवप्रत्यय अवधि और दूसरा गुणप्रत्यय अवधि।

**विशेषार्थ—**नारक और देवभव की अपेक्षा से अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यह देव, नारकी और तीर्थंकरों के होता है। जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों की अपेक्षा से अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर उत्पन्न होता है, उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

**टीका—**अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते मर्यादीक्रियत इत्यवधिः। मतिश्रुतकेवलवद् द्रव्यादिभिरपरिमितविषयत्वाभावात् यत्तृतीयं सीमाविषयं ज्ञानं समये परमागमे जिनेन कथितं तदिदमवधिज्ञानमित्यर्हदादयो ब्रुवन्ति। तत्कतिप्रकारम्? भव-गुणप्रत्ययविहितम्। भवो नारकादिपर्यायः। गुणः सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिः। भवगुणौ नारकादिपर्यायसम्यग्दर्शनविशुद्ध्याद्यौ प्रत्ययौ कारणे निमित्तौ ताभ्यां विहितं उक्तभवगुणप्रत्ययविहितम्। भवप्रत्ययत्वेन गुणप्रत्ययत्वेन च अवधिज्ञानं द्विविधं कथितमित्यर्थः। भवप्रत्ययावधिज्ञानं सुराणां नारकाणां चरमभवतीर्थङ्कराणां च सम्भवति। गुणप्रत्ययम-वधिज्ञानं पर्याप्तानां नराणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चां च सम्भवति। तदुक्तं श्रीगोम्मटसारे—

**भवपच्चयगो सुर-णिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।**
**गुणपच्चयगो णर-तिरियाणं संखादिचिण्हभवो**[९१]॥५॥

तेषां देव-नारक-तीर्थकराणां सर्वात्मप्रदेशस्थावधिज्ञानावरणवीर्यान्तरायकर्मद्वयक्षयोपशमोत्थं अवधिज्ञानं भवति। तिरश्चां पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तानां नाभेरुपरि शङ्ख-पद्म-स्वस्तिकादिशुभचिह्न-प्रदेशस्थावधिज्ञानं भवति। अवधिज्ञानमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा अवधिज्ञानावरणीयम् ॥३९॥

**अथ मनःपयर्ययज्ञानस्वरूपमाह—**

**चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।**
**मणपज्जवं ति वुच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए**[९२]॥४०॥

**मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप—**जो चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित आदि अनेक भेदरूप से दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जाने उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान तपस्वी मनुष्यों के मनुष्यलोक में ही होता है, बाहर नहीं।

**टीका—**चिन्तितं चिन्ताविषयीकृतम्, अचिन्तितं चिन्तयिष्यमाणम्, अर्धचिन्तितं असम्पूर्णचिन्तितं वा इत्यनेकभेदगतमर्थं परमनसि स्थितं यज्ज्ञानं जानाति तत् खु स्फुटं मनःपर्ययज्ञानमित्युच्यते। तस्योत्पत्ति प्रवृत्ती नरलोके मनुष्यक्षेत्रे एव; न तु तद्बहिः तन्मनःपर्ययज्ञानं द्विविधम्-ऋजुमतिविपुलमतिभेदात्। मनःपर्ययज्ञानमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा मनःपर्ययज्ञानावरणीयम् ॥४०॥

---

९१. गोम्मटसार जीवकाण्ड ३७०। ९२. पञ्चसं० १, १२५। गोम्मटसार जीवकाण्ड ४३७।

**केवलज्ञानस्वरूपमाह—**

**संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।**
**लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं[९३]॥४१॥**

**केवलज्ञान का स्वरूप**—जो ज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल (असहाय), असपत्न (प्रतिपक्षरहित), सर्वपदार्थगत और लोक-अलोक में अन्धकाररहित होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

**विशेषार्थ**—त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त चराचर वस्तुओं के युगपत् जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। यह सम्पूर्ण ज्ञानावरणकर्म के क्षय से उत्पन्न होता है और समस्त पदार्थों का जानने वाला है इसलिए यह सम्पूर्ण है। मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षय के साथ उत्पन्न होता है अतएव अप्रतिहत शक्तियुक्त होने से उसे समग्र कहते हैं। इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि बाहरी पदार्थों की सहायता न रखने से इसे केवल या असहाय कहते हैं। समस्त पदार्थों के जानने में उसका कोई बाधक नहीं है अतएव उसे असपत्न या प्रतिपक्षरहित कहते हैं। कोई भी ज्ञेय पदार्थ इस ज्ञान के विषय से बाहर नहीं है।

**टीका**—जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां व्यक्तिगतत्वात्सम्पूर्णम्। मोहनीय-वीर्यान्तराय-निरवशेषक्षयात् अप्रतिहतशक्तियुक्तत्वाच्च समग्रम्। द्वितीय [९४]सहायकनिरपेक्षत्वात्केवलम्। घातिचतुष्टय-प्रक्षयादसपत्नम्। क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन सकलपदार्थगतत्वात्सर्वभावगतम्। लोकालोकयोर्विगततिमिरं प्रकाशकमेवम्भूतं इदं केवलज्ञानं मन्तव्यं ज्ञातव्यम्। केवलज्ञान-मावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा केवलज्ञानावरणीयम् ॥४१॥

**ज्ञानावरणस्य पञ्चप्रकृतिनामान्याह—**

**मदि - सुद - ओही - मणपज्जव - केवलणाण - आवरणमेवं।**
**पंचवियप्पं णाणावरणीयं जाण [९५]जिणभणियं ॥४२॥**

उपर्युक्त मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के आवरण करने से ज्ञानावरणीय कर्म पाँच विकल्परूप जिनभगवान् ने कहा है, ऐसा हे शिष्य! तू जान।

**टीका**—मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणं एवममुना प्रकारेण पञ्चविकल्पं पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणीयं जिनैर्भणितं हे शिष्य! त्वं जानीहि ॥४२॥

**अथ दर्शनस्वरूपमाह**

**जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।**
**अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समये[९६]॥४३॥**

---

९३. पञ्चसं० १, १२६। गोम्मटसार जीवकाण्ड ४५९। ९४. ब इन्द्रिय। ९५. त जाणिदं वोहु। ९६. पञ्चसं० १, १३८। गोम्मटसार जीवकाण्ड ४८१।

**अब ग्रन्थकार दर्शन का स्वरूप कहते हैं**—पदार्थों के आकार रूप-विशेष अंश का ग्रहण न करके जो केवल सामान्य अंश का निर्विकल्परूप से ग्रहण होता है, उसे परमागम में दर्शन कहते हैं।

**विशेषार्थ**—प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष रूप दो धर्म रहते हैं उनमें से केवल सामान्य धर्म की अपेक्षा जो स्व-पर पदार्थों की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसका विषय वचनों के अगोचर है इसलिए इसे निर्विकल्प कहा गया है। परमागम में इसके चार भेद कहे गये हैं—१. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन।

**टीका**—भावानां पदार्थानां सामान्य[९७] विशेषात्मकबाह्यवस्तूनां[९८] आकारं भेदग्रहणं अकृत्वा यत्सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं कथम् ? अर्थान् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिक्रियागुणप्रकारैरविकल्प्य [९९]स्वरूपसत्तावभासनं [१००]दर्शनमित्यर्थः। दर्शनमावृणोत्या-व्रियतेऽनेनेति वा दर्शनावरणीयम्[१०१]॥४३॥

**चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्वयस्वरूपमाह—**

**चक्खूण जं पयासइ दीसइ[१०२] तं चक्खुदंसणं विंति।**
**सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति[१०३]॥४४॥**

**अब ग्रन्थकार क्रमशः उनका स्वरूप कहते हुए पहले चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का स्वरूप निरूपण करते हैं**—चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जो पदार्थ का सामान्य प्रकाश होता है या वस्तु का सामान्य रूप दिखाई देता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले अपने-अपने विषयभूत सामान्य प्रकाश या प्रतिभास को अचक्षुदर्शन जानना चाहिए।

**टीका**—चक्षुषोः नयनयोः सम्बन्धि यद्रूपादि वस्तुसामान्यग्रहणं प्रकाशते पश्यति वा तत् नेत्रसम्बन्धिवस्तु दृश्यते जीवेन अनेनेति कृत्वा चक्षुर्विषयप्रकाशनमेव [१०४]तच्चक्षुर्दर्शनमिति जिना ब्रुवन्ति कथयन्ति। शेषेन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्राणां सम्बन्धिवस्तुनो योऽसौ प्रकाशः दर्शनं स ज्ञातव्योऽचक्षुर्दर्शनमिति। चक्षुर्दर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा चक्षुर्दर्शनावरणीयम्। अचक्षुर्दर्शन-मावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा अचक्षुर्दर्शनावरणीयम् ॥४४॥

**अथावधिदर्शनस्वरूपमाह—**

**परमाणुआदिआइं[१०५] अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।**
**तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[१०६]॥४५॥**

---

९७. ब सदृशपरिणामः सामान्यं विसदृशपरिणामो विशेषः। ९८. ब पदार्थानाम्। ९९. ब स्वपरसत्ता। १००. ब पश्यति दृश्यतेऽनेन दर्शनमात्रं वा दर्शनम्। १०१. ब पाठोऽयं नास्ति। १०२. त दिस्सइ। १०३. पञ्चसं० १, १३९। गोम्मटसार जीवकाण्ड ४८३। १०४. ब यच्चक्षुषा दृश्यते तच्चक्षुर्दर्शनम्। १०५. ब-'दव्वं' इति पाठः। १०६. पञ्चसं० १, १४०। गोम्मटसार जीवकाण्ड ४८४।

**अवधिदर्शन का स्वरूप**—अवधिज्ञान होने के पूर्व उसके विषयभूत परमाणु से लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्य को जो सामान्यरूप से देखता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। इस अवधिदर्शन के अनन्तर अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, जो अपने विषयभूत परमाणु आदि को स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानता है।

**टीका**—परमाणोरारभ्य महास्कन्धपर्यन्तं मूर्तिद्रव्याणि, तानि यद्दर्शनं प्रत्यक्षं पश्यति; तत्पुनः अवधिदर्शनं भवति। अवधिदर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा अवधिदर्शनावरणीयम् ॥४५॥

**केवलदर्शनस्वरूपमाह—**

**बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।**
**लोयालोयवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो[१०७]॥४६॥**

**केवलदर्शन का स्वरूप**—तीव्र, मन्द, मध्यम आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा चन्द्र-सूर्य आदि पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश लोक के परिमित क्षेत्र में ही रहते हैं, किन्तु जो केवलदर्शन रूप उद्योत (प्रकाश) है वह लोक और अलोक को अन्धकाररहित स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है।

**टीका**—बहुविधाः तीव्रमन्दमध्यमादिभेदेनानेकविधाः बहुप्रकाराश्चोद्योताः चन्द्रसूर्यरत्नादि-भेदेनानेकप्रकारा उद्योताः प्रकाशविशेषाः लोके परिमितक्षेत्रे एव प्रकाशन्ते। यः केवलदर्शनाख्य उद्योतः स लोकालोकयोः सर्वसामान्याकारे वितिमिरः करणक्रमव्यवधानरहितत्वेन सदाऽवभासमानः स केवलदर्शनाख्य उद्योतो भवति। केवलदर्शनमावृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा केवलदर्शनावरणीयम् ॥४६॥



**दर्शनावरणप्रकृतिनामनवकमाह—**

**चक्खु - अचक्खू - ओही - केवलआलोयणाणमावरणं।**
**[१०८]एत्तो पभणिस्साणो पण णिद्दा दंसणावरणं॥४७॥**

**दर्शनावरण कर्म के भेद**—उक्त चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन के आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। इस कर्म के नौ भेद हैं जिनमें से चार भेदों का स्वरूप कह दिया। अब पाँच निद्राओं का स्वरूप आगे कहते हैं।

**टीका**—चक्षुर्दर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणम् । अतः परं पञ्चप्रकारं निद्रादर्शनावरणं वयं नेमिचन्द्राचार्याः[१०९] प्रभणिष्यामः ॥४७॥

**पञ्चधा निद्रा का इति चेदाह—**

**अह थीणगिद्धि णिद्दाणिद्दा य तहेव पयलपयला य।**
**णिद्दा पयला एवं णवभेयं दंसणावरणं॥४८॥**

---

१०७. पञ्चसं० १, १४१। गोम्मटसार जीवकाण्ड ४८५। १०८. ज ब तत्तो। १०९. ब नास्त्ययं पाठः।

**पाँच प्रकार की निद्रा का कथन**—चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदों के साथ स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला तथा निद्रा और प्रचला इन पाँच निद्राओं के मिला देने पर दर्शनावरणकर्म के नौ भेद हो जाते हैं।

**टीका**—अथेत्यनन्तरं स्त्यानगृद्धिः निद्रानिद्रा च तथैव प्रचलाप्रचला निद्रा प्रचला एवं समुदितं दर्शनावरणं नवभेदं भवति। स्त्यानगृद्ध्यादिनिद्राणां लक्षणमाह–[स्त्याने] स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। अथवा स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यते दीप्यते यदुदयात् आर्त्तं रौद्रं बहु च कर्मकरणं सा स्त्यानगृद्धिः। इति स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणम्। यदुदयात् निद्राया उपरि उपरि प्रवृत्तिस्तन्निद्रानिद्रादर्शनावरणम्। यदुदयात् आत्मा पुनः पुनः प्रचलयति तत्प्रचलाप्रचला दर्शनावरणम्। शोकश्रममदादिप्रभवा उपविष्टस्य पुंसः नेत्रगात्र-विक्रियासूचिका [प्रचला] सैव पुनः पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचलेत्यर्थः। यदुदयात् मदखेदक्लम-विनाशार्थं शयनं तन्निद्रादर्शनावरणम्। यदुदयात् या क्रिया आत्मानं प्रचलयति तत्प्रचलादर्शनावरणमिति[११०]॥४८॥

**पुनः स्त्यानगृद्ध्यादिलक्षणं गाथात्रयेणाऽऽह—**

**थीणुदएणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि [१११]जंपदि वा।**
**णिद्दाणिद्दुदएण य ण दिट्ठिमुग्घाडिदुं सक्को[११२]॥४९॥**

**स्त्यानगृद्धि और निद्रानिद्रा का स्वरूप**—स्त्यानगृद्धिकर्म के उदय से जीव उठाये जाने पर भी सोता ही रहता है, सोते हुए ही नींद में अनेक कार्य करता है और बोलता भी रहता है पर संज्ञाहीन रहता है। निद्रानिद्रा कर्म के उदय से जगाये जाने पर भी आँखें नहीं उघाड़ सकता है।

**टीका**—स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणोदयेन उत्थापितेऽपि स्वपिति निद्रायां कर्म करोति जल्पति च। निद्रानिद्रा–[दर्शना] वरणोदयेन[११३] बहुधा सावधानीक्रियमाणोऽपि दृष्टिमुद्घाटयितुं न शक्नोति ॥४९॥

**पयलापयलुदएण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।**
**णिद्दुदए गच्छंतो ठाइ पुणो वइसदि पडेदि[११४]॥५०॥**

**प्रचलाप्रचला और निद्रा का स्वरूप**—प्रचलाप्रचला कर्म के उदय से मुख से लार बहती है और अंग-उपांग चलते रहते हैं। निद्राकर्म के उदय से जीव गमन करता हुआ भी खड़ा हो जाता है, बैठ जाता है, गिर पड़ता है इत्यादि नाना क्रियाएँ करता है।

**टीका**—प्रचलाप्रचलोदयेन मुखात् लाला वहति अङ्गानि चलन्ति। निद्रोदयेन गच्छन् तिष्ठति स्थितः पुनरुपविशति पतति च ॥५०॥

---

११०. एष सन्दर्भः सर्वार्थसिद्धि ८ सू॰ ७ व्याख्यया प्रायः समानः। १११. ज ब जप्पदि। ११२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २३। ११३. ब निद्रानिद्रोदयेन। ११४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २४।

**पयलुदएण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेदि सुत्तो वि।**
**ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं[११५]॥५१॥**

**प्रचला का स्वरूप**—प्रचला कर्म के उदय से यह जीव कुछ-कुछ आँखों को उघाड़कर सोता है और सोता हुआ भी थोड़ा-थोड़ा जानता है और जानते हुए बार-बार मन्द-मन्द नींद लेता रहता है।

**टीका**—प्रचलोदयेन जीवः ईषदुन्मील्य स्वपिति, सुप्तोऽपि ईषदीषज्जानाति, मुहुर्मुहुः मन्दं स्वपिति ॥५१॥

**द्विविधं वेदनीयं द्विविधं मोहनीयं चाह—**

**दुविहं खु वेयणीयं सादमसादं च वेयणीयमिदि।**
**पुण दुवियप्पं मोहं दंसण-चारित्तमोहमिदि॥५२॥**

वेदनीयकर्म के दो भेद हैं—१. सातावेदनीय, २. असातावेदनीय। मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—१. दर्शनमोहनीय, २.चारित्रमोहनीय। जो आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करे, उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं और सम्यक् चारित्र गुण का घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं।

**टीका**—खु स्फुटं वेदनीयं द्विविधम्-सातवेदनीयं असातवेदनीयं चेति। तत्र यद् रतिमोहनीयोदयबलेन जीवस्य सुखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति तत् सातवेदनीयम्। यद् दुःखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति अरतिमोहनीयोदयबलेन तदसातवेदनीयम्। पुनः मोहनीयं द्विविकल्पं द्विप्रकारम्-दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चेति। तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधा-मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्वप्रकृति भेदात्। चारित्रमोहनीयं पञ्चविंशतिविधम्कषायनोकषायभेदात् ॥५२॥

**तत्र त्रिप्रकारं दर्शनमोहनीयं दर्शयन्नाह—**

**बंधादेगं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच्च तिविहं खु।**
**दंसणमोहं मिच्छं मिस्सं सम्मत्तमिदि जाणे[११६]॥५३॥**

**दर्शनमोहनीय कर्म के भेद**—दर्शनमोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक मिथ्यात्व रूप ही है किन्तु उदय और सत्त्व की अपेक्षा तीन प्रकार का जानना चाहिए—१. मिथ्यात्व, २. मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) और ३. सम्यक्त्वप्रकृति।

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग से प्रतिकूल उन्मार्ग पर चलता है, सन्मार्ग से पराङ्मुख रहता है, जीव-अजीवादिक तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान नहीं करता है और अपने हित-अहित के विचार करने में असमर्थ रहता है, उसे मिथ्यात्वकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव की तत्त्व के साथ अतत्त्व की, सन्मार्ग के साथ उन्मार्ग की और हित के साथ अहित की मिश्रित

११५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २५। ११६. त जाणि।

श्रद्धा होती है उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन तो बना रहे, किन्तु उसमें चल-मलिन आदि दोष उत्पन्न हों उसे सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। और यदि कोई जीव लगातार ६६ सागर तक मनुष्य और देवयोनियों में आता-जाता रहे तो तब तक उसके सम्यक्त्व प्रकृति का उदय बना रह सकता है। सम्यग्मिथ्यात्व का उदय यतः केवल तीसरे गुणस्थान में ही होता है, अतः उसका उदय एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता। मिथ्यात्वकर्म का उदय पहले ही गुणस्थान में होता है अतः उसका उदय अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायेगा। जो भव्य अनादि मिथ्यादृष्टि हैं, उनके मिथ्यात्व का उदय यद्यपि अनादिकाल से आ रहा है, तथापि यतः एक-न-एक दिन उसका नियम से अन्त होगा, अतः वह अनादिसान्त कहलाता है, किन्तु जो सादि मिथ्यादृष्टि भव्य हैं अर्थात् एकादि बार जिनके सम्यक्त्व उत्पन्न हो चुका है, उसका मिथ्यात्व सादि-सान्त कहलाता है और इसलिए उसके उसका उदय कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक बना रह सकता है। अनादिकाल से सभी जीवों के दर्शनमोहनीय की केवल एक मिथ्यात्व प्रकृति ही बन्ध, उदय और सत्ता में रहती है, किन्तु प्रथम बार सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों के निमित्त से उस अनादिकालीन मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। अतः उदय और सत्त्व की अपेक्षा दर्शनमोह के उक्त तीन भेद जानना चाहिए, किन्तु बन्ध की अपेक्षा वह एक मिथ्यात्व रूप से ही बँधता है।

**टीका**—बन्धात् बन्धापेक्षया दर्शनमोहनीयं मिथ्यात्वरूपमेकं भवति। तदेव दर्शनमोहनीयं उदयं सत्त्वं च प्रतीत्य आश्रित्य त्रिविधं खु स्फुटं भवति-मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यक्त्वं चेति त्रिप्रकारं उदयसत्त्वापेक्षया जानीहि। तद्यथा-यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखो जीवादितत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारा-समर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् समीषत् शुद्धरसं स्वशक्तियुतं तदुभयं मिश्रं च कथ्यते सम्यग्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदनकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामः तदुभयात्मको भवति। तदेव मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं भवति यदा शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं औदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः सन् पुरुषः सम्यग्दृष्टिरभिधीयते[११७], सा सम्यक्त्वप्रकृतिः ॥५३॥

तस्य दर्शनमोहनीयस्य त्रिप्रकारस्य दृष्टान्तमाह[११८]—

**जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।**
**[११९]मिच्छादव्वं तु तिधा[१२०] असंखगुणहीणदव्वकमा[१२१]॥५४॥**

---

११७. सन्दर्भोऽयं सर्वार्थसिद्धि ८ सू० ९ व्याख्यया शब्दशः समानः। ११८. ब स्वरूपमाह। ११९. त मिच्छं दव्वं। १२०. ब तिहा। १२१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २६।

**दर्शनमोह के तीन भेद होने का दृष्टान्तपूर्वक वर्णन**—यन्त्र (जाँता या चक्की) से दले हुए कोदों के समान प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणामरूप यन्त्र से मिथ्यात्व रूप कर्म द्रव्य तीन प्रकार का हो जाता है और वह द्रव्य प्रमाण में क्रम से असंख्यात गुणित-असंख्यातगुणित हीन होता है।

**विशेषार्थ**—जिस प्रकार कोदों को चक्की से दलने पर उसके तन्दुल (चावल), कण और भूसी ये तीन रूप हो जाते हैं उसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूप परिणामों के निमित्त से अनादिकालीन एक मिथ्यात्व कर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं, जिनके नाम क्रमशः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति हैं। इनमें अनादिकालीन मिथ्यात्व द्रव्य के कर्म परमाणु क्रमशः असंख्यातगुणित रूप से कम-कम होते हैं। इसीलिए पूर्व गाथा में यह कहा गया है कि दर्शनमोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक मिथ्यात्वरूप है और उदय तथा सत्त्व की अपेक्षा तीन भेदरूप हैं।

**टीका**—यन्त्रेण घरट्टेण कोद्रवो दलितो यथा तुष-तन्दुल-कणिकारूपेण त्रिधा भवति, तथा प्रथमोपशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण मिथ्यात्वद्रव्यं दलितं सत् मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृति-स्वरूपेणासङ्ख्यातगुणहीनद्रव्यक्रमेण त्रिधा भवति ॥५४॥

**पुनः द्विविध-[चारित्र-] मोहनीयस्वरूपं गाथाष्टकेनाऽऽह—**

**दुविहं चरित्तमोहं कसायवेयणीयं णोकसायमिदि।**
**पढमं सोलवियप्पं विदियं णवभेयमुद्दिट्ठं ॥५५॥**

**चारित्र मोहकर्म के भेद**—मोहनीयकर्म का दूसरा भेद जो चारित्रमोहनीय कर्म है वह दो प्रकार का है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। उनमें प्रथम कषायवेदनीय सोलह और द्वितीय नोकषाय वेदनीय नौ प्रकार का कहा गया है।

**टीका**—चरित चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्। तच्चारित्रं मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा चारित्रमोहनीयम्। तच्चारित्रमोहनीयं द्विविधम्-कषायवेदनीयं [१२२]नोकषायवेदनीयं चेति। तत्र प्रथमं कषायवेदनीयं षोडशप्रकारम्। द्वितीयं नोकषायवेदनीयं नवभेदं नवप्रकारं जिनैरुद्दिष्टं कथितम् ॥५५॥

**अणमप्पच्चक्खाणं पच्चक्खाणं तहेव संजलणं।**
**कोहो माणो माया लोहो सोलस कसायेदे ॥५६॥**

**कषाय वेदनीय के भेद**—कषाय वेदनीय के सोलह भेद इस प्रकार हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ॥५६॥

**टीका**—अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः। अथाप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमाया-लोभाश्चत्वारः। प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः। तथैव संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभा-

---

१२२. ब ईषत्कषाया नोकषायाः।

श्चत्वारः। इत्येते एकत्रीकृताः षोडश कषाया भवन्ति ॥५६॥

**सिल-पुढविभेद-धूली-जलराइसमाणओ हवे कोहो।**
**णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो[१२३]॥५७॥**

**चारों प्रकार की क्रोध कषाय के उपमान और फल**—उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध पत्थर की रेखा के समान, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी की रेखा के समान, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलि की रेखा के समान और संज्वलन क्रोध जल की रेखा के समान परिणाम वाला कहा गया है। ये चारों प्रकार के क्रोध क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं।

**टीका**—शिलाभेद-पृथ्वीभेद-धूलिरेखाजलरेखासमानः उत्कृष्टानुत्कृष्टाजघन्यजघन्यशक्तिविशिष्टः क्रोध-कषायः। स नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु क्रमशो यथाक्रममुत्पादको भवति जीवस्य। तद्यथा-शिलाभेदसदृशोत्कृष्टशक्तिविशिष्टानन्तानुबन्धिक्रोधकषायः जीवं नरकगत्यामुत्पादयति । पृथ्वीभेद-समानानुत्कृष्टशक्तिकोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधकषायः तिर्यग्गतौ जीवमुत्पादयति । धूलिरेखातुल्याजघन्य-शक्तियुक्तः प्रत्याख्यानावरणक्रोधो जीवं मनुष्यगत्यामुत्पादयति। जलरेखासदृशजघन्यशक्ति-धृत्संज्वलन-क्रोधो जीवं देवगतौ नयति । तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतजीवस्तद्गत्युत्पत्तिकारणतत्तदायुर्गत्यानु-पूर्व्यादिप्रकृतीः बध्नातीत्यर्थः। अत्र राजिशब्दो रेखार्थवाची। यथा शिलाभेदादीनां चिरतर-चिर-शीघ्र-शीघ्रतर कालैर्विनाऽनुसन्धानं न घटते, तथा उत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवस्तथा-विधकालैर्विना क्षमालक्षणसन्धानयोग्यो न भवेत् इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं सम्भवतीति तात्पर्यार्थः ॥५७॥

**[१२४]सिल-अट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।**
**णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो[१२५]॥५८॥**

**चारों प्रकार की मानकषाय के उपमान और फल**—अनन्तानुबन्धी मान पत्थर के समान, अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डी के समान, प्रत्याख्यानावरण मान काठ के समान और संज्वलन मान बेंत के समान कठोर परिणाम वाला कहा गया है। ये चारों प्रकार के मान क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं।

**टीका**—शैलास्थिकाष्ठवेत्रसमानस्वोत्कृष्टादिशक्तिभेदैरनुहरन्[१२६] उपमीयमानः मानकषायः क्रमशो नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जीवमुत्पादयति। तद्यथा-शिलास्तम्भसमानोत्कृष्टशक्तियुक्तानन्तानुबन्धिमान-कषायः जीवं नारकगतावुत्पादयति। अस्थिसमानानुत्कृष्टशक्तियुक्ताप्रत्याख्यानावरणमानकषायो जीवं तिर्यग्गत्यामुत्पादयति। काष्ठसमानाजघन्यशक्तिसहितप्रत्याख्यानावरणमानकषायो जीवं मनुष्य-गतावुत्पादयति। वेत्रसमानजघन्यशक्तियुक्तसंज्वलनमानकषायो जीवं देवगतावुत्पादयति। यथा

१२३. गोम्मटसार जीवकाण्ड २८३। १२४. त ब सेलट्ठि। १२५. गोम्मटसार जीवकाण्ड २८४। १२६. ब तुल्यो भवन्।

चिरतरादिकालैर्विना शैलास्थिकाष्ठवेत्राः नामयितुं न शक्यन्ते, तथा उत्कृष्टादिशक्तियुक्तमानपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना मानं परिहृत्य विनयरूपनमनं कर्तुं न शक्नोतीति सादृश्यसम्भवोऽत्र ज्ञातव्यः। तत्तच्छक्तियुक्तमानकषायपरिणतो जीवस्तत्तद्गत्युत्पत्तिहेतुतत्तदायुर्गत्यानुपूर्वीनामादिकर्म बध्नातीति तात्पर्यम् ॥५८॥

**वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरुप्पे।**
**सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं[१२७]॥५९॥**

**चारों प्रकार की मायाकषाय के उपमान और फल**—अनन्तानुबन्धी माया बाँस की जड़ के समान, अप्रत्याख्यानावरण माया मेंढ़े के सींग के समान, प्रत्याख्यानावरण माया गोमूत्र के समान और संज्वलन माया खुरपा के समान कुटिल परिणाम वाली कही गयी है। ये चारों प्रकार की माया क्रमशः जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में ले जाती हैं।

**टीका**—वेणूपमूलोरभ्रकशृङ्गगोमूत्रक्षुरप्रसदृशोत्कृष्टादिशक्तियुक्ता माया वञ्चना यथाक्रमं नारकतिर्यङ्-नरामरगतिषु जीवं निक्षिपति। तद्यथा-वेणूपमूलं वंशमूलग्रन्थिः, तेन समानोत्कृष्ट-शक्तियुक्तानन्तानुबन्धिमायाकषायः जीवं नरकगतौ निक्षिपति। उरभ्रको मेषः, तच्छृंगसदृशानुत्कृष्ट-शक्तियुक्ताप्रत्याख्यानावरणमाया कषायः जीवं तिर्यग्गतौ प्रक्षिपति। गोमूत्रसमानाजघन्यशक्तियुक्त-प्रत्याख्यानावरणमायाकषायः आत्मानं मनुष्यगतौ निक्षिपति। क्षुरप्रसमानजघन्यशक्तियुक्तसंज्वलन-मायाकषायः जीवं देवगतौ निक्षिपति। यथा वेणूपमूलादयश्चिरतरादिकालं विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजुत्वं न प्राप्नोति, तथा जीवोऽप्युत्कृष्टादिशक्तियुक्तमायाकषायपरिणतस्तथाविधकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजुपरिणामो न स्यात् [इति] सादृश्यं युक्तम्। तत्तदुत्कृष्टादिशक्तियुक्तमायाकषायपरिणत-जीवस्तत्तद्गतिक्षेपकारणं तत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादि कर्म बध्नातीत्यर्थः ॥५९॥

**किमिराय-चक्क -तणुमल-हरिद्दराएण सरिसओ लोहो।**
**णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो[१२८]॥६०॥**

**चारों प्रकार की लोभ कषाय के उपमान और फल**—अनन्तानुबन्धी लोभ कृमिराग के समान, अप्रत्याख्यानावरण लोभ चक्रमल (ओंगन) के समान, प्रत्याख्यानावरण लोभ शरीर के मल के समान और संज्वलन लोभ हल्दी के रंग के समान सचिक्कण परिणाम वाला कहा गया है। ये चारों प्रकार के लोभ क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के उत्पादक होते हैं।

**टीका**—कृमिराग-चक्रमल-तनुमल-हरिद्रारागबन्धसमानोत्कृष्टादिशक्तियुक्तो लोभकषायो विषयाभिलाषरूपः क्रमशो यथासंख्यं नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिषु जीवमुत्पादयति। तद्यथा-कृमिरागेण

---

१२७. गोम्मटसार जीवकाण्ड २८५। १२८. गोम्मटसार जीवकाण्ड २८६।

कम्बलादिरञ्जनेन समानोत्कृष्टशक्तियुक्तानन्तानुबन्धिलोभकषायो जीवं नारकगतावुत्पादयति। चक्रमलो रथाङ्गमलस्तेन समानानुत्कृष्टशक्तियुक्ताप्रत्याख्यानावरणलोभकषायः जीवं तिर्यग्गत्यामुत्पादयति। तनुमलः शरीरमलः बहिर्गतो जल्लमलः, तद्बन्धसदृशाजघन्यशक्तिसहित-प्रत्याख्यानावरणलोभकषायः जीवं मनुष्य-गतावुत्पादयति । हरिद्रारागः अङ्गवस्त्रादिरञ्जनद्रव्यरागः, तद्बन्धसदृशजघन्यशक्तियुक्तसंज्वलन-लोभकषायः जीवं देवगतौ उत्पादयति। कृमिरागादिसदृश-तत्तदुत्कृष्टादिशक्तियुक्तलोभपरिणामेन जीवस्तत्तन्नारकादिभवोत्पत्तिकारणत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिकर्म बध्नातीति भावार्थः॥६०॥

**निरुक्तिपूर्वकं कषायशब्दस्यार्थं निरूपयति-**

**सम्मत्त - देस - सयलचरित्त - जहखादचरणपरिणामे।**
**घादंति वा कसाया चउ-सोल-असंखलोगमिदा[१२९]॥६१॥**

**अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार की कषायों के कार्य**—जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्ररूप परिणामों को कसे या घात करे, उसे कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण आदि की अपेक्षा चार भेद हैं। इन्हीं चारों के क्रोध, मान, माया और लोभ की अपेक्षा सोलह भेद हैं और कषाय के उदयस्थानों की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण भेद कहे गये हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व की घातक, अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र (श्रावकव्रत) की घातक, प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलचारित्र (मुनिव्रत) की घातक और संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्र की घातक है।

**टीका**—वा अथवा सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं देशचारित्रं अणुव्रतं सकलचारित्रं महाव्रतं यथाख्यातचरणं यथाख्यातचारित्रं एवंविधात्मविशुद्धिपरिणामान् कषन्ति हिंसन्ति घ्नन्तीति कषायाः इति निर्वचनीयम्। तद्यथा-अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभकषायः आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामं कषन्ति हिंसन्ति घ्नन्ति; अनन्तसंसारकारणत्वात् मिथ्यात्वमनन्तं अनन्तभवसंस्कारकालं वाऽनुबध्नन्ति सुघटयन्ति इत्यनन्तानुबन्धिनः इति निरुक्तिसामर्थ्यात् अनन्तानुबन्धिकषायाः। अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमाया-लोभकषायाः जीवस्याणुव्रतपरिणामं कषन्ति। अप्रत्याख्यानमीषत्प्रत्याख्यानमणु-व्रतामावृण्वन्ति घ्नन्तीति निरुक्तिसिद्धत्वात् अप्रत्याख्यानावरणकषायाः। प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभकषाया आत्मनः सकलचारित्रं महाव्रतपरिणामं कषन्ति। प्रत्याख्यानं सकलसंयमं महाव्रतमावृण्वन्ति घ्नन्तीति निरुक्तिसिद्धत्वात् प्रत्याख्यानकषायाः। संज्वलनाः क्रोधादिकषायाः आत्मनो यथाख्यातचारित्रपरिणामं कषन्ति, सं समीचीनं विशुद्धं संयमं यथाख्यातचारित्रनामधेयं ज्वलन्ति दहन्तीति संज्वलना इति निरुक्तिबलेन। तदुदये सत्यपि सामायिकादिसंयमाविरोधः सिद्धः। एवंविधकषायः सामान्येन एकः। विशेषविवक्षायां तु अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलन-भेदाच्चत्वारः। पुनस्ते

१२९. गोम्मटसार जीवकाण्ड २८२।

अनन्तानुबन्ध्यादयश्चत्वारोऽपि प्रत्येकं क्रोधमानमायालोभा इति षोडश। तद्यथा–अनन्तानुबन्धि-क्रोधमानमायालोभाः अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाः प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाः संज्वलनक्रोधमानमायालोभा इति। पुनः सर्वेऽप्युदयस्थानविशेषापेक्षया असंख्यातलोकप्रमिता भवन्ति। कुतः ? तत्कारणचारित्रमोहनीयोत्तरोत्तरप्रकृतिविकल्पानामसंख्यातलोकमात्रत्वात् ॥६१॥

**नोकषायवेदनीयनवविधमाह–**

**हस्स रदि अरदि सोयं भयं जुगुंछा य इत्थि-पुंवेयं।**
**संढं वेयं च तहा णव एदे णोकसाया य॥६२॥**

**नोकषाय वेदनीय के नौ भेदों का प्रतिपादन करते हैं–**हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय हैं। इनका स्वरूप इनके नामों के अनुसार जानना चाहिए।

**टीका–**हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साश्च स्त्री-पुंवेदौ तथा षण्ढवेदश्च इत्येते नव नोकषाया भवन्ति। तन्निरुक्तिमाह–ईषत्कषाया नोकषायास्तान् वेदयन्ति वेद्यन्ते एभिरिति नोकषायवेदनीयानि नवधा। यस्योदयाद् हास्याविर्भावस्तद्धास्यम्। यदुदयाद्देशादिषु औत्सुक्यं सा रतिः। तद्विपरीता अरतिः। यद्विपाकात् शोचनं स शोकः। यदुदयादुद्वेगस्तद् भयम्। यदुदयादात्मीयदोषस्य संवरणं परदोषस्य धारणं सा जुगुप्सा। यदुदयात् स्त्रैणान् भावान् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः। यस्योदयात् पौंस्नान् भावान् आस्कन्दति प्राप्नोति स पुंवेदः। यदुदयान्नपुंसकान् भावान् उपव्रजति गच्छति स नपुंसकवेदः ॥६२॥

**अथ वेदत्रयं विशेषतः गाथात्रयेणाऽऽह–**

**छादयदि सयं दोसे णयदो[130] छाददि परं पि दोसेण।**
**छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिदा इत्थी[131]॥६३॥**

**स्त्रीवेद का स्वरूप–**यतः जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करती है और मृदु-भाषण, तिरछी-चितवन आदि व्यापारों से दूसरे पुरुषों को भी हिंसा, कुशीलादि दोषों से आच्छादित करती है, अतः उसे आच्छादन स्वभाव युक्त होने से स्त्री कहा गया है।

**टीका–**यस्मात्कारणात् स्वयमात्मानं दोषैः मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमक्रोधमानमायालोभैः छादयति संवृणोति नयतः[132] मृदुभाषितस्निग्ध-विलोकनानुकूलवर्तनादिकुशलव्यापारैः परमपि अन्यपुरुषमपि स्ववशं कृत्वा दोषेण हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादिपातकेन छादयति आवृणोति तस्मात्कारणाच्छादनशीला द्रव्य-भावाभ्यां सा अङ्गना स्त्रीति वर्णिता परमागमे प्रतिपादिता। स्तृणाति स्वयमन्यं च दोषैराच्छादयतीति निरुक्तेः स्त्री सामान्यतः स्त्रीणां लक्षणमुक्तम् ॥६३॥

---

१३०. आ ज ब णियदो। निजतः इति पाठः। १३१. पञ्चसं॰ १, १०५। गो॰ जी॰ का॰ २७३। १३२. ब न्यायात् नीतेः।

**पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं।**
**पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो[१३३]॥६४॥**

**पुरुषवेद का स्वरूप**—यतः जो उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का स्वामी है अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करता है अथवा जो स्वयं उत्तम है, उसे पुरुष कहा गया है।

**टीका**—यस्मात् कारणाल्लोके यो जीवः पुरुगुणे [१३४]सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राद्यधिकगुणसमूहे शेते स्वामित्वेन प्रवर्तते पुरुभोगे नरेन्द्र-नागेन्द्र-देवेन्द्राद्यधिकभोगसमूहे भोक्तृत्वेन प्रवर्त्तते पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्ष-लक्षणं पुरुषार्थसाधनरूपादिदिव्यानुष्ठानं शेते करोति च पुरुषोत्तमे[१३५] परमे पदे सति तिष्ठति पुरुषोत्तमः सन् तिष्ठतीत्यर्थः। तस्मात् कारणात् स द्रव्यभावद्वयसम्पन्नो जीवः पुरुष इति वर्णितः ॥६४॥

**णेवित्थी णेव पुमं णउंसवो उहयलिंगवदिरित्तो।**
**इट्ठावग्गिसमाणयवेयणगरुओ कलुसचित्तो[१३६]॥६५॥**

**नपुंसक वेद का स्वरूप**—जो न स्त्रीरूप है और न पुरुषरूप है ऐसे दोनों ही लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसकी विषय-सेवन की लालसा भट्टे में पकती हुई ईंटों की अग्नि के समान तीव्र कही गयी है अतएव इसका निरन्तर कलुषित चित्त रहता है।

**टीका**—यो जीवो नैव पुमान् पूर्वोक्तपुरुषलक्षणाभावात् पुरुषो न भवति। नैव स्त्री, उक्तस्त्री-लक्षणाभावात् स्त्री अपि न भवति, ततः कारणादुभयलिङ्गव्यतिरिक्तः श्मश्रुमेहनस्तनभागादि-पुंस्त्रीद्रव्यलिङ्गरहितः नपुंसकः। यतः स्त्रियमात्मानं मन्यमानः पुरुषे वेदयति रन्तुमिच्छति स स्त्रीवेदः, य वेः (?) पुमांसमात्मानं................नपुंसकवेदः इष्टिकापाकाग्नि-समानतीव्रकामवेदनागुरुकः कलुषचित्तः सर्वदा तद्वेदनया कलङ्कितहृदयः स जीवो नपुंसकः नपुंसकवेद इति परमागमे वर्णितः कथितः। स्त्री-पुरुषाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनालक्षणभावनपुंसकवेदोस्तीत्यर्थः। त्रिवेदानां लक्षणं तथा चोक्तम्—

**श्रोणिमार्दव - भीरुत्व - मुग्धत्व - क्लीबता - स्तनाः।**
**पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रैणसूचने॥६॥**
**खरत्व - मेहन -स्ताब्ध्य-शौण्डीर्य-श्मश्रु-धृष्टता।**
**स्त्रीकामेन समं सप्त लिङ्गानि नरवेदने॥७॥**
**यानि स्त्री-पुरुषलिङ्गानि पूर्वोक्तानि चतुर्दश।**
**सूक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने[१३७]॥८॥**

---

१३३. पञ्चसं० १, १०६। गोम्मटसार जीवकाण्ड २७२। १३४. ब सम्यग्ज्ञानाद्यधिकगुणसमूहे। १३५. ब पुरूत्तमे परमेष्ठिपदे। १३६. पञ्चसं० १, १०७। गोम्मटसार जीवकाण्ड २७४। १३७. सं० पञ्चसं० १, १९६-१९८।

**अथ गाथापूर्वार्धे आयुश्चतुष्कं गाथाया उत्तरार्ध प्रारभ्य नामकर्मप्रकृतीश्चाह—**

**णारयतिरियणरामर आउगमिदि चउविहो हवे आऊ।**
**णामं वादालीसं पिंडापिंडप्पभेएण॥६६॥**

**आयुकर्म का निरूपण करते हैं**—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवायुष्य के भेद से आयुकर्म चार प्रकार का होता है अर्थात् आयुकर्म के चार भेद हैं—नारकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु। पिण्ड प्रकृति और अपिण्ड प्रकृतियों के भेद से नामकर्म बयालीस प्रकार का है।

**टीका**—नारकतिर्यङ्नरामरायुष्यमिति आयुश्चतुर्विधं भवेत्। नारकादिभवधारणाय एत्यायुः। तत्र नरकादिषु भवसम्बन्धेनाऽऽयुषो व्यपदेशः क्रियते। वा नरकेषु भवं नारकमायुः। तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योनमायुः। मनुष्ययोनिषु भवं मानुष्यमायुः। देवेषु भवं दैवमायुः इति। नरकेषु तीव्रशीतोष्णादिवेदनेषु दीर्घजीवनं नारकायुः। इत्येवं शेषेष्वपि। पिण्डापिण्डप्रभेदेन नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधं ४२ भवति ॥६६॥

**णेरइय-तिरिय-माणुस-देवगइ त्ति य हवे गई चदुधा।**
**इगि-वि-ति-चउ-पंचक्खा जाई पंचप्पयारेदे॥६७॥**

**गति और जाति नामकर्म के भेद**—उनमें से गति नामकर्म चार प्रकार का है—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति। जाति नामकर्म पाँच प्रकार का है—एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजाति।

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से यह जीव एक पर्याय से दूसरी पर्याय को जाता है, उसे गति नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय आदि जातियों में उत्पन्न हो, उसे जाति नामकर्म कहते हैं।

**टीका**—नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिरिति गतिश्चतुर्धा[१३८] चतुःप्रकारा भवेत्। तत्र यदुदयाज्जीवः भवान्तरं गच्छति सा गतिः। सा चतुर्धा। यन्निमित्तमात्मनो नारकपर्यायस्तन्नारकगतिनाम। यन्निमित्तमात्मनस्तिर्यग्भवस्तत्तिर्यग्गतिनाम । यन्निमित्तं जीवस्य मनुष्यपर्यायस्तन्मनुष्यगतिनाम। यदुदयाज्जीवस्य देवपर्यायस्तद्देव-गतिनाम।१ ।२ ।[१३९]एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चाक्षभेदाज्जातिः पञ्चप्रकारेति। यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। यस्योदयात् प्राणी द्वीन्द्रिय इत्युच्यते तद्द्वीन्द्रियजातिनाम। यदुदयाज्जन्तुस्त्रीन्द्रिय इति भण्यते तत्त्रीन्द्रियजातिनाम। यस्योदयाज्जीवश्चतुरिन्द्रिय इति वर्ण्यते तच्चतुरिन्द्रियजातिनाम। यदुदयादात्मा पञ्चेन्द्रिय इति निगद्यते तत्पञ्चेन्द्रियजातिनाम। २। ९ ॥६७॥

**ओरालिय - वेगुव्विय - आहारय - तेज - कम्मणसरीरं।**
**इदि पंचसरीरा खलु ताण वियप्पं वियाणाहि ॥६८॥**

---

१३८. ब बहुधा। १३९. ब पिण्डत्वेन १, व्यक्तित्वेन ४।

**शरीर नामकर्म के भेद—**शरीर नामकर्म के पाँच भेद जानना चाहिए-औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर।

**विशेषार्थ—**स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं, यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। अणिमा, महिमा आदि की शक्ति से युक्त शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं, यह देव और नारकियों के होता है। उत्कृष्ट संयम वाले तपस्वी साधुओं के चित्त में सूक्ष्म तत्त्व सम्बन्धी सन्देह के उत्पन्न होने पर और उसके निवास वाले क्षेत्र में केवली-श्रुतकेवली का अभाव होने पर सन्देह के निवारणार्थ उनके पादमूल में जाने के लिए जो मस्तक से एक हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। शरीर के भीतर भुक्त अन्नादि के जीर्ण करने वाले तेज को तैजस शरीर कहते हैं। सर्वकर्मों के उत्पन्न करने वाले एवं उनके आधारभूत शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं।

**टीका—**औदारिकशरीरवैक्रियिकशरीराऽऽहारकशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरभेदात् इति शरीराणि पञ्च खलु स्फुटं भवन्ति। तेषां शरीराणां विकल्पान् दशप्रकारान् वक्ष्यमाणगाथायां जानीहि। तद्यथा-यदुदयादात्मनः औदारिकशरीरनिर्वृत्तिस्तदौदारिकशरीरनाम। यदुदयाद् वैक्रियिकशरीरनिष्पत्तिस्त-द्वैक्रियिकशरीरनाम। यस्योदयादाहारकशरीरनिर्वृत्तिस्तदाहारकशरीरनाम। यदुदयात्तैजसशरीरनिर्वृत्ति-स्तत्तैजस-शरीरनाम। यदुदयाज्जीवस्य कार्मणशरीरनिष्पत्तिस्तत्कार्मणशरीरनाम। ३। १४[१४०]॥६८॥

**एषां पञ्चशरीराणां भङ्गानाह—**

**तेजाकम्मेहिं तिए तेजाकम्मेण कम्मणा कम्मं।**
**कयसंजोगे चदुचदुचदुदुगएक्कं च पयडीओ[१४१]॥६९॥**

**अब इन पाँचों शरीरों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भेदों का निरूपण करते हैं—**तैजस और कार्मण शरीर के साथ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर का आपस में संयोग करने पर चार-चार भेद होते हैं, इस प्रकार तीनों के मिलकर बारह भेद हो जाते हैं तथा कार्मण शरीर के साथ तैजस शरीर के मिलाने से दो भेद और कार्मण शरीर के साथ कार्मण शरीर को मिलाने से एक भेद और होता है, इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

**विशेषार्थ—**शरीर नामकर्म के वे पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं-१. औदारिक-औदारिक, २. औदारिक तैजस, ३. औदारिक कार्मण, ४. औदारिक तैजस कार्मण, ५. वैक्रियिक-वैक्रियिक, ६. वैक्रियिक तैजस, ७. वैक्रियिक कार्मण, ८. वैक्रियिक तैजसकार्मण, ९. आहारक आहारक, १०. आहारक तैजस, ११. आहारक कार्मण, १२. आहारक तैजस कार्मण, १३. तैजस-तैजस, १४. तैजस कार्मण, १५ कार्मण-कार्मण।

---

१४०. ब एतासु १४ वक्ष्यमाणा १० युक्ताः २४ प्रकृतयः ३। १४१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २७।

**टीका**—तिये इति औदारिकवैक्रियिकाहारकत्रयेण तैजस-कार्मणाभ्यां संयोगे कृते चतस्रश्चतस्रश्चतस्रः प्रकृतयः। तद्यथा–औदारिकौदारिक औदारिकतैजस औदारिककार्मण औदारिक-तैजसकार्मणाः। वैक्रियिकवैक्रियिक वैक्रियिकतैजस वैक्रियिककार्मण वैक्रियिकतैजसकार्मणाः। आहारकाहारक आहारकतैजस आहारककार्मण आहारकतैजसकार्मणाः। पुनस्तैजसे कार्मणेन संयोगे कृते तैजसतैजस तैजसकार्मण इति द्वे प्रकृती। पुनः कार्मणं कार्मणेन संयोगे तदा कार्मणकार्मण इत्येका प्रकृतिः। एवमेकत्रीकृताः पञ्चदश भवन्ति। एतासु औदारिकौदारिकादयः कार्मणकार्मणान्ताः सदृशद्विसंयोगाः पञ्च[142] पुनरुक्ता इति त्यक्त्वा शेषदशसु त्रिनवत्यां निक्षिप्तासु त्र्युत्तरं शतं नाम-कर्मोत्तरप्रकृतयो भवन्ति ॥६९॥

**ओरालिय वेउव्विय आहारय तेजणामकम्मुदए।**
**चउ णोकम्मसरीरा कम्मेव य होई कम्मइयं[143]॥१॥**

**पंच य सरीरबंधणणामं ओराल तह य वेउव्वं।**
**आहार तेज कम्मण सरीरबंधण सुणाममिदि॥७०॥**

**बन्धन नामकर्म के भेद**—बन्धन नामकर्म के पाँच भेद हैं–१. औदारिक शरीर-बन्धन, २. वैक्रियिक शरीर-बन्धन, ३. आहारक शरीर-बन्धन, ४. तैजस शरीर-बन्धन और ५. कार्मणशरीर-बन्धन।

**विशेषार्थ**—शरीर नामकर्म के उदय से जीव ने जो आहार वर्गणारूप पुद्गल के स्कन्ध ग्रहण किये हैं, उनका जिस कर्म के उदय से आपस में सम्बन्ध होता है, उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं।

**टीका**—शरीरबन्धननाम पञ्चप्रकारं भवति। बन्धनशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते–औदारिकशरीरबन्धनं नाम। तथा च वैक्रियिकशरीरबन्धनं नाम आहारकशरीरबन्धनं नाम तैजसशरीरबन्धनं नाम कार्मणशरीरबन्धनं नाम। किमिदं नाम बन्धनत्वमिति चेदौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्ता-नामाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धननाम। १२। २९ ॥७०॥

**पंच संघादणामं ओरालिय तह य जाण वेउव्वं।**
**आहार तेज कम्मण सरीरसंघादणाममिदि॥७१॥**

**संघात नामकर्म के भेद**—संघात नामकर्म पाँच प्रकार का है–१. औदारिक शरीर-संघात, २. वैक्रियिक शरीर-संघात, ३. आहारक शरीर-संघात, ४. तैजस शरीर-संघात और ५. कार्मण शरीर-संघात।

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीर के परमाणु आपस में मिलकर

---

१४२. ब औदारिकौदारिक १ वैक्रियिकवैक्रियिक २ आहारकाहारक ३ तैजसतैजस ४ कार्मणकार्मण ५ इति सदृशद्विसंयोगा पञ्च प्रकृतीः परिहृत्य उद्वरितं दशसु त्रिनवत्यां निक्षिप्तासु सतीसु। १४३. ब गाथेयं नास्ति।

छिद्ररहित बन्धन को प्राप्त होकर एक रूप हो जाते हैं, उसे संघात नामकर्म कहते हैं।

**टीका**—शरीरसंघातनाम पञ्चविधम्-औदारिकशरीरसंघातनाम तथा वैक्रियिकशरीरसंघातनाम आहारशरीरसंघातनाम तैजसशरीरसंघातनाम कार्मणशरीरसंघातनामेति जानीहि।५।२४।३४। किमिदं नाम संघात इति चेत् यदुदयादौदारिकादिशरीराणां विवरविरहितानां परस्परप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम ॥७१॥

**समचउरस णिग्गोहं सादी कुज्जं च वामणं हुंडं।**
**संठाणं छब्भेयं इदि णिद्दिट्ठं जिणागमे जाण॥७२॥**

**संस्थान नामकर्म के भेद—**

**गाथार्थ**—संस्थान नामकर्म के छह भेद जिनागम में कहे गये हैं जो इस प्रकार जानना चाहिए—१. समचतुरस्रसंस्थान, २. न्यग्रोधसंस्थान, ३. स्वातिसंस्थान, ४. कुब्जक-संस्थान, ५. वामन-संस्थान और ६. हुण्डकसंस्थान ॥७२॥

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार ऊपर नीचे तथा बीच में समान हो अर्थात् शरीर के अंगोपांगों की लम्बाई-चौड़ाई आदि सामुद्रिकशास्त्रानुसार यथास्थान ठीक-ठीक बने, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार न्यग्रोध (वट) वृक्ष के समान नाभि के ऊपर मोटा और नाभि के नीचे पतला हो, उसे न्यग्रोध परिमण्डलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार साँप की वामी के सदृश ऊपर पतला और नीचे मोटा हो, उसे स्वातिसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर कुबड़ा हो, उसे कुब्जकसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर बौना हो, उसे वामनसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग यथायोग्य न होकर हीनाधिक परिमाण को लिये हुए भयानक आकार वाले हों, उसे हुण्डकसंस्थान कहते हैं।

**टीका**—संस्थानं षड्भेदं परमागमे निर्दिष्टं जानीहि। समचतुरस्रशरीरसंस्थाननाम न्यग्रोधपरिमण्डल-संस्थाननाम स्वातिसंस्थाननाम कुब्जकसंस्थाननाम वामनसंस्थाननाम हुण्डक-संस्थाननाम ३०।४०। किमिदं नाम संस्थानम् ? यदुदयादौदारिकादिशरीराकारो[१४४]भवति तत्संस्थानमिति। [तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसम-स्थितिचक्रवदवस्थानकरं] तत्सम-चतुरस्रसंस्थानम्। यत उपरि विस्तीर्णो अधःसङ्कुचित-शरीराकारो भवति तन्न्यग्रोधपरिमण्डल-संस्थाननाम। यतोऽधोविस्तीर्ण उपरि संकुचितशरीराकारो भवति तत्स्वातिसंस्थाननाम। स्वातिवाल्मीकं तत्सादृश्यात्। यतो ह्रस्वसर्वशरीराकारो भवति तत्कुब्जक-

१४४. ब शरीराकृतिनिष्पत्तिः।

संस्थाननाम। यतो दीर्घहस्तपादा ह्रस्वक-बन्धश्चैवं शरीराकारो भवति तद् वामनसंस्थानम्। यतः पाषाणैः पूर्णगौणीवद् ग्रन्थ्यादिविषमशरीराकारो भवति, तत् हुण्डक संस्थाननाम ॥७२॥

**ओरालिय वेगुव्विय आहारय अंगुवंगमिदि भणिदं।**
**अंगोवंगं तिविहं परमागमकुसलसाहूहिं॥७३॥**

**अंगोपांग नामकर्म के भेद**—परमागम में कुशल साधुओं ने अंगोपांग नामकर्म के तीन भेद कहे हैं—१. औदारिक शरीर अंगोपांग, २. वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, ३. आहारक शरीर अंगोपांग ॥७३॥

**भावार्थ**—अंगोपांग नामकर्म के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है।

**टीका**—औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम इति शरीराङ्गोपाङ्गं त्रिविधं परमागमकुशलसाधुभिर्गणधरदेवैर्भणितम् ३३।४३। यदुदयादङ्गोपाङ्गं प्रकटीभवति तदाङ्गोपाङ्गनाम। औदारिकशरीरस्य चरणद्वय-बाहुद्वय-नितम्ब-पृष्ठ-वक्षः शीर्षभेदा-दष्टाङ्गानि, अङ्गुलीकर्णनासिकाद्युपाङ्गनि करोति यत्तदौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। एवं वैक्रियिकाऽऽहारक-शरीरयोरपि यदङ्गोपाङ्गकारकं तद्वैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गनामद्वयम् ॥७३॥

**अङ्गोपाङ्गानि दर्शनार्थं गाथामाह**—

**णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसो य।**
**अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं[१४५]॥७४॥**

**शरीर के आठ अंग**—शरीर में ये आठ अंग होते हैं—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब (कमर के पीछे का भाग), पीठ, हृदय और मस्तक। नाक, कान आदि उपांग कहलाते हैं।

**टीका**—नलकौ पादौ तथा बाहू हस्तौ एको नितम्बः एका पृष्ठिः उरोभागः शीर्षं चेत्यष्टौ अङ्गानि, शेषाणि अङ्गलीकर्णनासिकादीनि उपाङ्गानि देहे शरीरे भवन्ति ॥७४॥

**दुविहं विहायणामं पसत्थ-अपसत्थगमणमिदि णियमा।**
**वज्जरिसहणारायं वज्जंणाराय णारायं॥७५॥**

विहायोगति नामकर्म के नियम से दो भेद हैं—१. प्रशस्तविहायोगति, २. अप्रशस्तविहायोगति।

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि के समान उत्तम हो, उसे प्रशस्तविहायोगति नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट, गधे आदि के समान बुरी हो, उसे अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म कहते हैं।

**टीका**—विहायोगतिनाम द्विविधं द्विप्रकारं नियमात् निश्चयतः भवति। प्रशस्तविहायोगतिनाम अप्रशस्त-विहायोगतिनाम चेति। यत्कर्म विहायसि आकाशे अवकाशस्थाने गमनं करोति सा विहायोगतिः।

---

१४५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २८।

गजवृषभहंसादिवत् प्रशस्तं मनोज्ञं गमनं करोति सा प्रशस्तविहायोगतिनाम। खरोष्ट्रमार्जारादिवद-प्रशस्तममनोज्ञं गमनं करोति साऽप्रशस्तविहायोगतिनाम। ८। ४६ ॥७५॥

**अपरार्धगाथां वक्ष्यमाणगाथाग्रे भणिष्यामः—**

**तह अद्धं णारायं कीलिय संपत्तपुव्व सेवट्टं।**
**इति संहडणं छव्विहमणाइणिहणारिसे भणिदं॥७६॥**

**अब संहनन नामकर्म के भेद कहते हैं—**अनादिनिधन आर्ष में संहनन नामकर्म छह प्रकार का कहा गया है—१. वज्रवृषभ-नाराचसंहनन, २. वज्रनाराचसंहनन, ३. नाराचसंहनन, ४. अर्धनाराचसंहनन, ५. कीलकसंहनन और ६. असम्प्राप्ता-सृपाटिकासंहनन।

**टीका—**पूर्वोक्तगाथापरार्धे वज्जरिसहेत्यादि "वज्जरिसहणारायं वज्जणारायं णारायं" इति; वज्रवृषभनाराच-शरीरसंहनननाम वज्रनाराचशरीरसंहनननाम नाराचशरीरसंहनननाम अर्धनाराचशरीर-संहनननाम कीलितशरीरसंहनननाम असम्प्राप्तासृपाटिकाशरीरसंहनननाम इति संहननं षड्विधं अनादिनिधनेन ऋषिणा[१४६] भणितं आद्यन्तरहितेन ऋद्धिप्राप्तेन वृषभदेवेन कथितम्। ९। ४२। ५२ तेषां षट्संहनननानां विचारमाह-यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम। संहननमस्थिसंचयः, ऋषभो वेष्टनम्। वज्रवदभेद्यत्वाद् वज्रऋषभः। वज्रवन्नाराचो वज्रनाराचः। तौ द्वौ वज्रनाराचौ अपि यस्मिन् वज्रशरीरे संहनने [तद्] वज्रऋषभनाराचशरीरसंहननं नाम। एष एव वज्रास्थिबन्धो वज्रऋषभवर्जितः सामान्यवृषभ-वेष्टितो यस्योदयेन भवति तद् वज्रनाराचशरीरसंहनननाम। यस्य कर्मण उदयेन वज्रवृषभविशेषेण रहिता नाराचकीलिता अस्थिसन्धयो भवन्ति तन्नाराचशरीरसंहनननाम। यस्य कर्मण श्चोदयेनास्थिसन्धयो नाराचेनार्धं कीलिता भवन्ति तदर्धनाराचशरीरसंहनननाम। यस्योदयाद्वज्रास्थीनि कीलितानि भवन्ति तत्कीलितशरीरसंहनननाम। यस्योदयेनान्योन्यासम्प्राप्तानि सरीसृपसंहननवच्छिरा-बन्धनानि अस्थीनि भवन्ति तदसम्प्राप्तासृपाटिकाशरीरसंहनननाम ६[१४७]॥७६॥

**प्रत्येकसंहननस्वरूपकथनार्थं गाथाषट्कं प्राह—**

**जस्स [१४८]कम्मस्स उदए वज्जमयं अट्ठि रिसह णारायं।**
**तं संहडणं भणियं [१४९]वज्जरिसहणारायणाममिदि॥७७॥**

**वज्रवृषभनाराच संहनन का स्वरूप—**जिस कर्म के उदय से वज्रमय हड्डी ऋषभ (वेष्ठन) और नाराच (कील) हों, उसे वज्रवृषभनाराचसंहनन कहते हैं।

**टीका—**यस्य कर्मण उदये सति वज्रमयं वज्रवदभेद्यं अस्थिवृषभनाराचं तत्संहननं वज्रवृषभ-नाराचनामेति भणितम् ॥७७॥

---

१४६. विचिन्त्योऽयमर्थः। १४७. टीका प्रति में इस स्थल पर संहननों के चित्र दिये गये हैं, उन्हें परिशिष्ट में देखिए। १४८. त कम्मस्स जस्स। १४९. त णामेण य वज्जरिसहणारायं।

**जस्सुदए वज्जमयं अट्ठी णारायमेव सामण्णं।**
**रिसहो तस्संहडणं णामेण य वज्जणारायं॥७८॥**

**वज्रनाराचसंहनन का स्वरूप**—जिस कर्म के उदय से वज्रमय हड्डी और कीलें हों किन्तु वेष्ठन सामान्य हो अर्थात् वज्रमय न हो, उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं।

**टीका**—यस्य कर्मण उदयेन वज्रमयं अस्थि नाराचमेव द्वयं भवति सामान्यवृषभः। कोऽर्थः ? वज्रवद्दृढतररहितऋषभः सामान्यवेष्टनमित्यर्थः। तत्संहननं नाम्ना च वज्रनाराचं भणितम् ॥७८॥

**जस्सुदए वज्जमया हड्डा वो[१५०] वज्जरहिदणारायं।**
**रिसहो तं भणियव्वं णारायसरीरसंहडणं॥७९॥**

**नाराचसंहनन का स्वरूप**—जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ तो वज्रमय हों किन्तु वेष्ठन और कीलें वज्रमय न हों, उसे नाराचशरीरसंहनन कहना चाहिए।

**टीका**—यस्य कर्मण उदयेन वज्रमयानि हड्डानि। वा पादपूरणे, उ अहो। नाराचो वज्ररहितः, पुनः वृषभः वज्ररहितः तन्नाराचसंहननं भणितव्यम् ॥७९॥

**वज्जविसेसणरहिदा अट्ठीओ अद्धविद्धणारायं।**
**जस्सुदए तं भणियं णामेण य अद्धणारायं॥८०॥**

**अर्धनाराचसंहनन का स्वरूप**—जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ वज्रविशेषण से रहित हों और शरीर के अर्धभाग में कीलें लगी हों, उसे अर्धनाराचसंहनन कहते हैं।

**टीका**—यस्य कर्मण उदयेन वज्रविशेषणरहिताः अस्थिसन्धयः नाराचेन अर्धविद्धाः। कोऽर्थः? नाराचेनार्धं कीलिता इत्यर्थः। तन्नाम्ना अर्धनाराचसंहननं भणितम् ॥८०॥

**[१५१]जस्स कम्मस्स उदए अवज्जहड्डाइं खीलियाइं व।**
**दिढबंधाणि हवंति हु तं कीलियणामसंहडणं॥८१॥**

**कीलिकसंहनन का स्वरूप**—जिस कर्म के उदय से हड्डियाँ और कीलें वज्रमय न हों किन्तु हड्डियों में कीलें दृढ़ बन्धन वाली लगी हों, उसे कीलकसंहनन कहते हैं।

**टीका**—यस्य कर्मण उदयेन अवज्रास्थीनि कीलितानीव दृढबन्धनानि भवन्ति, हु स्फुटं तत्कीलिकनाम संहननं भवति ॥८१॥

**जस्स कम्मस्स उदए अण्णोण्णमसंपत्तहड्डसंधीओ।**
**णरसिर-बंधाणि हवे तं खु असंपत्तसेवट्टं॥८२॥**

**सृपाटिकासंहनन का स्वरूप**—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सन्धियाँ परस्पर में भिन्न हों

१५०. आ ओ। १५१. त कम्मस्स जस्स।

और नसों से बँधी हुई हों, उसे असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन कहते हैं।

**टीका**—यस्य कर्मण उदयेन अन्योन्यासम्प्राप्तास्थिसन्धयः सरीसृपवत् नरशिराबद्धाः खु स्फुटं तदसम्प्राप्तासृपाटिकं भवेत् ॥८२॥

**तेषां [संहननानां] कार्यमाह—**

**सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलो त्ति।**
**तत्तो दुजुगलजुगले कीलियणारायणद्धोत्ति[152]॥८३॥**

**अब उक्त संहनन वाले जीव स्वर्ग में कहाँ तक उत्पन्न हो सकते हैं यह बतलाते हैं**—सृपाटिका संहनन वाले जीव यदि स्वर्गों में उत्पन्न हों तो आदि स्वर्ग-युगल (सौधर्म-ऐशान) से लगाकर चौथे कल्पयुगल (लान्तव-कापिष्ठ) तक चार युगलों में अर्थात् आठवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं। पुनः दो-दो युगलों में कीलक और अर्धनाराच संहनन वाले जीव जन्म धारण करते हैं अर्थात् पाँचवें छठे स्वर्ग युगल में कीलक संहनन वाले और सातवें तथा आठवें स्वर्गयुगल में अर्धनाराच संहनन वाले जन्म ले सकते हैं।

**टीका**—सृपाटिकासंहननेन सौधर्मद्वयाल्लान्तवद्वयपर्यन्तं चतुर्षु युगलेषु समुत्पद्यते। तत उपरि युग्मद्वये क्रमेण कीलिकार्धनाराचसंहननाभ्यामुत्पद्यते। तद्यथा-असंप्राप्तासृपाटिकासंहननेन षष्ठेन जीवेन सौधर्मस्वर्गमारभ्य कापिष्ठस्वर्गपर्यन्तं ८ गम्यते। कीलिकासंहननेन पञ्चमेन जीवेन सहस्रारस्वर्गपर्यन्तं १२ गम्यते। चतुर्थेन अर्धनाराचसंहननेन अच्युतस्वर्गपर्यन्तं १६ गम्यते ॥८३॥

**[153]गेविज्जाणुदिसाणुत्तरवासीसु जंति ते[154] णियमा।**
**तिदुगेगे संहडणे णारायणमादिगे कमसो[155]॥८४॥**

नाराच आदि तीन संहनन वाले वज्रनाराच आदि दो संहनन वाले तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले जीव क्रमशः नौ ग्रैवेयकों में नौ अनुदिशों में और अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्पन्न हो सकते हैं अर्थात् आदि के तीन संहनन वाले नौ ग्रैवेयकों तक, आदि के दो संहनन वाले नौ अनुदिशों तक और प्रथम संहनन वाले जीव पंच अनुत्तर विमानों तक जन्म ले सकते हैं।

**टीका**—नाराचादिना संहननेन त्रयेण वज्रनाराचद्वयेन वज्रवृषभनाराचैकेन चोपलक्षिताः ते जीवाः क्रमशः अनुक्रमेण नवग्रैवेयक-नवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानेषु मोक्षे चोत्पद्यन्ते ॥८४॥

**सण्णी छस्संहडणो वच्चइ मेघं तदो परं चावि।**
**सेवट्टादीरहिदो पण-पण-चदुरेगसंहडणो[156]॥८५॥**

**अब किस संहनन वाले जीव किस नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं, यह बतलाते हैं**—छहों

१५२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २९। १५३. त णवगेवेज्जाणुद्दिसपंचाणुत्तरविमाण ते जांति। १५४. ज मे।
१५५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३०। १५६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३१।

संहनन वाले संज्ञी जीव यदि नरक में जन्म लेवें तो मेघा नामक तीसरे नरक तक जा सकते हैं। सृपाटिका संहनन रहित पाँच संहनन वाले अरिष्टा नामक पाँचवें नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। आदि के चार संहनन वाले जीव छटवें मघवी नामक नरक तक और वज्रवृषभनाराच संहनन वाले सातवें माघवी नामक नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

**टीका**—संज्ञी जीवः षट्संहननः मेघां व्रजति, तृतीयपृथ्वीपर्यन्तमुत्पद्यत इत्यर्थः। ततः परं चापि सृपाटिकारहितः कीलिकान्तः पञ्चसंहननः अरिष्टान्तपञ्चपृथिवीषु उत्पद्यते। अर्धनाराचान्तचतुःसंहननः मघव्यन्तषट्पृथ्वीषु समुत्पद्यते। वज्रवृषभनाराचसंहननो माघव्यन्तसप्तपृथ्वीषु उत्पद्यते ॥८५॥

**घम्मा वंसा मेघा अंजण रिट्ठा तहेव अणिवज्झा।**
**छट्ठी मघवी पुढवी सत्तमिया माघवी णाम॥८६॥**

**अब सातों नरकों की पृथ्वियों के नाम बतलाते हैं**—पहली घम्मा, दूसरी वंशा, तीसरी मेघा, चौथी अंजना, पाँचवीं अरिष्टा, छट्ठी मघवी और सातवीं पृथ्वी का नाम माघवी है। ये सभी नाम अनादि-निधन एवं अनवद्य हैं।

**टीका**—घम्मा वंशा मेघा अञ्जना अरिष्टा तथैव [१५७]अनियोध्या यादृच्छिकनामानः षष्ठी मघवी पृथ्वी सप्तमिका माघवी नाम, इति सप्त नारकनामानि ॥८६॥

**अथ गुणस्थानके संहननं कथयति—**

**मिच्छापुव्वदुगादिसु सगचदुपणठाणगेसु णियमेण।**
**पढमादियाइ छत्तिगि [१५८]ओघादेसे विसेसदो णेया[१५९]॥८७॥**

**अब गुणस्थानों में संहननों का निरूपण करते हैं**—ओघ की अपेक्षा मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानों में छहों संहनन वाले जीव, अपूर्वकरण आदि उपशम श्रेणी के चार गुणस्थानों में आदि के तीन संहनन वाले जीव और अपूर्वकरण आदि क्षपक श्रेणी के पाँच गुणस्थानों में प्रथम संहनन वाले जीव पाये जाते हैं। आदेश अर्थात् मार्गणा स्थानों में विशेष रूप से (आगमानुसार) जानना चाहिए।

**टीका**—मिथ्यादृष्ट्यादिसप्तगुणस्थानेषु षट् संहननानि भवन्ति। द्वि-अपूर्वकरणादिषु चतुर्षूपशमक-स्थानेषु[१६०] प्रथमत्रिकं भवति। पञ्चक्षपकस्थानेषु[१६१] प्रथमसंहननम् । इति गुणस्थानेषु सामान्यनिर्देश-लक्षणौघेन। विशेषतश्च [आदेशे] ज्ञेयानि ॥८७॥

**विलयचउक्के छट्ठं षढमं तु असंखआउजीवेसु।**
**चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो विय छत्तिगेक्क संहडणी॥८८॥**

---

१५७. ब अनियोध्या यादृच्छिकनामान आचार्याभिप्रायेण नामानः। १५८. अ ओघेण। १५९. त णेयो।
१६०. ब अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायोपशान्तकषायेषु उपशमश्रेणिसम्बन्धिषु वज्रवृषभादित्रयम्।
१६१. अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायसयोगिकेवलिषु प्रथमसंहननम्।

**जीवसमासों में संहनन का निरूपण**—विकल चतुष्क अर्थात् द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक चार जाति के जीवों में छठा असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन होता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमियाँ जीवों में पहला वज्रऋषभनाराचसंहनन होता है। अवसर्पिणी के चौथे काल में छहों संहनन वाले, पंचम काल में अन्तिम तीन संहनन वाले और छठे काल में अन्तिम एक सृपाटिका संहनन वाले जीव होते हैं।

**टीका**—द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियासंज्ञिजीवेषु षष्ठमसंप्राप्तासृपाटिकासंहननं भवति। तु पुनः प्रथमं संहननं वज्रवृषभनाराचं नागेन्द्रपर्वतात् स्वयंप्रभद्वितीयाभिधानादर्वाक् मानुषोत्तरपर्वतात्तु अर्वाक् असंख्यातजीविषु कुभोगभूमि-भोगभूमिमनुष्यतिर्यक्षु वज्रवृषभनाराचसंहननं प्रथममेव भवति। तथा [अवसर्पिण्याः] कर्मभूमौ चतुर्थकाले पञ्चमकाले षष्टकाले च क्रमेण षट् त्रीणि अन्त्यानि एकं च सृपाटिकाषष्ठं संहननानि भवन्ति ॥८८॥

**सव्वविदेहेसु तहा विज्जाहर-मिलिच्छमणुय-तिरिएसु[१६२]।**
**छस्संहडणा भणिया णगिंदपरदो य तिरिएसु॥८९॥**

सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रों में तथा विद्याधर म्लेच्छ मनुष्यों में और तिर्यंचों में छहों संहनन वाले जीव कहे गये हैं। नागेन्द्र पर्वत से परवर्ती तिर्यंचों में भी छहों संहनन कहे गये हैं।

**टीका**—भरतैरावतास्थिरकालभावादुक्तम्। सर्वविदेहेषु विद्याधरश्रेणि-म्लेच्छखण्डमनुष्य-तिर्यक्षु मानुषोत्तर-पर्वतवत् स्वयंप्रभद्वीपमध्यं मर्यादीकृत्य नागेन्द्रनामा पर्वतोऽस्ति। तस्मात् नागेन्द्रपर्वतात्परतः स्वयंभूरमण-समुद्रपर्यन्तं तिर्यक्षु च वज्रवृषभनाराचाद्यानि सृपाटिकापर्यन्तानि षट् संहननानि भवन्ति ॥८९॥

**अंतिमतिगसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।**
**आदिमतियसंहडणं णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं[१६३]॥९०॥**

**कर्मभूमिज स्त्रियों के संहनन का वर्णन**—कर्मभूमि की महिलाओं के अन्तिम तीन संहननों का उदय होता है, उनके आदि के तीन संहनन नहीं होते ऐसे जिनेन्द्र देवों ने कहा है।

**टीका**—कर्मभूमिद्रव्यस्त्रीणां अन्तिमत्रिकसंहनननानामुदयो भवति। अर्धनाराच कीलिका सृपाटिका संहननत्रिकं कर्मभूमिद्रव्यस्त्रीणां भवतीत्यर्थः। पुनस्तासां आदिमत्रिकसंहननोदयो नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम्। वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच नाराच संहननत्रिकं कर्मभूद्रव्यस्त्रीणां न भवतीत्यर्थः। तत्रार्धनाराचसंहननेन तासां षष्ठनरके[१६४] उत्पादः, अच्युतस्वर्गपर्यन्ते च तासामुत्पादो भवति। न तु नवग्रैवेयकादिषु मोक्षे चोत्पादः। संहनननानामधिकारं प्राप्यान्यग्रन्थोक्तसंहननादि[१६५] विशेषमाह—

---

१६२. त सव्वविदेहे विज्जाहरे मिलिच्छे य मणुसतिरिएसु। १६३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३२। १६४. ब षष्ठभूमौ। १६५. ब संहननविशेष।

**सण्णी छस्संहडणी उववादिगवज्जिया हु जायंति।**
**उड्ढाधतिरियलोए दव्वादिसु जोगमासेज्ज ॥१०॥**

**टीका—**संज्ञिनो जीवा औपपादिकदेवनारकवर्जिताः षट्संहनना भवन्ति-वज्रवृषभनाराचं वज्रनाराचं [नाराचं] अर्धनाराचं अर्धमस्थि भित्वा स्थितमर्धनाराचम् कीलिकाऽस्थिरहिता मांसमध्ये स्थिता असृक्पाटिका अंबिलिका[१६६] बहिस्त्वगावृतं संहननम् इति षट् संहननाः सन्तः द्रव्यादियोगमाश्रित्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकेषूत्पद्यन्ते।

**लद्धियपज्जत्ताणं चरिमं सव्वाण होदि हु तसाणं।**
**परिहारसंजमम्मि हु पढमतियं जिणवरुद्दिट्ठं ॥११॥**

लब्धिविषयेऽपर्याप्ता येषां पर्याप्तिलब्धिर्न भविष्यतीत्यर्थः। तेषां लब्ध्यपर्याप्तानां सर्वत्रसानां च असृपाटिकाभिधानं चरमसंहननं भवति। परिहारविशुद्धिसंयतेषु प्रथमसंहननत्रिकं जिनोक्तम्।

अथ च संहननरहिताः के भवन्तीत्याह—

**अणाहारऽलेसकम्मे वेउव्वाहारऽजोग एयक्खे।**
**संघडणाणमभावो आदेसपरूवणे जाण ॥१२॥**

अनाहारकेषु संहननानामभावः। के अनाहारका इति चेदाह—

**विग्गहगइमावण्णा समुग्घया हु केवली अयोगी य।**
**एदे हु अणाहारा सेसा आहारया जीवा[१६७]॥१३॥**

अलेश्येषु सिद्धेषु कार्मण-वैक्रियकाऽऽहारकशरीरेषु अयोगिकेवलिषु एकाक्षेषु च संहननाभावः आदेशप्ररूपणे गुणजीवेत्यादिविंशतिप्ररूपणायां जानीहि।

**पंच य वण्णा सेदं पीदं हरिदरुणकिण्णवण्णमिदि।**
**गंधं दुविहं लोए सुगंध-दुग्गंधमिदि जाणे॥९१॥**

**अब नामकर्म के शेष भेदों का प्रतिपादन करते हैं—**जिस कर्म के उदय से शरीर में श्वेत आदि वर्ण उत्पन्न हों, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं। वर्ण नामकर्म के पाँच भेद हैं—श्वेत, पीत, हरित, अरुण (लाल) और कृष्णवर्ण नामकर्म। जिस कर्म के उदय से शरीर में गन्ध उत्पन्न होती है, उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। गन्ध नामकर्म लोक में सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो प्रकार का जानना चाहिए।

**टीका—**श्वेत-पीत-हरितारुण-कृष्णवर्णा इति पञ्च वर्णाः भवन्ति, यद्धेतुको वर्णविकार-स्तद्वर्णनाम।* वा स्वशरीराणां श्वेतादिवर्णान् यत्करोति तद्वर्णनाम*। १०। ४०। ५७ लोके गन्धनाम द्विविधम्-सुगन्धनाम १ दुर्गन्धनामेति २ जानीहि। यदुदयात्प्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम। *वा स्व-स्वशरीराणां स्व-स्वगन्धं करोति यत्तद्गन्धनाम* ११। ४९। ५९ ॥९१॥

---

१६६. ब चीचिंणी। १६७. गोम्मटसार जीवकाण्ड ६६५। * ब प्रतौ चिन्हान्तर्गतपाठो न विद्यते।

**तित्तं कडुय कसायं अंबिल महुरमिदि पंच रसणामं।**
**मउगं कक्कस गुरु लघु सीदुण्हं णिद्ध रुक्खमिदि॥९२॥**

जिस कर्म के उदय से शरीर में मधुर आदि रस उत्पन्न होते हैं, उसे रस नामकर्म कहते हैं। रस नामकर्म पाँच प्रकार का है—तिक्त (चरपरा), कटु, कषाय (कसैला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा) रस नामकर्म। जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल कठोर आदि स्पर्श उत्पन्न होते हैं, उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। स्पर्श नामकर्म के आठ भेद हैं—मृदु (कोमल), कर्कश (कठोर), गुरु (भारी), लघु (हल्का), शीत (ठण्डा), उष्ण (गर्म), स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा)।

**टीका—**यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम।❋ वा स्वशरीराणां स्वस्वरसं करोति यत्तद्रसनाम।❋ तत्पञ्चविधम्-तिक्तनाम कटुकनाम कषायनाम आम्लनाम मधुरनाम।❋ लवणो नाम रसो लौकिकः षष्ठोऽस्ति, स, मधुररसभेद एवेति परमागमे पृथक् नोक्तः। लवणं विना इतररसानां स्वादुत्वाभावात्❋। १२। ५४। ६४। यस्योदयात्स्पर्शप्रादुर्भावः [तत्स्पर्शनाम]। ❋वा स्वशरीराणां स्व-स्वस्पर्शं करोति❋। तत्स्पर्शनामाष्ट-विकल्पम्-मृदुनाम कर्कशनाम लघुनाम गुरुनाम शीतनाम उष्णनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम चेति स्पर्शनामाष्टविकल्पमिति पदमग्रगाथास्थम्। १३। ६२। ७२ ॥९२॥

**फासं अट्ठवियप्पं चत्तारि आणुपुव्वि अणुकमसो।**
**णिरयाणू तिरियाणू णराणु देवाणुपुव्वि त्ति ॥९३॥**

जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। आनुपूर्वी नामकर्म के अनुक्रम से ये चार भेद जानना चाहिए—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी।

**टीका—**पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यं नाम। चत्वारि आनुपूर्व्याणि अनुक्रमेण नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम देवगति-प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम चेति। १४। ६६। ७६॥९३॥

**एदा चउदस[१६८] पिंडा [१६९]पयडीओ वण्णिदा समासेण।**
**एत्तो[१७०] अपिंडपयडी अडवीसं वण्णइस्सामि ॥९४॥**

इस प्रकार उपर्युक्त चौदह पिण्डप्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन किया। अब इससे आगे अट्ठाईस अपिण्ड प्रकृतियों का वर्णन करेंगे।

**टीका—**एताश्चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः १४ समासेन वर्णिताः। अतः परं अपिण्डप्रकृतिरष्टाविंशतिः ताः वयं वर्णयिष्यामः॥९४॥

---

१६८. त चोद्दस। १६९. पिंडप्पयडीओ। १७०. आ इत्तो, त एत्तोऽपिंडप्पयडी। ❋ ब प्रतौ चिन्हान्तर्गतपाठो न विद्यते।

**अगुरुलहुग उवघादं परघादं च जाण उस्सासं।**
**आदावं उज्जोवं छप्पयडी अगुरुछक्कमिदि॥९५॥**

**अगुरुलघुषट्क का स्वरूप**—अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप और उद्योत। इन छह प्रकृतियों को अगुरुषट्क जानना चाहिए।

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के पिण्ड समान न तो इतना भारी हो जो नीचे गिर जाये और न अर्क-तूल (आकड़े की रुई) के समान इतना हलका हो कि आकाश में उड़ जाय, ऐसे अगुरुलघु अर्थात् गुरुता-लघुता से रहित शरीर की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से होती है, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से अपना ही घात करने वाले शरीर के अवयव हों, उसे उपघातनामकर्म कहते हैं। जैसे बारह सिंगे के सींग होना, पेट की तोंद निकलना, भारी लम्बे स्तन होना आदि उपघातकर्म के उदय से ही उत्पन्न होते हैं। जिस कर्म के उदय से दूसरे के घात करने वाले अवयव होते हैं, उसे परघातनामकर्म कहते हैं। जैसे शेर-चीते आदि की विकराल दाढ़ें, पंजे के तीक्ष्य नख होना, साँप की दाढ़ और बिच्छू की पूँछ में विष होना आदि। जिस कर्म के उदय से जीव श्वास और उच्छ्वास लेता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्णता-रहित किन्तु प्रभा उष्णता-सहित प्रकाशमान होती है, उसे आतपनामकर्म कहते हैं। इस कर्म का उदय सूर्य मण्डल के पृथ्वीकायिक जीवों के होता है। जिस कर्म के उदय से स्वयं शीतल रहते हुए भी शरीर की प्रभा भी शीतल एवं प्रकाशमान होती है, वह उद्योतनामकर्म है। उद्योत नामकर्म का उदय चन्द्रबिम्ब के पृथ्वीकायिक जीवों में, जुगुनुओं में एवं अन्य भी तिर्यंचों में पाया जाता है। इन छह प्रकृतियों की आगम में 'अगुरुषट्क' संज्ञा है अर्थात् जहाँ पर अगुरुषट्क का उल्लेख आवे वहाँ पर उपर्युक्त छह प्रकृतियों को लेना चाहिए।

**टीका**—अगुरुलघुकं उपघातः परघातः उच्छ्वासः आतपः उद्योतः इति षट् प्रकृतयः। एतासां आगमे 'अगुरुषट्कसंज्ञा' [इति हे शिष्य त्वं] जानीहि। २०। ७२। ८२। यस्योदयात् अयःपिण्डवत् गुरुत्वात् न च पतति, न चार्कतूलवत् लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम। उपेत्य घात इत्युपघातः, आत्मघात इत्यर्थः। यस्योदयादात्मघातावयवा महाशृङ्ग-लम्बस्तन-तुन्दोदरादयो भवन्ति, तदुपघातनाम। परेषां घातः परघातः। यदुदयात्तीक्ष्णशृङ्ग-नखविषसर्पदाढादयो भवन्ति अवयवास्तत्परघातनाम। यद्धेतुरुच्छ्वासस्त-दुच्छ्वासनाम। यदुदयात् निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम। तदप्यादित्यबिम्बोत्पन्नबादर-पर्याप्तपृथ्वीकायिक-जीवेष्वेव वर्त्तते। यस्योदयात् उद्योतनं तदुद्योतनाम। तच्चन्द्रे खद्योतादिषु च वर्तते ॥९५॥

तदातपोद्योतस्थानगाथामाह—

**मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा।**
**आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोवो[१७१]॥९६॥**

**अब अग्नि, आतप और उद्योत प्रकृति में अन्तर बताते हैं—**अग्नि की मूल और प्रभा दोनों उष्ण होते हैं अतः अग्नि के उष्ण स्पर्शनामकर्म का उदय जानना चाहिए, किन्तु जिसके आतप नामकर्म का उदय होता है उसका मूल तो शीतल होता है पर प्रभा उष्णतासहित होती है। इस आतपनामकर्म का उदय सूर्य के बिम्ब में उत्पन्न हुए बादरपर्याप्त पृथ्वीकायिक तिर्यंच जीवों के होता है। जिसके उद्योतनामकर्म का उदय होता है उसका मूल और प्रभा ये दोनों ही उष्णतारहित अर्थात् शीतल होते हैं। इस नामकर्म का उदय चन्द्रबिम्ब में उत्पन्न होने वाले पृथ्वीकायिक जीवों में तथा खद्योत (जुगुनू) आदि विशेष तिर्यंचों में होता है।

**टीका—**मूले उष्णप्रभः अग्निः, उष्णसहितप्रभः आतपः। स चादित्यबिम्बोत्पन्नबादर-पर्याप्तपृथ्वीकायतिरश्चि भवति। उष्णरहितप्रभः शीतलप्रभ उद्योतः। स चन्द्रखद्योतादिषु भवति ॥९६॥

**तस थावरं च बादर सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं।**
**पत्तेयसरीरं पुण साहारणसरीर थिरमथिरं ॥९७॥**
**सुह असुह सुहग दुब्भग सुस्सर दुस्सर तहेव णायव्वा।**
**आदिज्जमणादिज्जं[१७२] जस अजसकित्ति णिमिण तित्थयरं ॥९८॥**

**अपिण्ड प्रकृतियों का निरूपण—**त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येकशरीर-साधारणशरीर, स्थिर-अस्थिर शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, आदेय-अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर ये शेष अपिण्ड प्रकृतियाँ जानना चाहिए।

**टीका—**त्रसप्रकृतिनाम स्थावरप्रकृतिनाम बादरप्रकृतिनाम। सूक्ष्मप्रकृतिनाम पर्याप्तप्रकृतिनाम तथा अपर्याप्तप्रकृतिनाम प्रत्येकशरीरनाम पुनः साधारणशरीरप्रकृतिनाम स्थिरप्रकृतिनाम अस्थिरप्रकृतिः शुभनाम अशुभनाम सुभगनाम दुर्भगनाम सुस्वरनाम दुःस्वरनाम तथैव आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्त्तिनाम अयशःकीर्तिनामः निर्माणनाम तीर्थकरनाम इति ज्ञातव्याः ॥९७-९८॥

**तस बादर पज्जत्तं पत्तेयसरीर थिर सुहं सुभगं[१७३]।**
**सुस्सर आदिज्जं पुण जसकित्ति णिमिण तित्थयरं॥९९॥**
**[तसद्वादसयं]**

**त्रस द्वादशक का निरूपण—**त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर,

---

१७१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३३। १७२. त आदेज्जमणादेज्जं। १७३. त सुहगं।

आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर इन बारह प्रकृतियों को त्रस-द्वादशक कहते हैं।

**विशेषार्थ**—जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय या सकलेन्द्रिय जीवों में जन्म हो, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को आघात करने वाला शरीर हो, उसे बादर नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से आहार आदि पर्याप्तियों की पूर्णता हो, उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं। पर्याप्तियों के छह भेद हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। आहारवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों का खल और रस रूप से परिणत होने की शक्ति पाना आहारपर्याप्ति है। खल भाग को हड्डी आदि कठिन अवयवों के रूप में और रस भाग को रक्त आदि के रूप में परिणमन की शक्ति पाना शरीर पर्याप्ति है। आहार वर्गणा के पुद्गलस्कन्धों का इन्द्रियों के आकार परिणमन करने की शक्ति पाना इन्द्रियपर्याप्ति है। आहार वर्गणा के पुद्गलों को श्वास-उच्छ्वास के रूप में परिणमन की शक्ति पाना श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति है। भाषावर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को वचन रूप से परिणमन की शक्ति पाना भाषापर्याप्ति है। मनोवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों का विचार करने वाले मन के रूप में परिणमन की शक्ति पाना मनःपर्याप्ति है। इनमें से एकेन्द्रिय जीवों के ४, विकलेन्द्रियों के ५ और संज्ञी जीवों के ६ पर्याप्तियाँ होती हैं। जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु-उपधातु यथास्थान स्थिर रहें, वह स्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों, वह शुभ नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव दूसरों का प्रीतिभाजन हो, वह सुभग नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से स्वर उत्तम हो, वह सुस्वर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से शरीर में प्रभा-कान्ति हो, वह आदेय नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से यश फैले, वह यशः कीर्ति नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग-उपांग यथास्थान और यथाप्रमाण उत्पन्न हों, वह निर्माण नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव त्रिलोकपूजित तीर्थंकर पद को पावे, वह तीर्थंकर नामकर्म है। आगम में उक्त १२ प्रकृतियों की संज्ञा त्रस-द्वादशक है।

**टीका**—त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ सुभग सुस्वर आदेय यशःकीर्त्ति निर्माण तीर्थकरनामेति द्वादशप्रकृतयः त्रसद्वादशकमिति संज्ञा[१७४] परमागमे भण्यते। एतासां द्वादशप्रकृतीनां व्युत्पत्तिपूर्वकनामान्याहयदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम । यदुदयादन्यबाधाकरं शरीरं भवति तद् बादरनाम। यदुदयादाहारदिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम। तत् षड्विधम्—आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वास-निःश्वासभाषामनःसम्बन्धेन षोढा भवतीत्यर्थः। तत्र आहारवर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धानां खलरस-भागरूपेण परिणमने आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः। खलभागमस्थ्यादिकठिनावयवरूपेण रसभागं च रसरुधिरादिद्रवावयवरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः। स्पर्शनादीन्द्रियाणां

१७४. ब सिद्धान्ते।

योग्यदेशावस्थितस्वस्वविषयग्रहणे जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः। आहारवर्गणाऽऽयात-पुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्तिः। भाषावर्गणाऽऽयातपुद्गलस्कन्धान् सत्यादिचतुर्विधवाक्स्वरूपेण परिणमयितुं जीवशक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः। दृष्टश्रुतानुमितार्थानां गुणदोषविचारणादिरूपभावमनःपरिणमने मनोवर्गणाऽऽयात-पुद्गलस्कन्धान् द्रव्यमनोरूपपरिणामेन परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः। षट्मिलिता एका पर्याप्तिप्रकृतिः। शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानशरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति, तत्प्रत्येक-शरीरनाम । यस्योदयाद् रसादिधातू-पधातूनां स्वस्वस्थाने स्थिरभावनिर्वर्तनं भवति तत्स्थिरनाम।

तदुक्तञ्च—

**रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते।**
**मेदतोऽस्थि ततो मज्जं मज्जाच्छुक्रं ततः प्रजाः[175]॥१४॥**
**वातः पित्तं तथा श्लेष्माशिरास्नायुश्च चर्म च।**
**जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः॥१५॥**

धातु प्रमाण ७ फल दिन ३० इच्छा धातु १ लब्ध दिन ४ २/७।

यदुदयाद्रमणीया मस्तकादिप्रशस्तावयवा भवन्ति, तच्छुभनाम। यदुदयादन्यप्रीति-प्रभवस्तत्सुभगनाम। यस्मान्निमित्ताज्जीवस्य मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तत्सुस्वरनाम। प्रभोपेतशरीर-कारणमादेयनाम। पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम । यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणनाम। तद्विविधम्-स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति। तत्र जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति, निर्मीयतेऽनेनेति वा निर्माणम्। आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वं नाम। इति त्रसद्वादशकं भवति। पिण्डप्रकृतयः। अपिण्डप्रकृतयः ॥९९॥

**थावर सुहुममपज्जत्तं साहारणसरीरमथिरं च।**
**असुहं दुब्भग दुस्सर णादिज्जं अजसकित्ति त्ति ॥१००॥**

**स्थावरदशक का वर्णन—**स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये दश प्रकृतियाँ स्थावरदशक कहलाती हैं।

**विशेषार्थ—**जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म हो, वह स्थावर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से अन्य को बाधा नहीं करने वाला और वज्रपटल के द्वारा भी नहीं रोके जाने वाला ऐसा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो, वह सूक्ष्म नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, वह अपर्याप्त नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से अनेक जीवों के उपभोग योग्य शरीर की प्राप्ति हो अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी हों, वह साधारण शरीर नामकर्म है। जिस

१७५. ब लोकाः जनाः।

कर्म के उदय से शरीर के धातु और उपधातु स्थिर न रह सकें, वह अस्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों, वह अशुभ नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी अन्य का प्रीतिपात्र न हो सके, वह दुर्भग नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से गधे, ऊँट, गीदड़ जैसा बुरा स्वर मिले, वह दु:स्वर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से शरीर प्रभा और कान्ति से हीन प्राप्त हो, वह अनादेय नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से संसार में अपयश फैले, वह अयश:कीर्ति नामकर्म है। इन दश प्रकृतियों की आगम में स्थावरदशक संज्ञा है।

**टीका**—स्थावर सूक्ष्मा पर्याप्त साधारणशरीरास्थिराशुभदुर्भगदु:स्वरानादेयायश:कीर्तीति स्थावरदश-संज्ञं ज्ञातव्यम्। तन्निरुक्तिमाहयन्निमित्तादेकेन्द्रियेषु प्रादुर्भावस्तत्स्थावरनाम। सूक्ष्मशरीरनिर्वर्त्तकं सूक्ष्मनाम। षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तनाम। बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं भवति शरीरं यतस्तत्साधारणशरीरनाम। तद्यथा—

**[१७६]साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।**
**साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं[१७७]॥१६॥**
**गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।**
**साहारणं शरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं[१७८]॥१७॥**
**कंदे मूले छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीए।**
**समभंगे सदि णंता विसमे सदि होंति पत्तेया[१७९]॥१८॥**

धातूपधातूनां स्थिरभावेनानिर्वर्तनं यतस्तदस्थिरनाम। यदुदयेनारमणीय-मस्तकाद्यवयवनिर्वर्तनं भवति तदशुभनाम। यदुदयाद् रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिं विदधाति जन: तद्दुर्भगनाम। यन्निमित्ताज्जीवस्य खरोष्ट्रश‍ृगालादिवदमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तद्दु:स्वरनाम। निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम। पुण्ययश:प्रयत्नीकफलमयश:कीर्त्तिनाम। इति स्थावरदशकं सिद्धान्ते भणितम्। पिण्डप्रकृति: ४२। अपिण्डप्रकृति: ९३। अथवा १०३ ॥१००॥

**इदि णामप्पयडीओ तेणवदी, उच्चणीचमिदि दुविहं।**
**गोदं कम्मं भणिदं पंचविहं अंतरायं तु ॥१०१॥**

ये उपर्युक्त नामकर्म की सब मिलाकर तेरानवे प्रकृतियाँ जानना चाहिए। गोत्रकर्म दो प्रकार का कहा गया है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जिस कर्म के उदय से लोक-पूजित कुल में जन्म हो, वह उच्चगोत्र और लोक-निन्द्य कुल में जन्म हो, वह नीच गोत्र है। अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

---

१७६. ब इमा: गाथा न सन्ति। १७७. पञ्चसं० १, ८२। गोम्मटसार जीवकाण्ड १९१। १७८. गोम्मटसार जीवकाण्ड १८६। १७९. गोम्मटसार जीवकाण्ड १८७।

**टीका**—इति नामकर्मणः पिण्डापिण्डप्रकृतयः ४२। पृथग्भेदेन प्रकृतिस्त्रिनवतिः ९३। औदारिक-तैजसं औदारिक-कार्मणं औदारिक-तैजस-कार्मणं वैक्रियिक-तैजसं वैक्रियिक-कार्मणं वैक्रियिक-तैजस-कार्मणं आहारक-तैजसं आहारक-कार्मणं आहारक-तैजस-कार्मणं तैजस-कार्मणं इति दशप्रकृतिमेलिताः नामकर्मण उत्तरप्रकृतयः १०३ त्र्यधिकं शतं भवति। गोत्रकर्म द्विविधं भणितम्-उच्चगोत्रं नीचगोत्रमिति। यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म भवति तदुच्चगोत्रम्। यदुदयेन तद्विपरीतेषु गर्हितेषु कुलेषु जन्म भवति तन्नीचैर्गोत्रम् । तु पुनरन्तरायकर्म पञ्चविधं भणितम् ॥१०१॥

**तद्गाथामाह—**

**तह दाण लाह भोगुवभोगा विरिय अंतरायमिदि णेयं।**
**इदि सव्वुत्तरपयडी अडदालसयप्पमा[180] होंति॥१०२॥**

**अन्तराय कर्म के भेद**—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच अन्तराय कर्म के भेद जानना चाहिए। जिस कर्म के उदय से दान देने की इच्छा रखने पर भी दे न सके, वह दानान्तराय है। जिस कर्म के उदय होने पर लाभ न हो सके, वह लाभान्तराय है। जिस कर्म के उदय होने पर भोगने की इच्छा रखने पर भी भोग न सके, वह भोगान्तराय है। जिसके उदय होने पर स्त्री आदिक उपभोगों को न भोग सके, वह उपभोगान्तराय है। जिसके उदय होने पर शरीर में बल-वीर्य प्राप्त न हो सके, वह वीर्यान्तराय कर्म है। इस प्रकार आठों कर्मों की सभी उत्तर प्रकृतियाँ (५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८) एक सौ अड़तालीस होती हैं।

**टीका**—तथा दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायमिति पञ्चविधं ज्ञेयम्। यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति तद्दानान्तरायः। यदुदयाल्लब्धुकामोऽपि न लभते तल्लाभान्तरायः। तदुदयाद् भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते [तद्भोगान्तरायः।] यदुदयादुपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते तदुपभोगान्तरायः। यदुदयादुत्सहितु-कामोऽपि नोत्सहते तद्वीर्यान्तरायः। अथवा दानस्य विघ्नहेतुर्दानान्तरायः। लाभस्य विघ्नहेतुर्लाभान्तरायः। भुक्त्वा परिहातव्यो भोगस्तस्य विघ्नहेतुर्भोगान्तरायः। भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य उपभोगः, तस्य विघ्नहेतुरुपभोगान्तरायः। वीर्यं शक्तिः सामर्थ्यम्। तस्य विघ्नहेतुर्वीयान्तरायः। इति सर्वेषां कर्मणां उत्तरप्रकृतयः अष्टचत्वारिंशच्छतप्रमाः १४८ भवन्ति। उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदा वाग्गोचरा न भवन्ति ॥१०२॥

**अथ नामोत्तरप्रकृतिष्वभेदविवक्षायामन्तर्भावं दर्शयति—**

**देहे अविणाभावी बंधण संघाद इति अबंधुदया।**
**वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये[181]॥१०३॥**

**अब नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों में अभेद-विवक्षा से कौन प्रकृति किसमें सम्मिलित हो सकती है, वह दिखलाते हैं**—शरीर नामकर्म के साथ अपना-अपना बन्धन और अपना-अपना

१८०. त अडदालुत्तरसयं। १८१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३४।

संघात, ये दोनों कर्म अविनाभावी हैं अर्थात् ये दोनों शरीर के बिना नहीं हो सकते। इस कारण पाँच बन्धन और पाँच संघात ये दश प्रकृतियाँ बन्ध और उदय अवस्था में अभेद विवक्षा से पृथक् नहीं गिनी जातीं, किन्तु उनका शरीरनाम कर्म में ही अन्तर्भाव हो जाता है तथा सामान्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार में ही इनके उत्तर बीस भेद सम्मिलित हो जाते हैं अतएव अभेद की अपेक्षा इनके भी बन्ध और उदय अवस्था में चार ही भेद गिने जाते हैं।

**टीका—**देहे औदारिकादिपञ्चविधशरीरनामकर्मणि स्व-स्वबन्धनसंघातौ अविनाभाविनौ, इति कारणात् अबन्धोदयौ प्रकृती बन्धन-संघातौ न भवतः, तत्र त्र्युत्तरभेदभिन्ने नामकर्मणि एतौ बन्धन-संघातौ पृथक् प्रोक्तौ इत्यर्थः। वर्णचतुष्के वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शसामान्यचतुष्के अभिन्ने अभेदविवक्षायां एकैकस्मिन्नेव गृहीते सत्त्वादन्यत्र बन्धोदययोश्चतस्र एव प्रकृतयो भवन्ति। शेष षोडशानां पृथक् कथनं नास्तीत्यर्थः ॥१०३॥

**ताः का इति चेदाह—**

**वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त [१८२]सम्ममिच्छतं।**
**होंति अबंधा बंधण पण पण संघाद सम्मत्तं॥१०४॥**

**अब ग्रन्थकार अबन्ध प्रकृतियों को अर्थात् जिनका बन्ध नहीं होता, उन प्रकृतियों को गिनाते हैं—**चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, पाँच बन्धन और पाँच संघात ये अट्ठाईस अबन्ध प्रकृतियाँ हैं अर्थात् इनके अतिरिक्त शेष एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्ध-योग्य होती हैं।

**विशेषार्थ—**इस गाथा में अट्ठाईस अबन्ध प्रकृतियों की संख्या गिना करके अगली १०५वीं गाथा में बन्ध-योग्य १२० प्रकृतियों को बतलाया गया है। सो यह कथन अभेद विवक्षा से जानना चाहिए; क्योंकि भेद की विवक्षा से आगे ग्रन्थकार स्वयं ही १०७वीं गाथा में बन्ध-योग्य प्रकृतियों की संख्या १४६ बतला रहे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यतः शरीर नामकर्म के बन्ध के साथ ही बन्धन और संघात नामकर्म इन दोनों प्रकृतियों का बन्ध अविनाभावी है अर्थात् नियम से होता है। अतः शरीर नामकर्म का बन्ध कह देने पर पाँचों बन्धन और पाँचों संघात स्वतः ही गृहीत हो जाते हैं। इस विवक्षा में उन्हें अबन्धप्रकृतियों में गिनाया गया है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बन्धन और संघात बन्ध-योग्य ही नहीं हैं। भेद-विवक्षा से उनका बन्ध होता ही है और प्रतिसमय बँधने वाले समय प्रबद्ध में से उन्हें प्रदेश-विभाजन के नियमानुसार विभाग मिलता ही है। इसी प्रकार सामान्य वर्णचतुष्क के कहने पर उनके सभी उत्तर भेद भी स्वतः गृहीत हो जाते हैं। इस गाथा में जो यह कहा गया है कि चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध और सात स्पर्श ये अबन्धप्रकृतियाँ हैं; उसका भी यह अभिप्राय नहीं

---

१८२. ब मिच्छत्तं।

समझना कि एक समय में पाँचों वर्णों में से किसी एक का ही बन्ध होता है, शेष चार का नहीं, पाँचों रसों में से किसी एक रस का बन्ध होता है, शेष चार का नहीं, दो गन्धों में से किसी एक का बन्ध होता है, दूसरी का नहीं तथा आठों स्पर्शों में से किसी एक का बन्ध होता है, शेष सात का नहीं। वस्तुतः वर्णचतुष्क की सभी उत्तर प्रकृतियों का प्रतिसमय बन्ध होता है और साथ ही सभी को प्रदेश-विभाग भी प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ने एक सामान्य वर्ण, एक सामान्य रस, एक सामान्य गन्ध और एक सामान्य स्पर्श की विवक्षा से अर्थात् अभेद-दृष्टि से इन चारों को एक-एक मानकर शेष रही संख्या को अबन्धप्रकृतियों के रूप में निर्देश कर दिया है और इसलिए अभेद विवक्षा से आगे १०७वीं गाथा में बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १४६ बतायी गयी हैं। वास्तव में देखा जाये तो सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति ये दो ही प्रकृतियाँ ऐसी हैं कि जिनका बन्ध नहीं होता। यही कारण है कि भेद-विवक्षा करने पर भी बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १४६ ही बतलायी गयी है, १४८ नहीं। जो बात बन्ध-योग्य प्रकृतियों के विषय में कही गयी है, वही उदययोग्य प्रकृतियों के विषय में भी जानना चाहिए अर्थात् अभेद-विवक्षा से १२२ प्रकृतियाँ उदय-योग्य हैं और भेद-विवक्षा से सभी (१४८) प्रकृतियाँ उदय-योग्य बतलायी गयी हैं।

**टीका—**एताः अष्टाविंशतिप्रकृतयः अबन्धा बन्धरहिता भवन्ति, अतएव बन्धराशौ विंशत्यधिक-शत-प्रकृतयो भवन्ति। ताः काः अष्टाविंशतिः। वर्णचतुष्कं [रसचतुष्कम् ] एको गन्धः स्पर्शसप्तकं इति षोडश भवन्ति। मिच्छत्तं इति सम्म इति मीलित्वा एका सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिः, मिश्रप्रकृतिरित्यर्थः। 'बंधण पण' इति, औदारिकबन्धनं वैक्रियिकबन्धनं आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनं इति पञ्च बन्धनानि। 'पण संघाद' इति, औदारिकसंघातः वैक्रियिकसंघातः आहारकसंघातः तैजससंघातः कार्मणसंघातः इति पञ्च संघाताः। 'सम्मत्तं' इति सम्यक्त्वप्रकृतिः एवं समुदिताः अष्टाविंशतिप्रकृतयः अबन्धाः बन्धराशौ न भवन्तीत्यर्थः ॥१०४॥

तथा सति बन्धोदयसत्त्वप्रकृतयः कतीति चेच्चतुर्गाथाभिराह—

**पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।**
**दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ[१८३]॥१०५॥**

५। ९। २। २६। ४। ६७। २। ५=१२०

**इस प्रकार बन्ध-योग्य प्रकृतियों की संख्या का ग्रन्थकार निरूपण करते हैं—**ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की छब्बीस, आयुकर्म की चार, नामकर्म की सड़सठ, गोत्रकर्म की दो और अंतराय कर्म की पाँच ये सब बन्ध होने योग्य प्रकृतियाँ हैं ॥१०५॥

**भावार्थ—**आठों कर्मों की बन्ध योग्य प्रकृतियाँ (५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२०) एक

१८३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३५।

सौ बीस होती हैं।

**टीका**—पञ्च ज्ञानावरणानि नव दर्शनावरणानि द्वे वेदनीये षड्विंशतिर्मोहनीयानि। कुतः ? मिश्र-सम्यक्त्वप्रकृत्योरुदयसत्त्वयोरेव कथनात्। चत्वार्यायूंषि सप्तषष्टिर्नामानि। कुतः? तद्दशबन्धन-संघात-षोडशवर्णादीनामन्तर्भावात्। द्वे गोत्रे। पञ्चान्तरायाः। इत्येताः विंशत्युत्तरशतं बन्धयोग्याः प्रकृतयः क्रमेण सर्वज्ञैर्भणिताः ॥१०५॥

**उदयप्रकृतीराह**—

**पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।**
**दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ उदयपयडीओ[१८४]॥१०६॥**

५।९।२।२८।४।६७।२।५=१२२

**अब ग्रन्थकार उदय-योग्य प्रकृतियों को गिनाते हैं**—ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नामकर्म की सड़सठ, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच ये सब उदय-प्रकृतियाँ कही गयी हैं।

**भावार्थ**—आठों कर्मों की उदय-योग्य प्रकृतियाँ (५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२) एक सौ बाईस होती हैं।

**टीका**—उदयप्रकृतयो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाणां क्रमेण पञ्च नव द्वे अष्टाविंशतिश्चतस्रः सप्तषष्टिः द्वे पञ्च मिलित्वा द्वाविंशत्युत्तरशतं उदययोग्यप्रकृतयो भणिताः सर्वज्ञैः ॥१०६॥

**ता एव बन्धोदयप्रकृतीः भेदाभेदविवक्षया सङ्ख्याति**—

**भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं।**
**भेदे सव्वे उदये वावीससयं अभेदम्हि[१८५]॥१०७॥**

भेदबन्धे १४६। अभेदबन्धे १२०। भेदोदये १४८। अभेदोदये १२२।

**अब ग्रन्थकार भेद और अभेद विवक्षा से बन्ध और उदय रूप प्रकृतियों की संख्या कहते हैं**—भेद-विवक्षा से बन्ध योग्य प्रकृतियाँ एक सौ छियालीस हैं, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, किन्तु अभेद-विवक्षा से एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्ध योग्य होती हैं। भेद-विवक्षा से उदय योग्य सभी अर्थात् एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ किन्तु अभेद-विवक्षा से एक सौ बाईस प्रकृतियाँ उदय-योग्य कही गयी हैं ॥१०७॥

**टीका**—बन्धे भेदविवक्षायां षट्-चत्वारिंशच्छतं[१८६] प्रकृतयो भवन्ति। अभेदविवक्षायां

---

१८४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३६। १८५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३७। १८६. ब सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतिद्वयं विना।

विंशत्युत्तरशतं प्रकृतयो भवन्ति। उदये भेदविवक्षायां सर्वा अष्टचत्वारिंशच्छतं प्रकृतयो भवन्ति। अभेदविवक्षायां द्वाविंशत्युत्तरशतं प्रकृतयो भवन्ति ॥१०७॥

**सत्त्वप्रकृतीराह—**

**पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी।**
**दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ सत्तपयडीओ[१८७]॥१०८॥**

५।९।२।२८।४।९३।२।५=१४८।

**अब ग्रन्थकार सत्त्वरूप प्रकृतियाँ गिनाते हैं—**ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयुकर्म की चार, नामकर्म की तेरानवे, गोत्रकर्म की दो और अन्तराय की पाँच ये सत्त्व प्रकृतियाँ कही गयी हैं।

**भावार्थ—**आठों कर्मों की सभी उत्तर प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य मानी गयी हैं जिनकी संख्या (५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८) एक सौ अड़तालीस है।

**टीका—**ज्ञानावरणस्य पञ्च प्रकृतयः दर्शनावरणस्य नव प्रकृतयः वेदनीयस्य द्वे प्रकृती मोहनीयस्य अष्टाविंशतिः प्रकृतयः आयुषश्चतस्रः प्रकृतयः नाम्नः त्रिनवतिः प्रकृतयः गोत्रस्य द्वे प्रकृती अन्तरायस्य पञ्च प्रकृतयः इत्येताः एकत्रीकृताः अष्टचत्वारिंशच्छतं सत्त्वयोग्यप्रकृतयः क्रमेण सर्वज्ञैर्भणिताः ॥१०८॥

**घातिकर्माणि [द्विविधानि—] सर्वघातीनि देशघातीनि च। तत्र सर्वघातिप्रकृतीराह—**

**केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं।**
**मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि[१८८]॥१०९॥**

के १ दं ६। क १२। मि १। सम्मा० १ एताः २१ सर्वघातयः।

**पहले जो घातिकर्म बतला आये हैं, उनके सर्वघाती और देशघाती की अपेक्षा दो भेद होते हैं, उनमें से सर्वघाती प्रकृतियों को गिनाते हैं—**केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण और पाँच निद्रा इस प्रकार दर्शनावरण की ६ प्रकृतियाँ; बारह कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व मोहनीय ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी बन्धरहित अवस्था में अर्थात् उदय और सत्त्व अवस्था में सर्वघाती है।

**भावार्थ—**ये सर्वघाती प्रकृतियाँ अपने प्रतिपक्षभूत गुणों का सम्पूर्णरूप से घात करती हैं इसलिए इन्हें सर्वघाती कहते हैं।

**टीका—**केवलज्ञानावरणं, केवलदर्शनावरणं निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिः इति दर्शनषट्कं, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभा इति कषाय-द्वादशकं मिथ्यात्वप्रकृतिः इति विंशतिः सर्वघातीनि भवन्ति[१८९]। सम्यग्मिथ्यात्वं तु बन्धप्रकृतिर्न भवति। किन्तु

---

१८७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३८। १८८. पञ्चसं० ४, ४८३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३९। १८९. ब बन्धविवक्षायाम्।

तस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्य उदय-सत्त्वयोरेव जात्यन्तरसर्वघातित्वं भवति ॥१०९॥

**देशघातीन्याह—**

**णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।**
**णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ[१९०]॥११०॥**

ज्ञा ४। दं ३। स १। सं ४। नो ९। अं ५। एताः २६। देशघातिन्यः।

**अब देशघाती प्रकृतियों को गिनाते हैं—**केवलज्ञानावरण को छोड़कर ज्ञानावरणकर्म की शेष चार प्रकृतियाँ, पूर्वोक्त ६ भेदों के सिवाय दर्शनावरण की शेष तीन प्रकृतियाँ, सम्यक्त्वप्रकृति, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि नौ नोकषाय और अन्तराय की पाँचों प्रकृतियाँ ये छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं।

**भावार्थ—**इन प्रकृतियों के उदय होने पर भी जीव का गुण कुछ न कुछ अंश में प्रकट रहता है, इसलिए इन्हें देशघाती कहते हैं।

**टीका—**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानावरणानां चतुष्कं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणत्रिकं सम्यक्त्व-प्रकृतिः संज्वलनक्रोधमानमायालोभकषायाणां चतुष्कं हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसक-वेदा नव नोकषायाः दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायाः पञ्च इति षड्विंशतिः देशघातीनि भवन्ति ॥११०॥



**घातिनां सर्वघाति-देशघातिभेदौ प्ररूप्य अघातिनां प्रशस्ताप्रशस्तभेदप्ररूपणे प्रशस्त-प्रकृतीर्गाथा-द्वयेनाऽऽह—**

**सादं तिण्णेवाऊ उच्चं सुर-णरदुगं च पंचिंदी।**
**देहा बंधण संघादंगोबंगाइं[१९१] वण्णचऊ ॥१११॥**
**समचउर वज्जरिसहं [१९२]उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं।**
**तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था[१९३]॥११२॥**

गाथाद्वयरचना—सा १। आ ३। उ १। म २। सु २। पं १। दे ५। बं ५। सं ५। अं ३। व ४। भेदे ब २०। स १। व १। अगु ५। स १। तस १२। भेदे ६८। अभेदे ४२।

**इस प्रकार घातियाकर्मों के भेद कहकर अब अघातिया कर्मों के जो प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद हैं, उनमें से पहले प्रशस्त प्रकृतियों को बतलाते हैं—**सातावेदनीय, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये तीन आयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन आंगोपांग, शुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इन

१९०. पञ्चसं० ४, ४८४, गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४०। १९१. त-वंगा य। १९२. ब अगुरुषट्कस्य मध्ये उपघातो निराक्रियते। १९३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४१-४२।

चार के बीस भेद, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभ नाराचसंहनन, उपघात के बिना, अगुरुलघु आदि ६ प्रकृतियाँ तथा प्रशस्तविहायोगति और त्रस आदिक बारह प्रकृतियाँ इस प्रकार अड़सठ प्रकृतियाँ भेद-विवक्षा से प्रशस्त (पुण्यरूप) कही हैं, किन्तु अभेद-विवक्षा में ये बियालीस प्रकृतियाँ ही पुण्य रूप कही गयीं हैं।

**टीका—**सातावेदनीयं तिर्यग्मनुष्यदेवायूंषि त्रीणि। उच्चैर्गोत्रं नरगति-नरगत्यानुपूर्व्ये द्वे देवगति-देवगत्यानुपूर्व्यद्विकं पञ्चेन्द्रियं औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि पञ्च शरीराणि औदारिकादिपञ्चबन्धनानि औदारिकादिपञ्चसंघातानि औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियिकाङ्गोपाङ्गाऽऽहारकाङ्गो-पाङ्गानि त्रीणि शुभवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाश्चत्वारः समचतुरस्रसंस्थानं वज्रवृषभनाराच-संहननं अगुरुलघुपरघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतः प्रशस्तविहायोगतिः त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येकशरीर स्थिर शुभ सुभग सुस्वरादेय यशःकीर्त्ति निर्माण तीर्थंकराणीति त्रसद्वादशकं एवं अष्टषष्टिः प्रकृतयो भेदविवक्षया प्रशस्ता भवन्ति। अभेदविवक्षायां द्विचत्वारिंशत् प्रकृतयो भवन्ति। ''सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्य''[१९४] मित्युक्ता एवेत्यर्थः ॥१११-११२॥

**अप्रशस्तप्रकृतीर्गाथाद्वयेनाऽऽह—**

**घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरिय-तिरियदुग जादी।**
**संठाण-संहदीणं चदु पण पणगं च वण्णचऊ ॥११३॥**
**उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु।**
**बंधुदयं पडि भेदे अडणवदि सयं दु चदुरसीदिदरे[१९५]॥११४॥**

गाथाद्वयरचना—घा ४७। नी १। अ १। नि १। नि २। ति २। जा ४। सं ५। सं ५। व ४। भेदे २०। उ १। अस १। था १०। भेदबन्धे ९८। अभेदबन्धे ८२। भेदोदये १००। अभेदोदये ८४।

**अब अप्रशस्त (पापरूप) कर्मप्रकृतियों की संख्या गिनाते हैं—**चारों घातिया कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ, नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जाति, समचतुस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन के सिवाय शेष पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अशुभवर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, ये चार मूलभेद अथवा भेद-विवक्षा में बीस भेद, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति और स्थावर आदि दश ये सब अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं। ये भेद-विवक्षा से बन्धरूप अट्ठानबे हैं और उदय की अपेक्षा सौ प्रकृतियाँ पापरूप जानना चाहिए तथा अभेद विवक्षा से बन्ध-योग्य बियासी और उदय रूप चौरासी पाप प्रकृतियाँ जानना चाहिए।

**टीका—**घातीनि सर्वाण्यप्रशस्तान्येवेति तानि सप्तचत्वारिंशत्। कानि तानि? ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अन्तराय एवं सप्त चत्वारिंशत् घातीनिनीचैर्गोत्रं असातावेदनीयं नरकायुष्यं नरकगति-

१९४. तत्त्वार्थ० ८, २५। १९५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४३-४४।

नरकगत्यानुपूर्विद्विकं तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्विद्विकं एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातयः चतस्त्रः न्यग्रोध-परिमण्डल वाल्मीकसंस्थान कुब्जकसंस्थान वामनसंस्थाना हुण्डक संस्थानानि च इति पञ्च संस्थानानि वज्रनाराच नाराच अर्धनाराच कीलिका असृपाटिका इति पञ्च संहननानि, अशुभवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाश्चत्वारः उपघातः अप्रशस्तविहायोगतिः स्थावर सूक्ष्मा पर्याप्त साधारणा स्थिराशुभदुर्भग दुःस्वरानादेया यशःकीर्त्तयः इति स्थावरदशकम् । इत्येताः अप्रशस्ताः बन्धोदयौ प्रति क्रमेण भेदविवक्षायां अष्टनवतिः शतं च भवन्ति। अभेदविवक्षायां द्व्यशीतिश्चतुरशीतिश्च भवन्ति ॥११३-११४॥

**कषायकार्यमाह—**

**पढमादिया कसाया सम्मत्तं देस-सयलचारित्तं।**
**जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि**[१९६]**॥११५॥**

**अब अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों के कार्य बतलाते हैं—**पहली अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व को, दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषाय देशचारित्र को, तीसरी प्रत्याख्यानावरणकषाय सकलचारित्र को और चौथी संज्वलनकषाय यथाख्यात चारित्र को घातती है। अतएव ये यथार्थ गुणनामवाली हैं अर्थात् जैसे इनके नाम हैं वैसे ही इनके गुण हैं। इनके अतिरिक्त शेष प्रकृतियाँ भी अपने नाम के अनुसार अर्थवाली हैं।

**टीका—**अनन्तानुबन्धिकषायाः सम्यक्त्वं घ्नन्ति, अप्रत्याख्यानकषायाः देशचारित्रं घ्नन्ति, प्रत्याख्यानकषायाः सकलचारित्रं महाव्रतं घ्नन्ति, संज्वलनाः यथाख्यातचारित्रं घ्नन्ति, तेन गुणनामानो भवन्ति। अनन्तसंसार-कारणत्वान्मिथ्यात्वमनन्तम्, तदनुबध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः। अप्रत्याख्यानं ईषत् संयमो देशसंयमः, तं कषन्तीत्यप्रत्याख्यानकषायाः। प्रत्याख्यानं सकलसंयमः, तं कषन्तीति प्रत्याख्यानकषायाः। सम् एकीभूत्वा ज्वलन्ति संयमेन सहावस्थानात्, संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः। एते एव यथाख्यातं कषन्तीति संज्वलनकषायाः। एवं शेषनोकषायज्ञानावरणा-दीन्यप्यन्वर्थसंज्ञानि भवन्ति ॥११५॥

**संज्वलनादिचतुःकषायाणां वासनाकालमाह—**

**अंतोमुहुत्तपक्खं छम्मासं संखऽसंखऽणंतभवं।**
**संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण**[१९७]**॥११६॥**

**अब कषायों की वासना (संस्कार) का काल बतलाते हैं—**संज्वलन आदि चारों कषायों का वासनाकाल नियम से क्रमशः अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष (पन्द्रह दिन) ६ मास और संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तभव है।

---

१९६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४५। १९७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४६।

**विशेषार्थ—**कषाय के उदय नहीं होने पर भी जितने समय तक उस कषाय का संस्कार बना रहता है, उसे वासनाकाल कहते हैं। यहाँ वासनाकाल से अभिप्राय यह है कि किसी के साथ वैर-विरोध हो गया तत्पश्चात् जितने काल तक उसके हृदय में बदला लेने का भाव बना रहता है उतने काल को वासनाकाल कहते हैं। जिन साधुओं के संज्वलन कषाय का उदय रहता है उनके बदला लेने का भाव अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। जिन श्रावकों के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है उनके बदला लेने के भाव एक पक्ष तक रहते हैं। जिन अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है उनके बदला लेने के भाव ६ मास तक रहते हैं और जिन मिथ्यादृष्टि जीवों के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है उनके बदला लेने के भाव ६ मास से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तभव तक बने रहते हैं।

**टीका—**उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकालः। स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्त्तो वासनाकालः, प्रत्याख्यानावरणानामेकः पक्षो वासनाकालः। अप्रत्याख्यानावरणानां वासनाकालः षण्मासः। अनन्तानुबन्धिनां वासनाकालः संख्यातभवः, असंख्यातभवः, अनन्तभवो वा भवति नियमेन ॥११६॥

**अथ पुद्गलविपाकीन्याह—**

**देहादी फासंता पण्णासा णिमिण तावजुगलं च।**
**थिर-सुह-पत्तेयदुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई[१९८]॥११७॥**

श ५। बं ५। सं ५। सं ६। अं ३। सं ६। व ५। गं २। र ५। स्प ८। नि १। आ २। स्थि २। शु २। प्र २। अ १। उ १। प १। संयुक्ताः ६२।

**ऊपर बतलायी गयी कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी के भेद से चार प्रकार की हैं, उनमें से पहले पुद्गलविपाकी प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं—**शरीर नामकर्म से लेकर स्पर्श नामकर्म तक पचास प्रकृतियाँ तथा निर्माण, आतप, उद्योत और स्थिर, शुभ, प्रत्येक इन तीनों का जोड़ा तथा अगुरुलघु आदि तीन ये सब बासठ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं अर्थात् इनके उदय का फल जीव के पौद्गलिक शरीर में ही होता है।

**टीका—**औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकतैजसकार्मणशरीराणि पञ्च औदारिकादिबन्धनपञ्चकं औदारिकादिसंघाताः पञ्च समचतुरस्रादिसंस्थानानि षट् औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गानि त्रीणि वज्रवृषभनाराचादिसंहनननामानि षट् श्वेतादिवर्णाः पञ्च कटुकादिरसाः पञ्च सुगन्ध-दुर्गन्धौ द्वौ शीतादिस्पर्शाष्टकं इति पञ्चाशत्। निर्माणं आतपोद्योतौ द्वौ स्थिरास्थिरद्विकं शुभाशुभद्विकं प्रत्येकसाधारणद्विकं अगुरुलघूपघातपरघातत्रिकं इति द्वाषष्टिः पुद्गलविपाकीनि भवन्ति; पुद्गले एवैषां विपाकत्वात् ॥११७॥

**भव-क्षेत्र-जीवविपाकीन्याह—**

---

१९८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४७।

**आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ।**
**अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा[१९९]॥११८॥**

भववि० आ० ४। क्षेत्रवि० आनु० ४। शेषाः जीवविपाकिन्यः ७८।

**अब भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं**—नरकादिक चार आयु भवविपाकी हैं, क्योंकि नरकादि भव में ही इन प्रकृतियों का फल प्राप्त होता है। चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकी हैं; क्योंकि परलोक को गमन करते हुए जीव के मध्यवर्ती क्षेत्र में ही इनका उदय होता है। शेष अठहत्तर प्रकृतियाँ जीव विपाकी जानना चाहिए; क्योंकि इनका फल जीव को ही प्राप्त होता है।

**टीका**—नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवायूंषि चत्वारि भवविपाकीनि। नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्याणि चत्वारि क्षेत्रविपाकीनि। [२००]अवशिष्टाष्टसप्ततिः जीवविपाकीनि। कुतः ? नारकादिजीवपर्यायनिर्वर्तन-हेतुत्वाज्जीवविपाकीनि। एवं प्रकृतिकार्यविशेषा ज्ञातव्याः ॥११८॥

**तानि कानि जीवविपाकीनीति चेदाह—**

**वेयणीय गोद घादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं।**
**सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाईओ[२०१]॥११९॥**

**अब इन्हीं अठहत्तर जीवविपाकी प्रकृतियों को गिनाते हैं**—वेदनीय की दो, गोत्र की दो, घातिया कर्मों की सैंतालीस इस प्रकार ६ कर्मों की इकावन प्रकृतियाँ तथा नामकर्म की सत्ताईस। इस प्रकार सब मिलाकर अठहत्तर प्रकृतियाँ जीव-विपाकी हैं।

**टीका**—सातासातवेदनीयद्वयं उच्चनीचगोत्रद्वयं। घातिज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अन्तराय इति घातिसप्तचत्वारिंशत्, वेदनीयगोत्रद्वयं मिलिता एकपञ्चाशत्, नामकर्मणः सप्तविंशतिश्चेत्यष्ट-सप्ततिः जीवविपाकीनि भवन्ति ॥११९॥

**नामकर्मणः सप्तविंशतिप्रकृतीराह—**

**तित्थयरं उस्सासं बादर पज्जत्त सुस्सरादेज्जं।**
**जस-तस-विहाय-सुभगदु चउगइ पण जाइ सगवीसं[२०२]॥१२०॥**

ति १। उ १। बा २। प २। सु २। आ २। य २। त्र २। वि २। सु २। ग ४। जा ५। सर्वाः २७।

**अब नामकर्म की उपर्युक्त सत्ताईस प्रकृतियाँ बतलाते हैं**—तीर्थंकरप्रकृति, उच्छ्वासप्रकृति, तथा बादर, पर्याप्त, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, त्रस, विहायोगति और सुभग इनका जोड़ा, नरकादि

---

१९९. पञ्चसं० ४, ४९२। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४८। २००. ब पुद्गलविपाकिद्वाषष्टिः भवविपाकिचतुष्कं क्षेत्रविपाकिचतुष्कं एताभ्यः सप्ततिसंख्याभ्य उद्वरिताः अष्टसप्ततिः। २०१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४९। २०२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५०।

चार गतियाँ तथा एकेन्द्रियादि पाँच जातियाँ इस प्रकार नामकर्म की सत्ताईस प्रकृतियाँ जीवविपाकी जानना चाहिए।

**टीका—**तीर्थङ्कर उच्छ्वास बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त सुस्वर दुःस्वर आदेय अनादेय यशःकीर्त्तिः अयशःकीर्त्तिः त्रस स्थावर प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति सुभग-दुर्भगद्विकं नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतयश्चतस्रः एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियजातयः पञ्च इति एकत्रिता नामकर्मणः सप्तविंशतिः प्रकृतयो भवन्ति ॥१२०॥

**प्रकारान्तरेण ता आह—**

**गदि जादी उस्सासं विहायगदि-तसतियाण जुगलं च।**
**सुभगादी चउजुगलं तित्थयरं चेदि सगवीसं[२०३]॥१२१॥**

ग ४। जा ५। उ १। वि २। त २। बा २। प २। सु २। सु २। आ २। य २। ती १। सर्वाः २७।

**अब दूसरे प्रकार से इन्हीं सत्ताईस जीवविपाकी प्रकृतियों को गिनाते हैं—**चार गति, पाँच जाति, उच्छ्वास, विहायोगति और त्रस, बादर, पर्याप्त इन तीन का जोड़ा तथा सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति इन चार का जोड़ा और एक तीर्थंकर प्रकृति इस प्रकार क्रम से ये सत्ताईस नामकर्म की प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं।

**टीका—**नरकादिचतुर्गतयः एकेन्द्रियादिपञ्चजातयः उच्छ्वासः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति-युगलं त्रस-स्थावरयुग्मं सूक्ष्म-बादरयुगलं पर्याप्तापर्याप्तयुग्मं सुभग-दुर्भगयुगलं सुस्वर-दुःस्वरयुग्मं आदेयानादेययुग्मं यशोऽयशःकीर्त्तियुग्मं तीर्थङ्करत्वं इत्येता मेलिताः नामकर्मणः सप्तविंशति प्रकृतयो भवन्ति ॥१२१॥

**इदि पयडिसमुक्कित्तणं समत्तं।**

**इस प्रकार प्रकृति-समुत्कीर्तन नामक अधिकार समाप्त हुआ।**

---

२०३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५१।

**अथ प्रकृतिस्वरूपं व्याख्याय स्थितिबन्धमुपक्रमन्नादौ मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिमाह—**

**तीसं कोडाकोडी तिघादि-तदिएसु वीस णामदुगे।**
**सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेत्तीसं[२०४]॥१२२॥**

ज्ञाना० दर्श० अन्त० वेद० ३० कोडा० साग०। ना० गो० २० को०। मो० ७० को०।
आयुष्कर्मण ३३ सागरस्थितिः।

**अब स्थितिबन्ध को बतलाते हुए सर्वप्रथम आठों मूल कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बतलाते हैं—**तीन घातिया कर्मों की अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म की तथा तीसरे वेदनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है।

**विशेषार्थ—**एक समय में बँधने वाले कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति गाथा में बतलाये गये कालप्रमाण है अर्थात् उतने काल तक वह कर्म आत्मा के साथ बँधा रहता है और क्रमशः अपना फल देकर झड़ता रहता है।

**टीका—**'तिघादितदिएसु' इति त्रिघातितृतीयेषु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायघातित्रिके 'तदिए' इति तृतीयकर्मणि वेदनीयाख्ये च उत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत् कोटिकोटिसागरोपमाणि भवति।'नामदुगे' नामगोत्रयोः द्वयोर्विंशति कोटिकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति। मोहनीये कर्मणि उत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्ततिः कोटिकोटिसागरोपमाणि भवति। आयुःकर्मणि शुद्धानि कोटीकोटि-विशेषणरहितानि सागरोपमाण्येव त्रयस्त्रिंशत् उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति ॥१२२॥

**अथोत्तरप्रकृतीनां स्थितिबन्धं गाथाषट्केनाऽऽह—**

**दुक्ख-तिघादीणोघं सादित्थी-मणुदुगे तदद्धं तु।**
**सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे च चत्तालं[२०५]॥१२३॥**

दु १ ज्ञा ५ दं ९ अं ५ सा० ३० को०। इ म १५ को० सा०। मो० ७० को० सा०।
क० १६ सा० ४० को।

**अब कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को छह गाथाओं से बतलाते हैं—**दुःख अर्थात् असातावेदनीय एक, ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ और अन्तराय की पाँच; इन बीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ओघ अर्थात् सामान्य मूलकर्मों के समान तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन चार प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उक्त प्रकृतियों से आधा अर्थात् पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय का उत्कृष्ट

२०४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १२७। २०५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १२८।

स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है और चारित्रमोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चालीस कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण है।

**टीका—**'दुक्ख-तिघादीणेघं' इति असातावेदनीयं ज्ञानावरणानां पञ्चकं दर्शनावरणानां नवकं अन्तरायाणां पञ्चकं एवं विंशतिप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धः ओघः मूलप्रकृतिवत् त्रिंशत् कोटीकोटि-सागरोपमाणि भवति। सातवेदनीयं स्त्रीवेदः मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्विद्वयं एतासु चतसृषु उत्कृष्ट-स्थितिबन्धः तदर्धं पञ्चदशकोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। दर्शनमोहे मिथ्यात्वे बन्धे एकविधत्वात्, तत्र दर्शनमोहे उत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्ततिः कोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। चारित्रमोहनीयषोडशकषायेषु अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदभिन्नेषु उत्कृष्टस्थिति-बन्धश्चत्वारिंशत् कोटीकोटि-सागरोपमाणि भवति ॥१२३॥

**संठाण-संहदीणं चरिमस्सोघं दुहीणमादि त्ति।**
**अट्ठारस कोडिकोडी वियलाणं सुहुमतिण्हं च[२०६]॥१२४॥**

हु १ अ १ सा० २० को०। वा १ की १ सा० १८ को। कु १ अ १ सा० १६ को०। सा १ ना १ सा० १४ को०। नि० १ व १ सा० १२ को०। स १ व १ सा० १० को०। वि १ ति १ च १ सा० १८ को०। सू १ अ १ सा १ सा० १८ को०।

छह संस्थान और छह संहनन में से अन्त का हुण्डकसंस्थान और सृपाटिकासंहनन इन दोनों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मूलप्रकृति के समान बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। मध्यवर्ती चार संस्थान और चार संहननों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दो-दो सागर पहले-पहले तक कम करना चाहिए अर्थात् वामनसंस्थान और कीलक संहनन का अठारह, कुब्जक संस्थान और अर्धनाराच संहनन का सोलह, स्वातिसंस्थान और नाराच संहनन का चौदह, न्यग्रोध परिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराचसंहनन का बारह तथा समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन का दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है। विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति और सूक्ष्मादि तीन इन छह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अठारह कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण है।

**टीका—**षट्संस्थान-षट्संहननानां मध्ये चरमसंस्थानस्य हुण्डकस्य चरमसंहननस्यासम्प्राप्ता-सृपाटिकाभिधानस्य ओघः मूलप्रकृतिवत् विंशतिः कोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति। 'दुहीणमादित्ति' शेषसंस्थानसंहननानां समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभनाराचसंहननपर्यन्तं द्वि-द्विकोटी-कोटिसागरोपमहीनः ओघः द्विविहीन ओघ इत्यर्थः। बालावबोधार्थं स्पष्टतया उच्यते-वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोः द्वयोः अष्टादशकोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धः। कुब्जकसंस्थानार्ध-नाराचसंहननयोः द्वयोः उत्कृष्टस्थितिबन्धः षोडशकोटीकोटिसागरोपमाणि भवति। वाल्मीकसंस्थान-

२०६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १२९।

नाराचसंहननयोः उत्कृष्टस्थितिबन्धश्चतुर्दशकोटीकोटिसागरोपमणि भवति। न्यग्रोधसंस्थाननाराच-संहननयोः द्वादश कोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धः। समचतुरस्रसंस्थानवज्रवृषभनाराच-संहननयोः दशकोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धः। विकलत्रयाणां द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणां सूक्ष्मत्रयाणां सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणानां च एतासां षण्णां प्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धः अष्टादश कोटीकोटिसागरोपमाणि भवति।

**अरदी सोगे संढे तिरिक्ख-भय-णिरय-तेजुरालदुगे।**
**वेगुव्वादावदुगे णीचे तस-वण्ण-अगुरुतिचउक्के ॥१२५॥**
**इगि-पंचिंदिय-थावर-णिमिणासग्गमण-अथिरछक्काणं।**
**वीसं कोडाकोडी सागरणामाणमुक्कस्सं[२०७]॥१२६॥**

अ १ सो १ सं १ ति २ भ २ नि २ ते २ ओ २ वे २ आ २ नी १ त ४ व ४ अ ४ ए १ पं १ था १ नि १ अस १ अथि ६ साग० २० कोडा०

अरति, शोक, नपुंसकवेद; तिर्यंचगति, भय, नरकगति, तैजस, औदारिक इन पाँच का जोड़ा, वैक्रियिक आतप इन दो का जोड़ा, नीचगोत्र, त्रस, वर्ण, अगुरुलघु इन तीनों की चौकड़ी एकेन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, स्थावर, निर्माण, असद्गमन (अप्रशस्तविहायोगति) और अस्थिरादि छह; इन इकतालीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है।

**टीका—**अरतौ शोके षण्ढवेदे तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्विके भयजुगुप्साद्विके नरकगति-नरकगत्यानुपूर्व्यद्विके तैजस-कार्मणद्विके औदारिकौदारिकाङ्गोपाङ्गद्विके वैक्रियक वैक्रियकाङ्गोपाङ्गद्विके आतपोद्योतद्विके नीचैर्गोत्रे त्रसचतुष्के इति त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकचतुष्के वर्णचतुष्के इति वर्णगन्ध-रस-स्पर्शचतुष्के अगुरुचतुष्के इति अगुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासचतुष्के एकेन्द्रिये पञ्चेन्द्रिये स्थावरे निर्माणे अप्रशस्तविहायोगतौ अस्थिरषट्के इति अस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशः-कीर्तिषट्के एतासु एकचत्वारिंशत्प्रकृतीषु प्रत्येकं विशंतिकोटीकोटिसागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो ज्ञातव्यः ॥१२५-१२६॥

**हस्स रदि उच्च पुरिसे थिरछक्के सत्थगमणदेवदुगे।**
**तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहार-तित्थयरे[२०८]॥१२७॥**

हा १ र १ उ १ पु १ थिरादि ६ स १ दे २ सा० १० कोडा०। आ २ ति १ सा० अंतको०।

हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरादि छह, प्रशस्तविहायोगति, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी; इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ऊपर की प्रकृतियों से आधा अर्थात् दश कोड़ाकोड़ी सागर

२०७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३०-१३१। २०८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३२।

प्रमाण है। आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियों का स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी अर्थात् कोड़ी से ऊपर और कोड़ाकोड़ी से नीचे इतने सागर प्रमाण है।

**टीका**—हास्ये रतौ उच्चैर्गोत्रे पुंवेदे स्थिरषट्के इति स्थिर शुभ सुभग सुस्वरादेय यशःकीर्ति षट्के प्रशस्तविहायोगतौ देवगति-देवगत्यानुपूर्वीद्विके इति त्रयोदशप्रकृतीषु तस्याः विंशतेरर्धं दशकोटीकोटि-सागरोपमाणि उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति। आहारकद्वये तीर्थकृतश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धः अन्तःकोटीकोटि-सागरोपमाणि। कोटीसागरोपमोपरि कोटाकोटिसागरोपममध्या सा [२०९]अन्तःकोटी-कोटिसंज्ञा ॥१२७॥

**सुर-णिरयाऊणोघं णर-तिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि।**
**उक्कस्सट्ठिदिबंधो सण्णीपज्जत्तगे जोगे[२१०]॥१२८॥**

सु १ नि १ सा० ३३। न १ ति १ प० ३।

देवायु और नरकायु इन दोनों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मूलप्रकृति के समान तैंतीस सागर है। मनुष्यायु और तिर्यगायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तीन पल्यप्रमाण है। तीन शुभ आयु के सिवाय शेष कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, योग्य जीव के ही होता है, हर एक के नहीं होता।

**टीका**—सुर-नारकायुषोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः ओघवत् मूलप्रकृतिवत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तिर्यङ्मनुष्यायुषोः त्रीणि पल्योपमानि। अयमुत्कृष्टस्थितिबन्धः संज्ञिपर्याप्तानां जीवानामेव भवति। 'योग्ये'[२११] इत्यनेनायं संसारकारणत्वादशुभत्वात् शुभाशुभकर्मणां चातुर्गतिकसंक्लिष्टैर्जीवैरेव बध्यत इत्यर्थः ॥१२८॥

आयुस्त्रयवर्जितशुभाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिकारणं संक्लेश एवेत्याह—

**सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।**
**विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्जियाणं तु[२१२]॥१२९॥**

**अब उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के कारणभूत परिणामों का निर्देश करते हैं**—तीन आयुकर्म अर्थात् तिर्यंच, मनुष्य और देवायु के बिना शेष एक सौ सत्तरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथासंभव उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है और जघन्य स्थितिबन्ध विपरीत परिणामों से अर्थात् संक्लेश से उल्टे उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से होता है। तीन आयुकर्मों का इससे विपरीत अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से जघन्य स्थितिबन्ध होता है।

---

२०९. ब किंचिन्न्यूनकोटीकोटिसागरोपमाणि। २१०. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३३। २११. ब अथवा जोगे इति योगात् प्राप्य उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीत्यर्थः। १. ब कषायेन, उत्कृष्टाशुभपरिणामेन। २१२. पञ्च सं ४, ४२५। गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३४।

**टीका**—तु पुनः तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जितसर्वप्रकृतिस्थितीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धनं उत्कृष्ट-संक्लेशेन भवति। तु पुनः तासां तिर्यङ्मनुष्यदेवायुर्वर्जितसर्वप्रकृतिस्थितीनां जघन्यस्थितिबन्धनं [विपरीतेन] जघन्यसंक्लेशेन [अर्थात्] उत्कृष्टविशुद्धपरिणामेन भवति। तत्त्रयस्य तिर्यङ्मानुष्यदेवायुष्कत्रयस्य तूत्कृष्टस्थितिबन्धनं उत्कृष्टविशुद्धपरिणामेन जघन्यस्थितिबन्धनं तद्विपरीतेन भवतीत्यर्थः ॥१२९॥

**उत्कृष्टस्थितिबन्धकमाह—**

**सव्वुक्कस्सट्ठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो।**
**आहारं तित्थयरं देवाउं वा विमोत्तूणं[२१३]॥१३०॥**

**अब उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के करने वाले स्वामियों का निर्देश करते हैं**—आहारकशरीर, आहारकशरीर-अंगोपांग, तीर्थंकर और देवायु इन चार प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ सोलह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितियों का बन्ध करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव कहा गया है।

**टीका**—आहारकशरीराऽऽहारकशरीराङ्गोपाङ्गद्वयं तीर्थकरत्वं देवायुश्चेति चत्वारि मुक्त्वा शेष ११६ प्रकृतिसर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिरेव जीवो बन्धको भणितः। तच्चतुर्णां आहारकाऽऽ-हारकाङ्गोपाङ्गतीर्थकरदेवायुषां तु बन्धको सम्यग्दृष्टिरेव जीवो भवति ॥१३०॥

**तत्रापि विशेषमाह—**

**देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु।**
**तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ[२१४]॥१३१॥**

**अब उक्त चार प्रकृतियों के बन्ध करने वाले स्वामियों का निर्देश करते हैं**—देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रमत्तसंयत करता है। आहारक शरीर और आहारक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्तसंयत करता है और तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य करता है।

**टीका**—देवायुः उत्कृष्टस्थितिकं प्रमत्तगुणस्थानवर्त्तिमुनिरेवाप्रमत्तगुणस्थानाभिमुखो बध्नाति, अप्रमत्ते देवायुर्व्युच्छित्तौ अपि तत्र सातिशये तीव्रविशुद्धित्वेन तदबन्धात्। निरतिशये चोत्कृष्टासम्भवात्। तु पुनः आहारकद्वयं उत्कृष्टस्थितिकं अप्रमत्तः प्रमत्तगुणस्थानाभिमुखः संक्लिष्ट एव बध्नाति, आयुस्त्रयवर्जितानां उत्कृष्टस्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन इत्युक्तत्वात्। तीर्थकरमुत्कृष्टस्थितिकं नरकगति-गमनाभिमुखमनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिरेव जीवो बध्नाति ॥१३१॥

**शेषाणां ११६ प्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धकमिथ्यादृष्टीन् गाथाद्वयेनाऽऽह—**

**णर-तिरिया सेसाऊ[२१५] वेगुव्वियछक्क वियल-सुहुमतियं।**
**सुर-णिरया ओरालिय-तिरियदुगुज्जोव-संपत्तं ॥१३२॥**

---

२१३. पञ्चसंग्रह ४, ४२६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३५। २१४. पञ्चसं० ४, ४२७ गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३६। २१५. त सेसाउं।

**देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं।**
**उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिआ ईसिमज्झिमया[२१६]॥१३३॥**

नर-तिर्यञ्च: आ ३ वै ६ वि ३ सू ३। सुर-नारका: औ २ ति २ उ १ अ १। देवा: ए १ आ १ था १। उक्तं २८ शेषा:।

**अब उक्त चार प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष जो एक सौ सोलह प्रकृतियाँ हैं, उनके बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीवों का विशेष रूप से निरूपण करते हैं—**देवायु से शेष नरकादि तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, द्वीन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रिय जाति, सूक्ष्मादि तीन इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। औदारिक शरीर, औदारिक शरीर अंगोपांग, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत और सृपाटिका संहनन इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारकी मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। एकेन्द्रियजाति, आतप और स्थावर इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। शेष बानवे प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषन्मध्यम परिणाम वाले चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

**विशेषार्थ—**उत्कृष्ट स्थिति के बन्धयोग्य असंख्यात लोक-प्रमाण संक्लिष्ट परिणामों के पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण खण्ड करने पर जो अन्तिम खण्ड प्राप्त होता है, उसे उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम कहते हैं। प्रथम खण्ड का नाम ईषत् संक्लेश है और दोनों के मध्यवर्ती परिणामों की मध्यम संक्लेश संज्ञा है।

**टीका—**नरक-तिर्यङ्-मनुष्यायूंषि वैक्रियिकषट्कमिति वैक्रियिक-वैक्रियिकाङ्गोपाङ्ग-देवगति-देवगत्यानुपूर्वी-नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वीति वैक्रियिकषट्कम् विकलत्रयमिति द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियत्रिकं सूक्ष्मत्रयमिति सूक्ष्मसाधारणाऽपर्याप्तत्रयम्; इत्येतानि उत्कृष्टस्थितिकानि नरास्तिर्यञ्चश्च बध्नन्ति। औदारिकौदारिकाङ्गोपाङ्गद्वयं तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयं उद्योत: असम्प्राप्तासृपाटिकसंहननं इत्येतानि उत्कृष्टस्थितिकानि सुरनारका एव बध्नन्ति। एकेन्द्रिया तप स्थावराणि उत्कृष्टस्थितिकानि पुन: देवा बध्नन्ति। शेषाणां द्वानवतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धं उत्कृष्टसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टयईषन्मध्यम-संक्लिष्टाश्च[२१७] चातुर्गतिका जीवा बध्नन्तीत्यर्थ: ॥१३२-१३३॥

अथ मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमाह—

**बारस य वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।**
**भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं[२१८]॥१३४॥**

ज्ञा० द० अन्त०। वे० मु० १२। मो० आ० अन्त०। ना० गो० मु० ८। अं० अन्त०।

---

२१६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३७-१३८। २१७. ब ईषन्मध्यमपरिणामा: मिथ्यादृष्टयो वा। २१८. पञ्चसं० ४, ४०९ गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३९।

**अब मूलप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बतलाते हैं—**वेदनीयकर्म का जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त है, नाम तथा गोत्रकर्म का आठ मुहूर्त है। शेष बचे पाँच कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है।

**टीका—**वेदनीये कर्मणि जघन्यस्थितिबन्धो द्वादश [२१९]मुहूर्ताश्चतुर्विंशतिघटिकाः भवतीत्यर्थः। नाम-गोत्रयोः द्वयोः कर्मणोः जघन्यस्थितिबन्धः अष्टौ [२२०]मुहूर्त्ताः षोडश घटिका भवति। तु पुनः शेषपञ्चानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयाऽऽयुरन्तरायाणं पञ्चानां कर्मणां [२२१]एकैकोऽन्तर्मुहूर्त्तो जघन्यस्थितिबन्धो भवति ॥१३४॥

**अथोत्तरप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धं गाथाचतुष्टयेनाऽऽह—**

**लोहस्स सुहुमसत्तरसाणमोघं दुगेक्क दलमासं।**
**कोहतिए पुरिसस्स य अट्ठय वासा[२२२] जहण्णठिदी[२२३]॥१३५॥**

**अब उत्तरप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बतलाते हैं—**संज्वलन लोभ कषाय का और दशवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में बँधने वाली सत्तरह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध मूलप्रकृतियों के समान जानना चाहिए अर्थात् यशःकीर्ति और उच्चगोत्र का आठ-आठ मुहूर्त, सातावेदनीय का बारह मुहूर्त, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह का तथा लोभ प्रकृति का जघन्य स्थितिबन्ध एक-एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। क्रोधादि तीन का अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्रम से दो मास, एक मास और पन्द्रह दिन प्रमाण जघन्य स्थितिबन्ध होता है। पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबन्ध आठ वर्ष प्रमाण होता है।

**टीका—**लोभस्य सूक्ष्मसाम्परायबन्धसप्तदशानां प्रकृतीनां च जघन्यस्थितिबन्धः ओघः मूलप्रकृतिवद् भवति। तद्यथा-नवमगुणस्थाने लोभस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तकालो भवति। सूक्ष्मसाम्पराये ज्ञानावरणपञ्चकं अन्तरायपञ्चकं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनचतुष्कं एतासां चतुर्दशप्रकृतीनां अन्तर्मुहूर्तकालो जघन्यस्थितिबन्धो भवति। तथा सूक्ष्मसाम्पराये यशस्कीर्त्तेरुच्चगोत्रस्य च जघन्यस्थितिबन्धोऽष्टौ मुहूर्त्ता भवति। सातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो द्वादश मुहूर्त्ताः। एवं सूक्ष्मसाम्पराये सप्तदशप्रकृतीनां यथासम्भवजघन्यस्थितिबन्धो ज्ञातव्यः। ''कोहतिए दुगेक्कदलमासं'' इति क्रोधस्य जघन्यस्थितिबन्धो द्वौ मासौ। मानस्य जघन्यस्थितिबन्धः एको मासः। मायाया जघन्यस्थितिबन्धोऽर्धमासः। पुंवेदस्याष्टवर्षाणि जघन्यस्थितिबन्धः ॥१३५॥

**तित्थाहाराणंतोकोडाकोडी जहण्णठिदिबंधो।**
**खवगे सग-सगबंधच्छेदणकाले हवे णियमा[२२४]॥१३६॥**

---

२१९. ब एनं जघन्यस्थितिबन्धं सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने बध्नाति। २२०. ब इयं स्थितिर्दशमगुणस्थाने ज्ञातव्या। २२१. ब ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां त्रयाणां जघन्यस्थितिः दशमगुणस्थाने ज्ञातव्या। मोहनीयस्य नवमगुणस्थाने। २२२. त वस्सा। २२३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४०। २२४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४१।

तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण होता है। यह जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक श्रेणी वाले जीवों के अपनी-अपनी बन्धव्युच्छित्ति के समय में ही नियम से होता है।

**टीका—**तीर्थकराऽहारकद्वययोरन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणि। अयं जघन्यस्थितिबन्धः सर्वोऽपि क्षपकेषु स्व-स्वबन्धव्युच्छित्तिकाले एव नियमाद्भवति ॥१३६॥

**भिण्णमुहुत्तो णर-तिरियाऊणं वासदससहस्साणि।**
**सुर-णिरयआउगाणं जहण्णओ[225] होइ ठिदिबंधो[226]॥१३७॥**

मनुष्यायु और तिर्यगायु का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है। देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिबन्ध दश हजार वर्ष प्रमाण होता है।

**टीका—**नर-तिर्यगायुषोः जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तो भवति। सुरनारकायुषोः जघन्यस्थितिबन्धो दशसहस्रवर्षाणि भवति ॥१३७॥

**सेसाणं पज्जत्तो बादर एइंदिओ विसुद्धो य।**
**बंधदि सव्वजहण्णं सग-सगउक्कस्सपडिभागे[227]॥१३८॥**

उपर्युक्त उनतीस प्रकृतियों के सिवाय इक्यानवे प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। उनमें से वैक्रियिकषट्क और मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों के बिना शेष चौरासी प्रकृतियों की जघन्य स्थितियों को बादर पर्याप्त यथायोग्य विशुद्ध परिणामों वाला एकेन्द्रिय जीव ही बाँधता है। उसका प्रमाण गणित के अनुसार त्रैराशिक विधि से भाग करने पर अपनी-अपनी स्थिति के प्रतिभाग का जो प्रमाण आवे उतना जानना चाहिए।

**टीका—**पूर्वगाथोक्ताभ्य एकोनत्रिंशत्प्रकृतिभ्यः शेषैकनवति प्रकृतीनां मध्ये वैक्रियिकषट्क मिथ्यात्वरहितानां चतुरशीति प्रकृतीनां जघन्यस्थितिं बादरैकेन्द्रियपर्याप्तो जीवस्तद्योग्यविशुद्ध एव बध्नाति स्व-स्वोत्कृष्टप्रतिभागेन त्रैराशिकविधानेन इत्यर्थः ॥१३८॥

**तद्यथा—**

**एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवरबंधो।**
**इगि-विगलाणं बंधो अवरं पल्लासंखूण संखूणं[228]॥१३९॥**

**अब उसी जघन्यस्थिति की विधि और प्रमाण को दिखलाते हैं—**एकेन्द्रिय और विकलचतुष्क अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय ये पाँच प्रकार के जीव क्रमशः मिथ्यात्वकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार

२२५. त जहण्णयं। २२६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४२। २२७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४३। २२८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४४।

सागर-प्रमाण करते हैं। एकेन्द्रिय जीव अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम करने पर जो प्रमाण बाकी रहता है उतनी जघन्य स्थिति को बाँधते हैं और विकल-चतुष्क जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य के संख्यातवें भाग कम करने पर जो प्रमाण शेष रहता है उतनी जघन्य स्थिति को बाँधते हैं।

**विशेषार्थ**—इस गाथा में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक के मिथ्यात्व के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध का प्रतिपादन किया गया है। जिसका खुलासा यह है कि यदि एकेन्द्रिय जीव तीव्र से तीव्र भी संक्लेश से परिणत होकर मिथ्यात्वकर्म का बन्ध करे, तो वह एक सागर-प्रमाण स्थिति को बाँधेगा, इससे अधिक नहीं और वही जीव यदि मन्द से भी मन्द संक्लेश से परिणत होकर मिथ्यात्व का बन्ध करे, तो पल्य के असंख्यातवें भाग से कम एक सागर-प्रमाण स्थिति को बाँधेगा, इससे कम की नहीं। विकल-चतुष्क जीवों का जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बतलाया गया है, उसमें से पल्य का संख्यातवाँ भाग कम कर देने पर जो प्रमाण शेष रहता है, उतनी-उतनी जघन्य स्थिति का वे जीव बन्ध करते हैं, उससे कम का नहीं। यह तो हुई केवल मिथ्यात्व के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध की बात, किन्तु ये ही जीव मिथ्यात्व के सिवाय शेष कर्मों की कितनी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति का बन्ध करते हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिए टीकाकार ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 'जदि सत्तरिस्स' इत्यादि एक करणसूत्र-गाथा लिखकर त्रैराशिक विधि से शेष कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के निकालने का उपाय बतलाया है, जो कि इस प्रकार जानना चाहिए—यदि कोई एकेन्द्रिय जीव सत्तर कोड़ाकोड़ीसागरोपम उत्कृष्ट स्थिति वाले मिथ्यात्व की एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है, तो वही तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चारों कर्मों की कितनी उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करेगा ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर तीन बटे सात सागर अर्थात् एक सागर के समान सात भाग करने पर उनमें से तीन भाग-प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करेगा। इसी प्रकार त्रैराशिक विधि से निकालने पर वही जीव चालीस कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण चारित्रमोहनीय का चार बटे सात सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करेगा। वही जीव बीस कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम और गोत्र का दो बटे सात सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करेगा। यह तो हुआ मूलकर्मों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का निरूपण। अब आगे टीकाकार ने इसी ऊपर के करण सूत्र-प्रतिपादित नियम के अनुसार उत्तर प्रकृतियों के भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध को निकाला है, जो इस प्रकार है—

एकेन्द्रिय जीव के चारित्रमोहनीय की १६ कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चार बटे सात सागर; ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, अन्तराय की ५ और असातावेदनीय इन २० प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध तीन बटे सात सागर; हुण्डकसंस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन, अरति,

शोक, नपुंसकवेद, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, भय, जुगुप्सा, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, आतप, उद्योत, नीचगोत्र, त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, स्थावर, निर्माण, अप्रशस्तविहायोगति और अस्थिरषट्क इन ३९ प्रकृतियों का दो बटे सात सागर-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होगा।

इसी प्रकार ऊपर बतलायी गयी त्रैराशिकविधि से १५ कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी का, १८ कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले वामन संस्थान, कीलकसंहनन, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक का, १६ कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले कुब्जक शरीर और अर्ध-नाराचसंहनन का, १४ कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले स्वातिसंस्थान और नाराचसंहनन का, १२ कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले न्यग्रोध-परिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराचसंहनन का, १० कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले समचतुरस्र-संस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरषट्क और प्रशस्तविहायोगति इन सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीवों के सिद्ध कर लेना चाहिए।

यह तो हुआ एकेन्द्रिय जीवों के कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का निरूपण। इसी प्रकार २५ सागर की उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थिति को बाँधने वाले द्वीन्द्रिय जीवों के, ५० सागर की उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थिति के बाँधने वाले त्रीन्द्रिय जीवों के, १०० सागर की उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थिति के बाँधने वाले चतुरिन्द्रिय जीवों के तथा १००० सागर की उत्कृष्ट मिथ्यात्व-स्थिति के बाँधने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के भी सभी उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध को भी ऊपर बतलायी गयी त्रैराशिक विधि से निकाल लेना चाहिए। संस्कृत टीका में जो अंक-संदृष्टि दी गयी है, उसमें त्रैराशिक करने से जो प्रमाण निकलता है। वह दिया गया है। उसका खुलासा एकेन्द्रिय जीवों का तो ऊपर कर ही आये हैं। शेष का इस प्रकार जानना चाहिए-

द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के दर्शनमोह का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २५ सागर, चारित्रमोह की सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १४ $\frac{२}{७}$ सागर, ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, अन्तराय की पाँच और असातावेदनीय इन बीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १० $\frac{५}{७}$ सागर, नामकर्म की ३९ प्रकृतियों का तथा नीचगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ७ $\frac{१}{७}$ सागर होता है।

त्रीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के दर्शनमोह का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५० सागर, चारित्रमोह की सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २८ $\frac{४}{७}$ सागर, ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मों की उन्नीस और असाता-वेदनीय इन बीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २१ $\frac{३}{७}$ सागर, नामकर्म की ३९ और नीचगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १४ $\frac{२}{७}$ सागर होता है।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १०० सागर का, चारित्रमोह की

सोलह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५७ $\frac{१}{७}$ सागर का, ज्ञानावरणादि तीन घातियाकर्मों की १९ और असातावेदनीय इन २० प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ४२८ $\frac{४}{७}$ सागर का, नामकर्म की ३९ और नीचगोत्र इन ४० प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २८५ $\frac{४}{७}$ सागर का होता है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १००० सागर का, चारित्रमोह की १६ कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ५७१ $\frac{३}{७}$ सागर का, ज्ञानावरणादि ३ घातिया कर्मों की १९ और असातावेदनीय इन २० प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ४२८ $\frac{४}{७}$ सागर का, नामकर्म की ३९ और नीचगोत्र इन ४० प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २८५ $\frac{४}{७}$ सागर का होता है।

ऊपर द्वीन्द्रिय से लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के सातों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया गया है। इनमें से जिस जीव के जिस प्रकृति का जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसमें से पल्य का संख्यातवाँ भाग कम कर देने पर वह जीव उस प्रकृति के उतने जघन्य स्थितिबन्ध को करता है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध मूलग्रन्थ में गाथा १२२ से लगाकर गाथा १३८ तक बतलाया ही गया है। आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ३३ सागर है जो सर्वार्थसिद्धि या सातवें नरक जाने वाले मनुष्य और तिर्यंच जीव वर्तमान भव की आयु के त्रिभाग में बाँधते हैं। आयुकर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है, यह भी मनुष्य या तिर्यंच के ही होता है। उपर्युक्त सर्व कथन की अर्थ-बोधक संदृष्टियाँ संस्कृत टीका में दी हुई हैं, जिन्हें पाठक सुगमता से समझ सकेंगे। विस्तार के भय से यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

**टीका**—एकेन्द्रिया जीवाः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं दर्शनमोहमेकसागरोपमां बध्नन्ति। द्वीन्द्रियजीवाः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं पञ्चविंशतिसागरोपमाणि बध्नन्ति। त्रीन्द्रियप्राणिनः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं पञ्चाशत्सागरोपमाणि बध्नन्ति। चतुरिन्द्रियजीवाः मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिं शतसागरोपमाणि बध्नन्ति। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवाः सहस्रसागरोपमाणि बध्नन्ति दर्शनमोहोत्कृष्टस्थितिबन्धम्। संज्ञिनः पर्याप्ता जीवा एव मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिबन्धं सप्तति कोटीकोटिसागरोपमाणि बध्नन्ति। [२२९]तज्जघन्यस्तु एकेन्द्रिय द्वीन्द्रियादीनां स्व-स्वोत्कृष्टात् [२३०]पल्यासंख्येय-पल्यसंख्येयभागोनक्रमो भवति ॥१३९॥

एकेन्द्रियादीनां दर्शनमोहस्योत्कृष्टस्थितिबन्धं व्याख्याय चारित्रमोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयान्तराय-नाम-गोत्राणां उत्कृष्टस्थितिबन्धः कियान् स्यादित्याशङ्कायां श्रीगोम्मटसारोक्तगाथामाह—

**जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।**
**इदि संपाते सेसाणं इगि-विगलेसु उभयठिदी[२३१]॥१९॥**

---

२२९. ब मिथ्यात्वजघन्यस्थितिबन्धः। २३०. एकेन्द्रियाणां दर्शनमोहस्य स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धाज्जघन्यबन्धः पल्यासंख्येयभागोनः। द्वीन्द्रियादिषु स्वोत्कृष्टस्थितिबन्धात्पल्यसंख्येयभागोनः। २३१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १४५।

सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमोत्कृष्टस्थितिकमिथ्यात्वस्य बन्धे सति यदि एकेन्द्रियः एकसागरोपमाः दर्शनमोहं बध्नाति, तदा तीसियादीनां एकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः कियान् लब्धो भवतीत्याह– चालीसियानां चारित्रमोहनीयषोडशकषायाणां एकसागरोपमचतुः सप्तभागाः तीसियानां असात-वेदनीयैकोन्नविंशतिघातिनां एकसागरोपमत्रिसप्तभागाः वीसियानां हुण्डासम्प्राप्तासृपाटिकाऽरति-शोकषण्ढवेद–तिर्यग्गति–तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वय–भयद्विक–तैजसद्विकौदारिकद्विकाऽऽतपद्विकनीचैर्गोत्र-त्रसचतुष्क–वर्णचतुष्कागुरुलघूपघात–परघातोच्छ्वासैकेन्द्रिय–पञ्चेन्द्रियस्थावरनिर्माणासद्गमना-स्थिरषट्कानां एक–सागरोपमद्वि–सप्तभागा पुनः अनेन सम्पातत्रैराशिकक्रमेण शेषाणां सागर–पञ्चदश कोटीकोटिस्थितिसातवेदनीय–स्त्रीवेद–मनुष्ययुग्मानां सागराष्टादश कोटीकोटिस्थिति–वामन–कीलित-विकलत्रय–सूक्ष्मत्रयाणां सागरषोडश कोटीकोटिस्थिति–कुब्जकार्धनाराचयोः सागरचतुर्दश कोटीकोटि-स्थिति–स्वातिनाराचयोः सागरद्वादश कोटीकोटिस्थितिन्यग्रोध–वज्रनाराचयोः सागरदश कोटीकोटिस्थिति-समचतुरस्र–वज्रवृषभनाराचयोः हास्यरत्युच्चैर्गोत्र–पुंवेद–स्थिरषट्कसद्गमनानां च उत्कृष्टस्थितिबन्धं एकेन्द्रियस्य साधयेत् एवं पञ्चविंशतिं पञ्चाशतं शतं सहस्रं च सागरोपमाणि चतुरः फलराशीन् कृत्वा चालीसियादीनि पृथक्–पृथक् इच्छाराशीन् कृत्वा प्रमाणराशिं प्राक्तनमेव कृत्वा लब्धानि द्वीन्द्रियादीनां चालीसियादिगतोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणानि भवन्ति।

उत्कृष्टस्थितिबन्धसंदृष्टिर्यथा–

| | द० मि० | चा० मो० १६ | ज्ञा०द ९अंव्वे० अं० २० | ना० नी० गो० प्र० ३९ |
|---|---|---|---|---|
| पर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः– | सा० १ | सा० ४/७ | सा० ३/७ | सा० २/७ |
| द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः– | सा० २५ | सा० १४ २/७ | सा० १० ५/७ | सा० ७ १/७ |
| त्रीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः– | सा. ५० | सा. २८ ४/७ | सा. २१ ३/७ | सा. १४ २/७ |
| चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः– | सा. १०० | सा. ५७ १/७ | सा. ४२ ६/७ | सा. २८ ४/७ |
| असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः– | सा.१००० | सा. ५७१ ३/७ | सा. ४२८ ४/७ | सा. २८५ ४/७ |

एकेन्द्रियबादरपर्याप्तको जीवः दर्शनमोहस्य मिथ्यात्वप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरोपममेकं १ बध्नाति। चारित्रमोहस्य षोडशकषायाणां उत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरस्य सप्तभागानां मध्ये चतुर्भागान् बध्नाति। ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ९ अंतराय ५ असातवेदनीय १ एवं विंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरस्य सप्तभागानां मध्ये त्रिभागान् बध्नाति। नामकर्मप्रकृति १. हुण्डक २. असम्प्राप्ता० ३. अरति ४ शोक ५ नपुंसक ६ तिर्यग्द्वयं ८ भय ९ जुगुप्सा १० तैजस ११ कार्मण १२ औदारिकद्विक १४ आतपोद्योत १६ नीचगोत्र १७ त्रसचतुष्क २१ अगुरूलघु २२ उप० २३ पर० २४ उच्छ्वास २५ एके० २६

पंचे० २७ स्था० २८ नि० २९ असद्गमन ३० वर्णचतुष्क ३४ अस्थिरषट्कं ४० एकेन्द्रियः पर्याप्तो बध्नाति।

द्वीन्द्रियपर्याप्तो दर्शनमोहस्य मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिबन्धं सागर २५ चारित्रमोहस्य षोडशकषायाणां उ० बं० सा० १४ भा० २/७ ज्ञा० ५ द० ९ असातवेदनीय १ अं० ५ एवं विंशतिप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिबन्धं सा० १० भा० ५/७ नामप्रकृति ३९ नीचगोत्रस्य १ उत्कृष्ट सागर ७ भाग १/७ बध्नाति।

त्रीन्द्रियजीवः पर्याप्तो दर्शनमोहस्य मिथ्यात्व प्र० उ० सा० ५० बध्नाति। चारित्रमोहस्य षोडशकषायाणां उ० सा० २८ भा० ४/७। ज्ञा० ५ द० ९ अं० ५ असातवे० १ एवं २० उ० सा० २१ भा० ३/७। नामप्र० ३९ नीच गो० १ एवं ४० प्रकृतीनां स्थितिबं० सा० १४ भा० २/७ बध्नाति। चतुरिन्द्रियः पर्याप्तो दर्शनमो० मिथ्या० उत्कृ० सा० १०० चारित्रमोहस्य १६ प्र० उत्कृष्टस्थितिबन्धं साग० ५७ भा० १/७ ज्ञा० ५ द० ९ अं० ५ असातवे० १ एवं विंशति-प्रकृतीनां उ० सा० ४२ भा० ६/७ नामप्र० ३९ नीचगो० १ एतासां ४० प्र० उत्कृ० सा० २८ भा० ४/७ बध्नाति।

असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तो दर्शनमोहस्य मिथ्या० उ० साग० १००० चारित्रमो० १६ प्र० सा० ५७१ भा० ३/७ ज्ञा० ५ द० ९ अं० ५ असातवे० १ एवं २० उ० सा० ४२८ भा० ४/७ नामप्र० ३६ नीचगो० १ उत्कृ० सा० २८५ भा० ४/७ बध्नाति।

एकेन्द्रियस्य— दर्शनमोहस्य सागर० १
चारित्रमोहस्य सागर० ४/७
ज्ञाना० दर्श० वेद० अंत० सागर० ३/७
ना० गो० सागर० २/७

द्वीन्द्रियस्य— २५ दर्शनमोहस्य उत्कृष्टस्थितिबन्धः सा० २५
१००/७ चारित्रमोहस्य सागरो० १४ आ० २/७
७५/७ ज्ञा० द० वे० अन्त० उ० सा० १० भा० ५/७
५०/७ नामगोत्रयो० सा० ७ भा० १/७*

*. ब प्रतौ इयान् पाठोऽधिकः—तत्संज्ञी उत्कृष्टेन एकेन्द्रियादीनां उत्कृष्टजघन्यौ स्थितिबन्धौ आह। तदुपरि गोम्मटसारोक्तगाथामाह— जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं।

इदि संपति सेसाणं इगिविगलेसु उभयठिदी॥

सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमोत्कृष्टस्थितिकदर्शनमोह-मिथ्यात्वस्य यदि एक सागरोपममात्रं एकेन्द्रियो जीवो बध्नाति तदा तीसियादीनां ज्ञानावरणादीनां किं भवति लब्धः ? एकेन्द्रियः पर्याप्तः दर्शनमोहनीयस्य सागरोपमं १ उत्कृष्टस्थितिबधं बध्नाति। चारित्रमोहनीयस्य सागरोपमस्य सप्तभागानां मध्ये चतुरो भागान् बध्नाति उत्कृष्टस्थितिम्। ज्ञानावरण-दर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां उत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरोपमस्य सप्तभागाः क्रियन्ते तन्मध्ये त्रीन् भागान् बध्नाति। नामगोत्रयोः उत्कृष्टस्थितिबन्धं सागरोपमस्य सप्तभागानां मध्ये द्वौ भागौ बध्नाति।

त्रीन्द्रियस्य–

५० दर्शनमोहस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः साग॰ ५०
$\frac{२००}{७}$ चारित्रमोहस्य उ॰ साग॰ २८ भा॰ $\frac{४}{७}$
$\frac{१५०}{७}$ ज्ञा॰ द॰ वे॰ अं॰ सा॰ २१ भा॰ $\frac{३}{७}$
$\frac{१००}{७}$ नामगोत्रयोः सा॰ १४ भा॰ $\frac{२}{७}$

चतुरिन्द्रियस्य–

१०० दर्शनमोहस्य उ॰ स्थितिब॰ सा॰ १००
$\frac{४००}{७}$ चारित्रमोहस्य उ॰ सा॰ ५७ भा॰ $\frac{१}{७}$
$\frac{३००}{७}$ ज्ञा॰ द॰ वे॰ अं॰ सा॰ ४२ भा॰ $\frac{६}{७}$
$\frac{२००}{७}$ नामगोत्रयोः सा॰ २८ भा॰ $\frac{४}{७}$

असंज्ञिनः–

१००० दर्शनमोहस्य उ॰ सा॰ १०००
$\frac{४०००}{७}$ चारित्रमोहस्य सा॰ ५७१ भा॰ $\frac{३}{७}$
$\frac{३०००}{७}$ ज्ञा॰ द॰ वे॰ अं॰ सा॰ ४२८ भा॰ $\frac{४}{७}$
$\frac{२०००}{७}$ नामगोत्रयोः सा॰ २८५ भा॰ $\frac{५}{७}$

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ए॰ | प्र॰ ७० | फ॰ १ | इ॰ ४० | ३० | २० |
| द्वी॰ | प्र॰ ७० | फ॰ २५ | इ॰ ४० | ३० | २० |
| त्री॰ | प्र॰ ७० | फ॰ ५० | इ॰ ४० | ३० | २० |
| च॰ | प्र॰ ७० | फ॰ १०० | इ॰ ४० | ३० | २० |
| पं॰ अ॰ | प्र॰ ७० | फ॰ १००० | इ॰ ४० | ३० | २० |

संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः दर्शनमोहमिथ्यात्वस्य कोडा॰ सा॰ ७० चारित्रमोहस्य कोडा॰ सा॰ ४०। ज्ञा॰ द॰ वे॰ अं॰ कोडा॰ सा॰ ३०। नाम–गोत्रयोः कोडा॰ सा॰ २०।

इति स्थितिबन्धप्रकरणं समाप्तम्

**इस प्रकार स्थितिबन्ध नामक द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ।**

**अथानुभागबन्धस्वरूपं[२३२] गाथाचतुष्केणाऽऽह–**

**सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण[२३३]।**
**विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं[२३४]॥१४०॥**

**अब अनुभागबन्ध का वर्णन करते हैं–**सातावेदनीय आदिक शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध विशुद्धि से होता है और असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध संक्लेश से होता है। उक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध विपरीत परिणामों से होता है अर्थात् शुभ प्रकृतियों का संक्लेश से और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्धि से जघन्य अनुभागबन्ध होता है। इस प्रकार सर्वप्रकृतियों के अनुभागबन्ध का नियम जानना चाहिए।

**टीका–**शुभप्रकृतीनां सातादीनां द्वाचत्वारिंशत्संख्योपेतानां विशुद्धपरिणामेन विशुद्धि-गुणेनोत्कृष्टस्य[२३५] पुरुषस्य तीव्रानुभागो भवति। अशुभप्रकृतीनां असातादीनां द्व्यशीतिसंख्योपेतानां मिथ्यादृष्टयुत्कटस्य संक्लेशपरिणामेन च तीव्रानुभागो भवति। विपरीतेन संक्लेशपरिणामेन प्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यानुभागो भवति, विशुद्धपरिणामेन अप्रशस्तप्रकृतीनां च जघन्यानुभागो भवति ॥१४०॥

**अनुभाग इति किम् ? इति प्रश्ने तत्स्वरूपं प्रथमतः घातिष्वाह–**

**सत्ती य लता-दारू-अट्ठी-सेलोवमा हु घादीणं।**
**दारूअणंतिमभागो त्ति देसघादी तदो सव्वं[२३६]॥१४१॥**

**अब घाति और अघाति कर्मों की अनुभागरूप शक्ति का वर्णन करते हैं–**घातिया कर्मों के फल देने की शक्ति लता (बेलि), दारू (काठ), अस्थि (हड्डी) और शैल (पत्थर) के समान होती है अर्थात् लता आदिक में जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक कठोरपना है वैसे ही इनके फल देने की शक्ति में भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक तीव्रता समझना चाहिए, इनमें दारूभाग के अनन्तवें भाग तक का शक्ति रूप अंश देशघाती है और दारू के शेष बहुभाग से लेकर शैल भाग तक शक्तिरूप अंश सर्वघाती है अर्थात् उसके उदय होने पर आत्मा के गुण प्रकट नहीं होते।

**टीका–**घातिनां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायाणां शक्तयः स्पर्धकानि लतादार्वस्थिशैलो-पमचतुर्विभागेन तिष्ठन्ति खलु स्फुटम्। तत्र लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तं देशघातिन्यो भवन्ति। तत उपरिदार्वनन्तबहुभागमादिं कृत्वा अस्थि-शैलभागेषु सर्वत्र सर्वघातिन्यो भवन्ति ॥१४१॥

---

२३२. अनुभवस्वरूपं–ज्ञानावरणादिकर्मणां यस्तु रसः सोऽनुभवः, अध्यवसानैः परिणामैर्जनितः क्रोधमान-मायालोभतीव्रादि-परिणामभावितः शुभः सुखदः, अशुभः असुखदः, स अनुभागबन्धः। यथाअजागोमहिष्यादीनां क्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः, तथा कर्मपुद्गलानां तीव्रादिभावने स्वगतसामर्थ्यविशेषः शुभः अशुभो वा। २३३. त संकिलेस्सेण। २३४. पञ्चसंग्रह ४, ४५१, गोम्मटसार कर्मकाण्ड १६३। २३५. ब नोत्कटस्य। २३६. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १८०।

**तासां देशघाति-सर्व-घातिनां सर्वासां प्रकृतीनां मध्ये मिथ्यात्वस्य विशेषमाह—**

**देसो त्ति हवे सम्मं तत्तो दारु-अणंतिमे मिस्सं।**
**सेसा अणंतभागा अट्ठि-सिलाफड्ढया मिच्छे[२३७]॥१४२॥**

**अब दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व आदि भेदों में जो विशेषता है, उसे बतलाते हैं—**मिथ्यात्व प्रकृति के लता भाग से लेकर दारूभाग के अनन्तवें भाग तक देशघाती स्पर्द्धक सम्यक्त्वप्रकृति के हैं। दारूभाग के अनन्तबहुभाग के अनन्तवें भाग प्रमाण भिन्न जाति के सर्वघातिया स्पर्धक मिश्र प्रकृति अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व के हैं। दारू के शेष अनन्त बहुभाग तथा हड्डी और शैलभाग रूप स्पर्धक मिथ्यात्व प्रकृति के जानना चाहिए।

**टीका—**लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तानि देशघातिस्पर्धकानि सर्वाणि सम्यक्त्व-प्रकृतिर्भवति। शेषदार्वनन्तबहुभागेष्वनन्तखण्डीकृतेष्वेकखण्डं जात्यन्तरसर्वघातिमिश्रप्रकृति-र्भवति। शेषदार्वनन्तबहुभाग-बहुभागाः अस्थिशिलास्पर्धकानि च सर्वघातिमित्यात्वप्रकृतिर्भवति ॥१४२॥[२३८]

**गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंब-कंजीरा।**
**विस-हालाहलसरिसा असत्था हु अघादिपडिभागा[२३९]॥१४३॥**

**अब प्रशस्त और अप्रशस्तरूप अघातिया कर्मों की शक्तियों को बतलाते हैं—**अघातिया कर्मों में प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियों के शक्ति-अंश गुड़, खाँड़, मिश्री और अमृत के समान तथा अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियों के शक्ति-अंश निम्ब (नीम), कांजीर, विष और हालाहल के समान जानना चाहिए।

**विशेषार्थ—**कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। प्रकृतिबन्ध में कर्मों के घाती अघाती भेद बतला आये हैं। उनमें से घातिया कर्मों के अनुभाग की उपमा लता, दारू, अस्थि और शैल से दी गयी है। जिस प्रकार इन चारों में उत्तरोत्तर कठोरता अधिक पायी जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मों के लता समान एक स्थानीय अनुभाग से काष्ठ समान द्विस्थानीय अनुभाग और अधिक तीव्र होता है। उससे अस्थि समान त्रिस्थानीय अनुभाग और भी अधिक तीव्र होता है और उससे शैल समान चतु:स्थानीय अनुभाग और भी अधिक तीव्र होता है। इन चारों जाति के अनुभागों का बन्ध उत्तरोत्तर संक्लिष्ट, संक्लिष्टतर और संक्लिष्टतम परिणामों से होता है। घातिया कर्मों में दो भेद

---

२३७. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १८१। २३८. आमेर-भण्डारस्थप्रतौ टीकापाठोऽयम्-मिथ्यात्वप्रकृतौ देशघाति-पर्य्यन्तं प्रथमोपशमसम्यक्त्वपरिणामेन गुणसंक्रमभागहारेण बन्धापेक्षयैकविधा सत्वरूपमिथ्यात्वप्रकृतिः देशघाति-जात्यंतरसर्वघाति-सर्वघातिभेदेन सम्यक्त्व-मिश्र-मिथ्यात्वप्रकृतिभेदेन त्रिधा कृतास्तीति लताभागमादिं त्रिधा कृत्वा दार्वनंतैकभागपर्यंतं देशघातिस्पर्द्धकानि सर्वाणि सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवेत्। शेष दार्वनन्त बहुभागस्य अनन्तखंडानि कृत्वा तत्रैकं खण्डं जात्यंतरसर्वघाति-मिश्रप्रकृतिर्भवति। शेषाऽशेषा दार्वनन्तबहुभाग-बहुभागाः अस्थिशिला-स्पर्द्धकानि च सर्वघाति-मिथ्यात्वप्रकृतिर्भवति। २३९. गोम्मटसार कर्मकाण्ड १८४।

हैं—देशघाती और सर्वघाती। देशघाती अनुभाग दारूजातीय द्विस्थानिक अनुभाग के अनन्तवें भाग तक और सर्वघाती अनुभाग उसके आगे से लेकर शैल के अन्तिम तीव्रतम चतु:स्थानीय अनुभाग तक जानना चाहिए।

अघातिया कर्मों के भी दो भेद हैं—१. पुण्यरूप और २. पापरूप। प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन में पुण्य और पाप प्रकृतियों को बतला आये हैं। पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृत तुल्य उत्तरोत्तर मीठा बतलाया गया है तथा पापप्रकृतियों का अनुभाग नीम, काँजीर, विष और हालाहल के समान उत्तरोत्तर कडुआ बतलाया गया है। पाप प्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध संक्लेश की तीव्रता से और पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध संक्लेश की मन्दता या परिणामों की विशुद्धता से होता है। सामान्यतः सभी मूल कर्मों और उत्तर प्रकृतियों के अनुभागबन्ध के विषय में यही नियम लागू है। यतः घातिया कर्मों को पाप प्रकृतियों में ही गिना गया है, अतः उनका अनुभाग उपमा की दृष्टि से लता, दारू आदि के समान होते हुए भी फल की दृष्टि से नीम, काँजीर आदि के समान उत्तरोत्तर कटुक ही होता है।

जिस जाति के तीव्रतम संक्लेश परिणामों से पाप प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध होता है, उनसे विपरीत अर्थात् विशुद्ध परिणामों के द्वारा उन प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग का बन्ध होता है। इसी प्रकार जिन विशुद्धतम परिणामों के द्वारा पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है उनसे विपरीत परिणामों के द्वारा अर्थात् संक्लेश परिणामों से उनका जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अनुभाग-विषयक अन्य विशेष वर्णन गोम्मटसार कर्मकाण्ड से जानना चाहिए।

**टीका—**अघातिनां द्वाचत्वारिंशत्प्रशस्तप्रकृतीनां प्रतिभागाः शक्तिविकल्पाः गुड-खण्ड-शर्करामृत-सदृशाः खलु [स्फुटम्]। अप्रशस्तानां अघातिनां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां निम्ब-काञ्जीर-विष-हालाहल-सदृशाः खलु स्फुटम्।[२४०] उदयापेक्षया सर्वप्रकृतयः १२२। तासु घातिन्यः प्रकृतयः ४७। अघातिन्यः प्रकृतयः ७५। एतासु प्रशस्ताः ४२। अप्रशस्ताः प्रकृतयः ३३। अप्रशस्तवर्णचतुष्कमस्तीति तस्मिन् मिलिते ३७ अप्रशस्ताः[२४१]॥१४३॥

प्रशस्तप्रकृतीनां—अमृतसदृशमुत्कृष्टं चतुर्थस्थानं भवति। शर्करासदृशमनुत्कृष्टं तृतीयस्थानम्। खण्डसदृशमजघन्यं द्वितीयस्थानम्। गुणसदृशं जघन्यमेकस्थानं भवति।

अप्रशस्तप्रकृतीनां—हालाहलसमानमुत्कृष्टं चतुर्थस्थानम्। विषसमानमनुत्कृष्टं तृतीयस्थानम्। कांजीरसमानमजघन्यं द्वितीयस्थानम्। निम्बसमानं जघन्यमेकस्थानं भवति।

इत्यनुभागबन्धः समाप्तः।

**इस प्रकार अनुभागबन्ध का वर्णन समाप्त हुआ।**

---

२४०. यहाँ पर जो टीका में संदृष्टि दी है, उसे परिशिष्ट में देखिये। २४१. इस स्थल पर गो॰ कर्मकाण्ड की संस्कृत टीका में जो संदृष्टि दी है, उसे भी परिशिष्ट में देखिये।

**अथ ज्ञानावरणादिकर्मणां केन प्रकारेण कीदृगाचरणेन च बन्धो भवतीति गाथाष्टादशकेनाऽऽह—**

**पडिणीगमंतराए उवघादे तप्पदोस-णिण्हवणे।**
**आवरणदुगं बंधदि भूयो अच्चासणाए वि[२४२]॥१४४॥**

**अब प्रदेशबन्ध का वर्णन करते हुए पहले ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म-बन्ध के कारणों का निरूपण करते हैं—**प्रत्यनीक, अन्तराय, उपघात, प्रदोष, निह्नव और असातना से जीव ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दो आवरण कर्मों को अधिकता से बाँधता है।

**विशेषार्थ—**शास्त्रों में और शास्त्रों के जानकार पुरुषों में अविनय रूप प्रतिकूल आचरण करना प्रत्यनीक है। ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न करना, पढ़ने वालों को नहीं पढ़ने देना, विद्यालय और पाठशाला आदि के संचालन में बाधाएँ उपस्थित करना, ग्रन्थों के प्रचार और प्रकाशन को नहीं होने देना अन्तराय है। किसी के उत्तम ज्ञान में दूषण लगाना, ज्ञान के साधन शास्त्र आदि को नष्ट कर देना, विद्यालय आदि को बन्द कर देना उपघात है। पढ़ने वालों के पठन-पाठन में छोटी-मोटी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करना भी उपघात के ही अन्तर्गत है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास में हर्षभाव नहीं रखना, अनादर या अरुचि रखना, ज्ञानी जनों को देखकर प्रमुदित न होना, उनको आता देखकर मुख फेर लेना प्रदोष है। किसी विषय के जानते हुए भी दूसरे के पूछने पर ''मैं नहीं जानता'' इस प्रकार ज्ञान का अपलाप करना, ज्ञान की साधक पुस्तक आदि के होने पर भी दूसरे के माँगने पर कह देना कि मेरे पास नहीं है, निह्नव है अथवा अनेक गुरुजनों से पढ़ने पर भी अपने को अप्रसिद्ध गुरुओं का शिष्य न बतलाकर प्रसिद्ध गुरुओं का शिष्य बतलाना भी निह्नव के ही अन्तर्गत है। किसी के प्रशंसा योग्य ज्ञान या उपदेशादि की प्रशंसा और अनुमोदना नहीं करना, किसी विशिष्ट ज्ञानी को नीच कुल का बतला करके उसके महत्त्व को गिराना असातना है। इन कार्यों के करने से ज्ञानावरणकर्म का प्रचुरता से बन्ध होता है। इसी प्रकार ज्ञानियों से ईर्ष्या और मात्सर्य रखना, निषिद्ध देश और निषिद्धकाल में पढ़ना, गुरुजनों का अविनय करना, पुस्तकों से तकिये का काम लेना, उन्हें पैरों से हटाना, ग्रन्थों को भण्डारों में सड़ने देना, किन्तु किसी को स्वाध्याय के लिए नहीं देना, न स्वयं उनका प्रकाशन करना और न दूसरों को प्रकाशनार्थ देना इत्यादि कार्यों से भी ज्ञानावरणकर्म का तीव्र बन्ध होता है। ये ऊपर कहे हुए सभी कार्य जब दर्शन गुण के विषय में किये जाते हैं, तब दर्शनावरणकर्म का तीव्रता से बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त आलसी जीवन बिताने से, विषयों में मग्न रहने से, अधिक निद्रा लेने से, दूसरे की दृष्टि में दोष लगाने से, देखने के साधन उपनेत्र (चश्मा) आदि के चुरा लेने या फोड़ देने से और जीवघात आदि करने से भी दर्शनावरणकर्म का प्रचुर परिमाण में बन्ध होता है। वस्तुतः आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का संसारी जीवों के निरन्तर बन्ध होता ही रहता है, किन्तु उपर्युक्त कार्यों के करने से

२४२. पञ्च सं० ४, २०४। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८००।

ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म के तीव्र अनुभाग और उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है।

**टीका**—ज्ञान-दर्शनयोः ज्ञान-दर्शनधरेषु अविनयवृत्तिः प्रत्यनीकं प्रतिकूलता इत्यर्थः। ज्ञान-दर्शनविच्छेदकरणमन्तरायः। मनसा वचनेन वा प्रशस्तज्ञान-दर्शनयोः दूषणं तयोः बाधाकरणं वा उपघातः। तत्प्रदोषः तत्त्वज्ञान-सम्यग्दर्शनयोः तद्धरेषु हर्षाभावः। अथवा तस्य तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्त्तने कृते कस्यचित्पुंसः स्वयमजल्पतोऽन्तःकरणपैशुन्यं प्रद्वेषः। विद्यमाने ज्ञानादौ एतदहं न जानामि, एतत्-पुस्तकमस्मत्पार्श्वे नास्ति, ज्ञानस्य अकथनं निह्नवः। वा अप्रसिद्धगुरून् अपलप्य प्रसिद्धगुरुकथनं निह्नवः। कायेन वचनेन ज्ञानस्य अविनयः, गुणकीर्त्तनादेरकरणं वा आसादनम्। एतेषु षट्सु सत्सु जीवो ज्ञानावरण-दर्शनावरणद्वयं भूयः प्रचुरवृत्या बध्नाति, स्थित्यनुभागौ बध्नातीत्यर्थः। ते षट्प्रकाराः प्रत्यनीकादयः तद्द्वयस्य ज्ञानदर्शनावरणस्य युगपद् बन्धकारणानि तु तथा बन्धात्। अथवा विषय-भेदादास्रवभेदः-ज्ञानविषयत्वेन ज्ञानावरणस्य दर्शनविषयत्वेन दर्शनावरणस्येति ॥१४४॥

**भूदाणुकंप-वदजोगजुत्तो[२४३] खंतिदाण गुरुभत्तो।**
**बंधदि भूयो सादं विवरीदो बंधदे इदरं[२४४]॥१४५॥**

**अब वेदनीयकर्म के दोनों भेदों के बन्ध कारणों का निर्देश करते हैं**—सर्व प्राणियों पर दया करने से, अहिंसादि व्रत और समाधिरूप परिणामों के धारण करने से, क्रोध के त्यागरूप क्षमा भाव से, दान देने से तथा पंच परमगुरुओं की भक्ति करने से जीव सातावेदनीय कर्म के अनुभाग को प्रचुरता से बाँधता है। उक्त कारणों से विपरीत आचरण करने से जीव असातावेदनीय कर्म का तीव्र स्थिति और अनुभाग बन्ध करता है। सातावेदनीय के बन्ध में स्थिति का प्रचुर बन्ध न बताने का कारण यह है कि स्थितिबन्ध की अधिकता विशुद्ध परिणामों से नहीं होती।

**टीका**—गत्यां गत्यां कर्मविपाकाद् भवन्तीति भूताः प्राणिनः। तेष्वनुकम्पा कारुण्यपरिणामः। व्रतानि हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मचर्यपरिग्रहेभ्यो विरतिः। योगः समाधिः सम्यक्[२४५] प्रणिधानमित्यर्थः। तैर्युक्तः। क्रोधादिनिवृत्तिलक्षणं क्षान्त्या चतुर्विधदानेन पञ्चगुरुभक्त्या च संपन्नः स जीवः सातं तीव्रानुभागं भूयो बध्नाति। तद्विपरीतस्तादृगसातं बध्नाति ॥१४५॥

**दुक्ख-वह-सोग-तावाकंदण परिदेवणं च अप्पठियं।**
**अण्णट्ठियमुभयट्ठियमिदि वा बंधो असादस्य॥१४६॥**

**अब विशेष रूप असातावेदनीय कर्म के बन्ध कारणों का निरूपण करते हैं**—दुःख, वध, शोक, संताप, आक्रन्दन और परिदेवन स्वयं करने से, अन्य को कराने से तथा स्वयं करने और दूसरे को कराने से असातावेदनीय कर्म का विपुलता से बन्ध होता है।

---

२४३. त-जुंजिदो। २४४. पञ्चसं० ४, २०५। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०१। २४५. ब समीचीने सावधानम्।

वेदना परिणाम दुःख है। हनन करना वध है। वस्तु का विनाश हो जाने पर अति विकलता और दीन परिणाम होना शोक है। चित्त में खेद होना पश्चाताप रूप संताप है। अश्रुपात के साथ हृदय आदि को पीटना आक्रन्दन है। रोना और आँसू गिराना परिदेवन है। यह सब स्वयं में हो, अन्य में हो।

**विशेषार्थ—**गाथा में जो असातावेदनीय कर्म के बन्ध कारण बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त जीवों पर क्रूरतापूर्ण व्यवहार करने से, स्वयं धर्म नहीं पालन करके धर्मात्मा जनों के प्रति अनुचित आचरण करने से, मद्य-पान, मांस-भक्षणादिक करने से, व्रत, शील, तपादि के धारकों की हँसी उड़ाने से, पशु-पक्षी आदि का वध-बन्धन, छेदन-भेदन और अंग-उपांगादि के काटने से उन्हें बधिया (नपुंसक) करने से जीवों को नाना प्रकार से शारीरिक और मानसिक दुःख पहुँचाने से, तीव्र अशुभ परिणाम रखने से, विषय-कषाय-बहुल प्रवृत्ति करने से, पाँचों पापों के आचरण से भी असाता वेदनीयकर्म का विपुल परिमाण में बन्ध होता है। गाथा में जो सबसे अधिक ध्यान देने की बात कही, वह यह है कि ऊपर कहे गये कार्य चाहे मनुष्य स्वयं करे, चाहे करावे या करते हुए की अनुमोदना करे सभी दशाओं में असातावेदनीयकर्म तीव्रता से बँधेगा। आजकल कितने ही लोग ऐसा समझते हैं कि जो जीव-घातक कसाई है, उसे ही पाप-बन्ध होगा, मांस-भक्षियों को नहीं। पर यह विचार एकदम भ्रान्त है। जिस परिणाम में हिंसक पापी है और उसे प्रचुरता से पाप का बन्ध होता है, उसी परिमाण में मांस-भोजी भी पापी है और उसके भी उसी विपुलता से तीव्र असातावेदनीय का बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त अपने आश्रित दासी-दास को या पशु-पक्षियों को समय पर आहार आदि नहीं देना, उनकी शक्ति से अधिक उनसे बलात् कार्य कराना, अधिक भार लादना आदि कार्य भी असातावेदनीय के ही बन्धक हैं।

**टीका—**वेदनापरिणामः दुःखम् हननं वधः। वस्तुविनाशे अतिवैक्लव्यं दीनत्वं शोकः। चित्तस्य खेदः पश्चात्तापः तापः। बुम्बापात-हृदयादिकुट्टनं आक्रन्दनम्। रोदनं अश्रुपातः परिदेवनं च एतत्सर्वं आत्मस्थितं वा अन्यस्थितं वा [२४६]उभयस्थितं वा भवति, [तथा] सति असातस्य दुःखस्वरूपस्य कर्मणः बन्धो भवति ॥१४६॥

**अरहंत-सिद्ध चेदिय-तव-गुरु-सुद-धम्म-संघपडिणीगो।**
**बंधदि दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण[२४७]॥१४७॥**

**अब मोहनीयकर्म के प्रथम भेद दर्शनमोहनीय के बन्ध-कारण कहते हैं—**अरहन्त, सिद्ध, चैत्य (प्रतिमा), तप, श्रुत (शास्त्र), गुरु , धर्म और मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के प्रतिकूल आचरण करने से जीव उस दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध करता है, जिससे कि वह अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है।

२४६. ब आत्म-परस्थितम्। २४७. पञ्चसंग्रह ४, २०६। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०२।

**विशेषार्थ—**जिसमें जो अवगुण नहीं है उसमें उसके निरूपण करने को अवर्णवाद कहते हैं। वीतरागी अष्टादश दोष रहित अरहन्तों के भूख-प्यास की बाधा बतलाना, रोगादि की उत्पत्ति कहना, सिद्धों का पुनरागमन बतलाना, तपस्वियों में दूषण लगाना, हिंसा में धर्म बतलाना, मद्य-मांस-मधु के सेवन को निर्दोष कहना, निर्ग्रन्थ साधु को निर्लज्ज कहना, कुमार्ग का उपदेश देना, सन्मार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति करना, धर्मात्माओं को दोष लगाना, कर्म-मलीमस संसारियों को सिद्ध या सिद्ध-समान कहना, सिद्धों में असिद्धत्व प्रकट करना, अदेव या कुदेवों को सच्चा देव बतलाना, देवों में अदेवत्व प्रकट करना, असर्वज्ञ को सर्वज्ञ और सर्वज्ञ को असर्वज्ञ कहना इत्यादि कारणों से संसार के बढ़ाने वाले और सम्यक्त्व का घात करने वाले मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीयकर्म का तीव्र बन्ध होता है। यह कर्म सभी कर्मों में प्रधान है, अतः इसे ही कर्म-सम्राट् या मोहराज कहते हैं और इसके तीव्र बन्ध से जीव को संसार में अनन्तकाल तक भटकना पड़ता है।

**टीका—**योऽर्हत्सिद्धचैत्यतपोगुरुश्रुतधर्मसंघानां प्रतिकूलः शत्रुभूतः स प्राणी तद्दर्शनमोहनीयमिथ्यात्वं बध्नाति येन दर्शनमोहोदयागतेन जीवः अनन्तसंसारी स्यात् ॥१४७॥

**तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो रायदोससंतत्तो[२४८]।**
**बंधदि चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्तगुणघादी[२४९]॥१४८॥**

**अब मोहनीयकर्म के द्वितीय भेद चारित्रमोहनीय के बन्ध-कारणों का निरूपण करते हैं—**तीव्र कषाय वाला, अत्यधिक मोहयुक्त परिणाम वाला और राग-द्वेष से सन्तप्त जीव कषाय और नोकषाय रूप दोनों प्रकार के चारित्र-मोहकर्म को प्रचुरता से बाँधता है, जो कि चारित्रगुण का घातक है।

**विशेषार्थ—**पहले चारित्रमोहनीयकर्म के दो भेद बतला आये हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। राग-द्वेष से संयुक्त तीव्र-कषायी जीव कषायवेदनीयकर्म का और बहुमोह से परिणत जीव नोकषाय वेदनीयकर्म का बन्ध करता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—तीव्रक्रोध से परिणत जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध का बन्ध करता है, इसी प्रकार तीव्र मान, माया और लोभ वाला जीव अनन्तानुबन्धी मान, माया और लोभ कषाय का तीव्र बन्ध करता है। तीव्र रागी, अतिमानी, ईर्ष्यालु, मिथ्या-भाषी, कुटिलाचरणी और परस्त्री-रत जीव स्त्रीवेद का बन्ध करता है। सरल व्यवहार करने वाला, मन्दकषायी, मृदुस्वभावी, ईर्ष्या-रहित और स्वदार-सन्तोषी जीव पुरुषवेद का बन्ध करता है। तीव्रक्रोधी, चुगलखोर, मायावी, पशु-पक्षियों का वध, बन्धन और अंगच्छेदनादि करने वाला, स्त्री और पुरुष दोनों के साथ व्यभिचार और अनंग-क्रीड़ा करने वाला, व्रत, शील और संयम

२४८. ब-'संसत्तो' इति पाठः। तथा सति 'संसक्तः' इत्यर्थः। २४९. पञ्चसंग्रह ४, २०७। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०३।

के धारक साधु और साध्वियों के साथ मैथुन सेवन करने वाला, पंचेन्द्रियों के विषयों का तीव्र अभिलाषी, जिह्वा-लोलुपी जीव नपुंसक वेद का बन्ध करता है। स्वयं हँसने वाला, दूसरों को हँसाने वाला, मनोरंजन के लिए दूसरों की हँसी उड़ाने वाला, विनोदी स्वभाव का जीव हास्यकर्म का बन्ध करता है। स्वयं शोक करने वाला, दूसरों को शोक उत्पन्न कराने वाला, दूसरों को दुःखी देखकर हर्षित होने वाला जीव शोक कर्म का बन्ध करता है। नाना प्रकार के क्रीड़ा-कौतूहलों के द्वारा स्वयं रमने वाला और दूसरों को रमाने वाला, दूसरों को दुःख से छुड़ाने वाला और सुख पहुँचाने वाला जीव रतिकर्म का बन्ध करता है। दूसरों के आनन्द में अन्तराय करने वाला, अरतिभाव पैदा करने वाला और पापियों का सम्पर्क रखने वाला जीव अरतिकर्म का बन्ध करता है। स्वयं भयभीत रहने वाला, दूसरों को भय उपजाने वाला जीव भयकर्म का बन्ध करता है। साधुजनों को देखकर ग्लानि करने वाला, दूसरों को ग्लानि उपजाने वाला और दूसरे की निन्दा करने वाला जीव जुगुप्सा कर्म बाँधता है। इस प्रकार चारित्रमोहनीयकर्म की पृथक्-पृथक् प्रकृतियों के बन्ध के कारणों का निरूपण किया। अब सामान्य से चारित्रमोह के बन्ध-कारण बतलाते हैं—जो जीव व्रत-शील-सम्पन्न धर्म-गुणानुरागी, सर्वजगत्-वत्सल, साधुजनों की निन्दा-गर्हा करता है, धर्मात्माजनों के धर्म-सेवन में विघ्न करता है, उनमें दोष लगाता है, मद्य-मांस-मधु का सेवन और प्रचार करता है दूसरों को कषाय और नोकषाय उत्पन्न करता है, वह जीव चारित्रमोहकर्म का तीव्रबन्ध करता है।

**टीका**—यो जीवस्तीव्रकषायनोकषायोदययुतः[२५०] बहुमोहपरिणतः रागद्वेषसंसक्तः चारित्रगुण-विनाशनशीलः स जीवः कषाय-नोकषायभेदं द्विविधमपि चारित्रमोहनीयं बध्नाति ॥१४८॥

**मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो।**
**णिरयाउगं णिबंधदि पावमई रुद्दपरिणामो[२५१]॥१४९॥**

**अब आयुकर्म के चार भेदों में से पहले नरकायु के बन्ध कारण कहते हैं**—मिथ्यादृष्टि, महा आरम्भी, व्रत-शील से रहित, तीव्र लोभ से संयुक्त, पापबुद्धि और रौद्रपरिणामी जीव नरकायु को बाँधता है।

**विशेषार्थ**—जो जीव धर्म से पराङ्मुख है, पापों का आचरण करता है, महाहिंसा का कारणभूत आरम्भ और परिग्रह रखता है, लेश मात्र भी व्रत-शीलादि का न तो स्वयं पालन करता है और न दूसरों को करने देता है, करने वालों की हँसी उड़ाता है, अभक्ष्य-भोजी, मद्यपायी, मांससेवी और सर्वभक्षी है, जिसके परिणाम सदा ही चारों प्रकार के आर्त और रौद्रध्यानरूप रहते हैं और जिसका चित्त पत्थर की रेखा के समान कठोर है ऐसा जीव नरकायु का बन्ध करता है।

---

२५०. ज तीव्रकषायोदययुतः। २५१. पञ्चसं० ४, २०८। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०४।

**टीका**—यः खलु मिथ्यादृष्टिर्जीवः प्रचुरारम्भः सेवाकृषिवाणिज्यादिबह्वाऽऽरम्भः निःशीलः[२५२] तीव्रलोभ-संयुक्तः रौद्रपरिणामः पापकारणबुद्धिः स जीवो नारकायुष्कं बध्नाति ॥१४९॥

**उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहिययमाइल्लो।**
**[२५३]सढसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो[२५४]॥१५०॥**

**अब तिर्यगायु के बन्ध के कारण बतलाते हैं**—जो उन्मार्ग का उपदेश देता है, सन्मार्ग का नाशक है, गूढ़हृदयी और महामायावी है, किन्तु मुख से मीठे वचन बोलता है शठ-स्वभावी और शल्य-युक्त है ऐसा जीव तिर्यगायु का बन्ध करता है।

**विशेषार्थ**—जो जीव कुमार्ग का उपदेश तो देता ही है, साथ ही सन्मार्ग का उन्मूलन भी करता है, सन्मार्ग पर चलने वालों के छिद्रान्वेषण और असत्य दोषारोपण करता है, माया-मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से युक्त है, जिसके व्रत और शील में अतीचार लगते रहते हैं, पृथ्वी-रेखा के सदृश रोष का धारक है, गूढ़हृदय है अर्थात् इतनी गहन मायाचारी करने वाला है कि जिसके हृदय की कोई बात जान ही नहीं सकता शठशील है अर्थात् मन में मायाचार रखते हुए भी ऊपर से मीठा बोलने वाला है और महामायावी है अर्थात् करे कुछ, सोचे कुछ और बतलाये कुछ ऐसी मायाचारी करने वाला है ऐसा जीव पशु-पक्षियों में उत्पन्न कराने वाले तिर्यगायुकर्म को बाँधता है।

**टीका**—य उन्मार्गोपदेशकः मिथ्यामार्गोपदेशकः सन्मार्गनाशकः [२५५]सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप-मोक्षमार्गनाशकः गूढहृदयः मायावी शठशीलः सशल्यः मायामिथ्यानिदानयुक्तः स जीवस्तिर्यगायु-र्बध्नाति ॥१५०॥

**पयडीए तणुकसाओ दाणरदी[२५६] सील-संयमविहीणो।**
**मज्झिमगुणेहि जुत्तो मणुयाऊ बंधदे जीवो[२५७]॥१५१॥**

**अब मनुष्यायु के बन्ध के कारण बतलाते हैं**—जो स्वभाव से ही मन्दकषायी है, दान देने में निरत है, शीलसंयम से विहीन होकर भी मनुष्योचित मध्यमगुणों से युक्त है, ऐसा जीव मनुष्यायु का बन्ध करता है।

**विशेषार्थ**—जिसका स्वभाव जन्म से ही शान्त है, मन्दकषाय वाला है, प्रकृति से ही भद्र और विनम्र है, समय-समय पर लोकोपकारक धर्म और देश के हित-कारक कार्यों के लिए दान देता रहता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्र उदय से व्रत-शीलादि के पालन न कर सकने पर भी मानवोचित दया, क्षमा आदि गुणों से युक्त हैं बालू की रेखा के सदृश कषाय वाला है, न अति संक्लेश

---

२५२. ब गुणव्रत-शिक्षाव्रतरहितो वा। २५३. त सठसीलो। २५४. पञ्चसंग्रह ४, २०९। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०५। २५५. ब रत्नत्रयमोक्षमार्गनाशकः। २५६. आ० 'दाणरदी' इति पाठः। २५७. पञ्चसंग्रह ४, २१०। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०६।

परिणामी है और न अति विशुद्ध परिणामी ही है, किन्तु सरल है और सरल ही कार्यों को करता है, ऐसा जीव मनुष्यायु का बन्ध करता है।

**टीका—**यः स्वभावेन मन्दकषायोदयः दानेषु प्रीतः शीलैः संयमेन च विहीनः मध्यमगुणैर्युक्तः स जीवो मनुष्यायुर्बध्नाति ॥१५१॥

**अणुवद-महव्वदेहि य बालतवाकामणिज्जराए य।**
**देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो**[२५८]**॥१५२॥**

**अब देवायु के बन्ध के कारणों को बतलाते हैं—**जो जीव अणुव्रत या महाव्रत से संयुक्त है, बालतप और अकामनिर्जरा करने वाला है वह जीव देवायु का बन्ध करता है तथा सम्यग्दृष्टि जीव भी देवायु को बाँधता है।

**विशेषार्थ—**जो पाँचों अणुव्रतों और सप्त शीलों का धारक है, महाव्रतों को धारण कर षट्कायिक जीवों की रक्षा करने वाला है, तप और नियम का पालने वाला है, ब्रह्मचारी है, सरागभाव के साथ संयम का पालक है अथवा बाल तप और अकामनिर्जरा करने वाला है ऐसा जीव देवायु का बन्ध करता है। यहाँ बालतप से अभिप्राय उन मिथ्यादृष्टि जीवों के तप से है, जिन्होंने कि जीव-अजीवतत्त्व के स्वरूप को ही नहीं समझा है, आपा-पर के विवेक से रहित हैं और अज्ञानपूर्वक अनेक प्रकार के कायक्लेश को सहन करते हैं। बिना इच्छा के पराधीन होकर जो भूख-प्यास और शीत-उष्णादि की बाधा सहन की जाती है, उसे अकामनिर्जरा कहते हैं। कारागार (जेलखाने) में परवश होकर पृथ्वी पर सोने से, रुखे-सूखे भोजन करने से, स्त्री के अभाव में विवश होकर ब्रह्मचर्य पालने से, सदा रोगी रहने के कारण परवश होकर पथ्य-सेवन करने और अपथ्य-सेवन न करने से जो कर्मों की निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा है। इस अकामनिर्जरा और बालतप के द्वारा भी जीव देवायु का बन्ध करता है। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहकर्म के तीव्र उदय से लेशमात्र भी संयम को धारण नहीं कर पाते हैं, फिर भी वे सम्यक्त्व के प्रभाव से देवायु का बन्ध करते हैं तथा जो जीव संक्लेश-रहित हैं, जल-रेखा के समान क्रोधकषाय वाले हैं और उपवासादि करते हैं, वे भी देवायु का बन्ध करते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि सम्यक्त्वी और अणुव्रती या महाव्रती जीव कल्पवासी देवों की ही आयु का बन्ध करते हैं, किन्तु अकामनिर्जरा करने वाले जीव प्रायः भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की ही अधिकांश में आयु बाँधते हैं। बालतप करने वाले जीव यथासम्भव सभी प्रकार के देवों की आयु का बन्ध करते हैं किन्तु कल्पवासियों में विशिष्ट जाति के जो इन्द्र, सामानिक आदि देव हैं, उनकी आयु का बन्ध नहीं करते।

इस प्रकार आयुकर्म के चारों भेदों के बन्ध के कारण बतलाये गये। यहाँ इतना ध्यान रखना

२५८. पञ्चसंग्रह ४, २११। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०७।

चाहिए कि सदा ही आयुकर्म का बन्ध नहीं होता है, अत: त्रिभाग आदि विशिष्ट अवसरों पर जब आयुबन्ध का काल आता है, उस समय उपर्युक्त परिणामों में से जिस जाति के परिणाम जीव के होंगे, उसी जाति की नरक, तिर्यंच आदि की आयु का बन्ध होगा।

**टीका**—य: सम्यग्दृष्टि: जीव: स केवलसम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतै: महाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टि: जीव: स उपचाराणुव्रतमहाव्रतै: बालतपसा[२५९] अकामनिर्जरया[२६०] च देवायुर्बध्नाति ॥१५२॥

**मण-वयण-कायवक्को माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो।**
**असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं[२६१]॥१५३॥**

**अब शुभ और अशुभ नामकर्म के बन्ध के कारण बतलाते हैं**—जो जीव मन, वचन, काय से कुटिल हो, कपट करने वाला हो, अपनी प्रशंसा चाहने वाला तथा करने वाला हो, ऋद्धिगारव आदि तीन प्रकार के गारव से युक्त हो वह नरकगति आदि अशुभ नामकर्म को बाँधता है और जो इनसे विपरीत स्वभाव वाला हो अर्थात् सरल स्वभावी हो, निष्कपट हो, अपनी प्रशंसा का इच्छुक न हो और गारव-रहित हो ऐसा जीव देवगति आदि शुभनामकर्म का बन्ध करता है।

**विशेषार्थ**—जो मायावी है, जिसके मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कुटिल है, जो रसगारव, सातगारव और ऋद्धिगारव इन तीनों प्रकार के गारवों या अहंकारों का धारक है, नाप-तौल के बाट हीनाधिक वजन के रखता है और हीनाधिक लेता-देता है, अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचता है, रस-धातु आदि का वर्ण-विपर्यास करता है, उन्हें नकली बना करके बेचता है, दूसरों को धोखा देता है, सोने-चाँदी के आभूषणों में ताँबा आदि खार मिलाकर और उन्हें असली बताकर व्यापार करता है, व्यवहार में विसंवादनशील एवं झगड़ालू मनोवृत्ति का धारक है, दूसरों के अंग-उपांगों का छेदन-भेदन करने वाला है, दूसरों की नकल करता है, दूसरों से ईर्ष्या रखता है और दूसरों के शरीर को विकृत बनाता है ऐसा जीव अशुभ नामकर्म का बन्ध करता है, किन्तु जो इन उपर्युक्त कार्यों से विपरीत आचरण करता है, सरल-स्वभावी है, कलह और विसंवाद आदि से दूर रहता है, न्यायपूर्वक व्यापार करता है और ठीक-ठीक नाप-तौलकर लेता-देता है। वह शुभ नामकर्म का बन्ध करता है।

यहाँ शुभ नामकर्म से अभिप्राय नामकर्म की पुण्य प्रकृतियों से है और अशुभनामकर्म से अभिप्राय नामकर्म की पापप्रकृतियों से है।

**टीका**—यो मनोवचनकायैर्वक्र: मायावी रसगारव-ऋद्धिगारव-सातगारवेति गारवत्रयप्रतिबद्ध:

---

२५९. ब मिथ्यादृष्टिपरिव्राजकतापसपञ्चाग्निसाधकजैनाभासककायक्लेशै: बालतपसा। २६०. राजभृत्यै: कोऽपि पुमान् पृष्टबाहुबद्ध: गाढबन्धन: सन् पराधीनपराक्रम: क्षुधातृषादिदु:खब्रह्मचर्यकष्टभूमिशयनादिकं मलधारणं सहमान: सहनेषु इच्छारहित: ईषत्कर्म निर्जरयति सा अकामनिर्जरा, तया। २६१. पञ्चसं० ४, २१२। गो० ८०८।

स जीवो नरकगति-तिर्यग्गत्याऽऽद्यशुभं नामकर्म बध्नाति। यस्तत्प्रतिपक्षपरिणामः मनोवचनकायैः सरलः निष्कपटी गारवत्रयरहितः [स] जीवः शुभं नामकर्म मनुष्य-देवगत्यादिकं बध्नाति ॥१५३॥

**अथ तीर्थङ्करनामकर्मणः कारणषोडशभावनां गाथापञ्चकेनाऽऽह—**

**दंसणविसुद्धि विणए संपण्णत्तं च तह य सीलवदे[२६२]।**
**अणदीचारोऽभिक्खं णाणुवजोगं च संवेगो ॥१५४॥**
**सत्तीदो चाग-तवा साहुसमाही तहेव णायव्वा।**
**[२६३]विज्जावच्चं किरिया अरहंताइरियबहुसुदे भत्ती ॥१५५॥**
**पवयण परमा भत्ती आवस्सयकिरियअपरिहाणी य।**
**[२६४]मग्गपहावणयं खलु पवयणवच्छल्लमिदि जाणे ॥१५६॥**
**एदेहिं पसत्थेहिं सोलसभावेहिं केवलीमूले।**
**तित्थयरणामकम्मं बंधदि सो कम्मभूमिजो मणुसो ॥१५७॥**

**अब नामकर्म की प्रकृतियों में जो सर्वोत्कृष्ट है ऐसी तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारणों को बतलाते हैं—**१. दर्शन-विशुद्धि, २. विनय-सम्पन्नता, ३. निरतिचार व्रत-शीलधारणता, ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगिता, ५. अभीक्ष्ण संवेगता, ६. शक्त्यनुसार त्याग, ७. शक्त्यनुसार तप, ८. साधुसमाधि, ९. वैय्यावृत्यकरणता, १०. अरहंतभक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. परम प्रवचन-भक्ति, १४. आवश्यक-क्रिया अपरिहानि, १५. मार्गप्रभावना और १६. प्रवचनवत्सलत्व इन प्रशस्त सोलह भावनाओं के द्वारा कर्मभूमियाँ मनुष्य केवली के पादमूल में तीर्थंकर नामकर्म को बाँधता है ॥१५४-१५७॥

**विशेषार्थ—**सम्यग्दर्शन का आठ मद, आठ शंकादि दोष, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से रहित निर्मल होना दर्शनविशुद्धि है। रत्नत्रयधर्म में और उसके धारकों में विनय की पूर्णता विनयसम्पन्नता है। व्रत और शील को अतीचार रहित निर्मल पालना निरतिचार व्रत-शील-धारणता है। निरन्तर सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। संसार, देह और भोगों से उदासीन रहना अभीक्ष्ण संवेगता है। अपनी शक्ति के अनुसार पात्रों को आहार, औषधि, अभय और ज्ञानदान देना शक्तितस्त्याग है। अपनी शक्ति को नहीं छिपा करके यथासम्भव बारह प्रकार के तपों को धारण करना शक्तितस्तप है। साधुजनों के उपसर्ग आदि आने पर उसे दूर करना साधु-समाधि है। चतुर्विध संघ की भक्ति के साथ वैय्यावृत्त्य करना वैय्यावृत्त्यकरणता है। अरहन्तदेव की पूजा-भक्ति करना, उनके गुणों का स्तवन करना अरहन्तभक्ति है। आचार्यों के सम्मुख जाना, उनके चरण पूजना,

२६२. ब सीलवदेसु। २६३. त वेज्जावच्चं। २६४. त मग्गप्पभावणं।

पिच्छिका-कमण्डलु आदि देना आचार्यभक्ति है। द्वादशांग के पाठी और विशिष्ट श्रुत के धारक उपाध्यायों की भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है। जैन सिद्धान्त में आन्तरिक शुद्धि के साथ भक्तिभाव रखना परमप्रवचनभक्ति है। सामायिक, चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तवन, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छहों आवश्यकों का नियमपूर्वक विधिवत् बिना किसी नागा के पालन करना आवश्यक क्रिया-अपरिहानि है। ज्ञान, दान, पूजा और तप आदि के अनुष्ठान द्वारा जिनधर्म का प्रकाश संसार में फैलाना मार्गप्रभावना है। साधर्मी जनों में गो-वत्स के समान अकृत्रिम स्नेह रखना प्रवचनवत्सलता है। उक्त सोलह भावनाओं के द्वारा यह जीव त्रिलोक-पूजित तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करता है।

दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य विशुद्धिर्निर्मलता पञ्चविंशतिमलराहित्यम्। तदुक्तम्-

**मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।**
**अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशति॥२०॥**

सम्यक्त्वस्य निर्मलता इति दर्शनविशुद्धिः प्रथमभावना। रत्नत्रयमण्डितमुनौ रत्नत्रये च महान् आदरः, विनये परिपूर्णता। अहिंसादिव्रतेषु शीलव्रतेषु च निष्पापाचरणं शीलव्रतेष्वनतिचारः। निरन्तरं प्रशस्तज्ञानेषु अभ्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः। संसारदुःखात् कातरत्वं संवेगः। आहाराभयभैषज्य-शास्त्राणां विधिपूर्वकं आत्मशक्त्यनुसारेण पात्रेभ्यः[२६५] दानं शक्तितस्त्यागः। निजशक्त्या जिनोपदिष्ट कायक्लेशः शक्तितस्तपः। यतिवर्गस्य कुतश्चित् विघ्न-समुत्पन्ने सति विघ्ननिवारणं समाधिः, साधुनां समाधिः साधुसमाधिः। निष्पापविधानेन गुणवतां पुंसां मुनीनां वा दुःखस्फोटनं वैयावृत्त्यकरणम्। अर्हतां स्नपन-पूजन-गुणस्तवनादिकं अर्हद्भक्तिः। आचार्याणां सन्मुखगमनं पादपूजनं पिच्छि-कमण्डल्वादिदानं आचार्यभक्तिः। बहुश्रुतेषु भक्तिः बहुश्रुतभक्तिः। जिनसिद्धान्ते मनःशुद्ध्या प्रीतिः प्रवचनभक्तिः। सामायिकं चतुर्विंशतितीर्थङ्करस्तवः एकतीर्थङ्करवन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गः एवंविधषट् अवश्यानि कर्त्तव्यानीति षडावश्यकानि, तेषां षडावश्यकानां अपरिहाणिः। ज्ञानेन दानेन पूजया तपोऽनुष्ठानेन वा जिनधर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना। सधर्मणि जने स्नेहलत्वं प्रवचनवात्सल्यं। एताभिः प्रशस्ताभिः षोडशभावनाभिः कृत्वा केवलिपादमूले केवलज्ञानि-सन्निधाने श्रुतकेवलिसन्निधाने वा स जगत्प्रसिद्धः कर्मभूमिजो मनुष्यः भव्यजीवः तीर्थकरनामकर्म बध्नाति ॥१५४-१५७॥

**तित्थयरसत्तकम्मा तदियभवे तब्भवे हु सिज्झेदि।**
**खाइयसम्मत्तो पुण उक्कस्सेण दु चउत्थभवे ॥१५८॥**

**अब ग्रन्थकार तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसार में अधिक से अधिक कितने भव तक रह सकता है इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—**तीर्थंकर प्रकृति की

२६५. ब पात्राय।

सत्ता वाला जीव उसी भव में या तीसरे भव में सिद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् मोक्ष को पा लेता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्टतः चौथे भव में सिद्धि को प्राप्त करता है।

**टीका**—तीर्थङ्करसत्त्वकर्मणि सति भव्यजीवः तृतीयभवे सिद्ध्यति सिद्धिं प्राप्नोति हु स्फुटं। कश्चिन्मनुष्यः[२६६] तद्भवे तज्जन्मनि सिद्ध्यति। पुनः क्षायिकसम्यक्त्ववान् जीवः[२६७] तद्भवे मोक्षं गच्छति अथवा तृतीयभवे सिद्ध्यति सिद्धिं प्राप्नोति। हु उत्कृष्टेन चतुर्थे भवे सिद्ध्यति, चतुर्थभवं नाक्रामतीत्यर्थः ॥१५८॥

**अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुई पढणमाण[२६८] गुणपेही।**
**बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं[२६९]॥१५९॥**

**अब दोनों प्रकार के गोत्रकर्म के बन्ध के कारण बतलाते हैं**—जो जीव अरहंत आदि पंच परमेष्ठियों का भक्त हो, जिनेन्द्र-कथित आगमसूत्र के पठन-पाठन में प्रीति रखता हो, तत्त्वचिन्तन करने वाला हो, अपने गुणों को बढ़ाने वाला हो ऐसा जीव उच्च गोत्र का बन्ध करता है और इससे विपरीत चलने वाला नीचगोत्रकर्म का बन्ध करता है।

**टीका**—यः अर्हदादिषु भक्तः गणधराद्युक्तागमेषु श्रद्धावान् पढनं पठनं माणु इति मानं ज्ञानं गुणः विनयादिः एतेषां प्रेक्षकः दर्शी अध्ययनार्थं विचारविनयादिगुणदर्शीत्यर्थः। स जीवः उच्चैर्गोत्रं बध्नाति। तद्विपरीतः योऽर्हदादिषु भक्तिरहितः, आगमसूत्रस्योपरि अरुचिः, अध्ययनार्थविचारविनयादिगुण-विवर्जितो जीवः इतरत् नीचगोत्रं बध्नाति ॥१५९॥

**पर-अप्पाणं णिंदा पसंसणं[२७०] णीचगोदबंधस्स।**
**सदसदगुणाणमुच्छादणमुब्भावणमिदि[२७१] होदि॥१६०॥**

**अब नीचगोत्रकर्म के बन्ध के कारणों को और भी विशेष रूप से बतलाते हैं**—परायी निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना, दूसरे के सद्गुणों का आच्छादन करना और अपने भीतर अविद्यमान भी गुणों का उद्भावन करना। इन कारणों से भी नीचगोत्र का बन्ध होता है।

**विशेषार्थ**—जो सदा ही अरहन्त, सिद्ध, चैत्य, गुरु और प्रवचन की भक्ति करता है, नित्य सर्वज्ञ-प्रणीत आगम-सूत्रों का स्वयं अभ्यास करता है और दूसरों को कराता है, जगत् को यथार्थ तत्त्व का उपदेश देता है, आगम-वर्जित तत्त्वों का न स्वयं श्रद्धान करता है और न अन्य को भी श्रद्धान के अभिमुख करता है, उत्तम, जाति, कुल, रूप, विद्या आदि से मण्डित होने पर भी उनका अहंकार नहीं करता, और न हीन जाति-कुलादि वालों का तिरस्कार ही करता है, परनिन्दा से दूर रहता है, भूल करके भी दूसरों के बुरे कार्यों पर दृष्टि नहीं डालता, किन्तु सदा ही सबके गुणों को ही देखता है और

२६६. ब प्राणी। २६७. ब प्राणी। २६८. ब पढणमाणु। आ 'पठनमान' इति पाठः। २६९. पञ्चसंग्रह ४, २१३। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८०९। २७०. त पसंसणा। २७१. ब मुब्भावणमयि।

गुणीजनों के साथ अत्यन्त विनम्र व्यवहार करता है ऐसा जीव उच्चगोत्र कर्म का बन्ध करता है, किन्तु इनसे विपरीत आचरण करने वाला जीव नीचगोत्रकर्म का बन्ध करता है अर्थात् जो सदा अहंकार में मस्त रहता है, दूसरों के बुरे कार्यों पर ही जिसकी दृष्टि लगी रहती है, दूसरों का अपमान और तिरस्कार करने में अपना बड़प्पन समझता है, देव, गुरु, शास्त्रादि की भक्ति विनयादि नहीं करता और आगम के अभ्यास को बेकार समझता है ऐसा जीव नीच योनियों और कुलों में उत्पन्न करने वाले नीचगोत्रकर्म का बन्ध करता है।

**टीका**—परेषां निन्दा, आत्मनः प्रशंसा, अन्येषां सन्तोऽपि ये ज्ञानादिगुणाः, तेषामाच्छादनम्, स्वस्यासतानामविद्यमानगुणानां प्रकाशनम्, एतानि चत्वारि नीचगोत्रबन्धस्य कारणानि भवन्ति ॥१६०॥

**पाणबधादिसु रदो जिणपूजा-मोक्खमग्गविग्घयरो।**
**अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण[२७२]॥१६१॥**

**अब अन्तराय कर्म के बन्ध-कारण बतलाते हैं**—जो जीव प्राणियों के घात में संलग्न हैं, जिनपूजन और मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाला है वह उस अन्तराय कर्म का उपार्जन करता है कि जिसके कारण वह अभीष्ट वस्तु को नहीं पा सकता।

**विशेषार्थ**—जो जीव पाँचों-पापों को करते हैं, महा आरम्भी और परिग्रही हैं तथा जिन-पूजन, रोगी साधु आदि की वैय्यावृत्त्य, सेवा-उपासनादि मोक्षमार्ग के साधनभूत धार्मिक क्रियाओं में विघ्न डालते हैं, रत्नत्रय के धारक साधुजनों को आहारादि के देने से रोकते हैं तथा किसी भी प्रकार के खान-पान का निरोध करते हैं, उन्हें समय पर खाने-पीने और सोने बैठने या विश्राम नहीं करने देते, जो दूसरे के भोगोपभोग के सेवन में बाधक होते हैं, दूसरे को आर्थिक हानि पहुँचाते है और उत्साह-भंग करते हैं, दान देने से रोकते हैं, दूसरों की शक्ति का मर्दन करते हैं, उन्हें निराश और निश्चेष्ट बनाने का प्रयत्न करते हैं अथवा कराते हैं वे जीव नियम से अन्तराय कर्म का तीव्र बन्ध करते हैं। इस प्रकार से बाँधे गये अन्तराय कर्म का जब उदय आता है, तब यह संसारी जीव अपनी इच्छा के अनुकूल न आर्थिक लाभ ही उठा पाता है, न भोग-उपभोग ही भोग सकता है और न इच्छा करते हुए भी किसी को कुछ दान ही दे पाता है। कहने का सार यह है कि दूसरों के दान देने में विघ्न करने से दानान्तराय कर्म का बन्ध होता है, दूसरों के लाभ में विघ्न करने से लाभान्तराय कर्म का बन्ध होता है। अन्न आदि एक बार ही खाने-पीने के काम में आने वाली वस्तुओं को भोग कहते हैं। स्त्री, शय्या आदि बार-बार भोगी जाने वाली वस्तुओं को उपभोग कहते हैं। जो दूसरों के भोग में अन्तराय डालता है वह भोगान्तराय कर्म का बन्ध करता है और जो दूसरों के उपभोग में विघ्न डालता है, वह उपभोगान्तराय कर्म का बन्ध करता है। जो दूसरों को निरुत्साहित करके उनके बल-वीर्य को खण्डित करता है, वह

२७२. पञ्चसंग्रह ४, २१४। गोम्मटसार कर्मकाण्ड ८१०।

वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध करता है। इस प्रकार जो पाँचों प्रकार के अन्तराय कर्म का बन्ध करता है वह अपने लिए मनोनुकूल इष्ट वस्तु की प्राप्ति से वंचित रहता है।

**टीका—**द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-[पञ्चेन्द्रिय-] प्राणिबधेषु स्व-परकृतेषु प्रीतः, जिनपूजायाः रत्नत्रयप्राप्तेश्च स्वान्ययोर्विघ्नकरो यः स जीवस्तदन्तरायकर्म अर्जयति येनान्तरायकर्मोदयेन यदीप्सितं तन्न लभते ॥१६१॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिविरचितकर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।

इति सिद्धान्तज्ञानचक्रवर्तिश्रीनेमिचन्द्रविरचितकर्मप्रकृतिबन्धनामग्रन्थस्य टीका[२७३] समाप्ता।

## टीकाकारस्य प्रशस्तिः

**मूलसङ्घे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः।**
**तस्य पट्टे च वीरेन्दुर्विबुधो विश्ववन्दितः॥१॥**
**तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः।**
**टीकां हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्त्तियुक्॥२॥**
**टीकां गोम्मटसारस्य विलोक्य विहितं ध्रुवम्।**
**पठन्तु सज्जनाः सर्वे भाष्यमेतत् महत्परम्[२७४]॥३॥**
**प्रमादाद् भ्रमतो वापि यद्यशुद्धं कदाचन।**
**टीकायामत्र संशोध्यं विबुधैर्द्वेषवर्जितैः॥४॥**

इति भट्टारकश्रीज्ञानभूषणनामाङ्किता[२७५] सूरिश्रीसुमतिकीर्त्तिविरचिता[२७६] कर्मकाण्डस्य (कर्मप्रकृतेः) टीका समाप्ता।

## टीकाकार की प्रशस्तिः

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के मूलसंघ में महासाधु, यतीश्वर श्रीलक्ष्मीचन्द्र हुए। उनके पट्टपर विश्व-वन्दित महाविद्वान् श्रीवीरचन्द्र हुए। उनके अन्वय (परम्परा) में दया के सागर और गुणों के आकर (खानि) श्रीज्ञानभूषण हुए। उन्होंने सुमतिकीर्ति के साथ इस कर्मकाण्ड (कर्मप्रकृति) की टीका की। यह टीका गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) को देखकर की गयी है, यह निश्चय से जानें और सभी सज्जन इस महान् परम (श्रेष्ठ) भाष्य को पढ़ें। यदि इस टीका में कदाचित् कहीं पर प्रमाद से या भ्रम से कोई अशुद्धि रह गयी हो तो द्वेषभाव से रहित विद्वज्जनों को इसका संशोधन कर देना चाहिए (ऐसी मेरी विनय है)॥१-४॥

---

२७३. ज-नेमिचन्द्रविरचितकर्मकाण्डस्य टीका। ब टीका भट्टारकश्रीज्ञानभूषणकृता। २७४. ब मनोहरम्। वरचिता। २७५. ब ज्ञानभूषण विरचिता। २७६. ब नास्त्ययं पदः।

इस प्रकार भट्टारक ज्ञानभूषण के नाम से अंकित सूरिश्री सुमतिकीर्ति-विरचित कर्मकाण्ड (कर्मप्रकृति) की टीका समाप्त हुई।

## ब्यावर प्रति प्रशस्तिः

स्वस्ति श्री संवत् १६२७ वर्षे कार्त्तिकमासे कृष्णपक्षे पञ्चम्यां तिथौ अद्येह श्रीमधूकपुरे श्रीचन्द्रनाथचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दान्वये भट्टा॰ श्रीपद्मनन्दि-देवास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्री देवेन्द्रकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्रीमल्लि-भूषणास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्रीलक्ष्मीचन्द्रास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्रीवीरचन्द्रास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्रीज्ञानभूषणास्तत्पट्टे भट्टा॰ श्रीप्रभाचन्द्रोपदेशात् बलसाढनगरवास्तव्यः सिंहापुराज्ञातीयः धर्मकार्यतत्परः श्रे॰ हांसा भार्या मटकू तयोः पुत्री यतिजनभक्ता अने[क] व्रतकरणतत्परा जिनालयार्थं दत्तनिजगृहा बाई पूतली तयेमां श्रीकर्मकाण्डटीकां लिखाप्य भट्टा॰ श्रीप्रभाचन्द्रेभ्यो दत्ता। चिरं नन्दतु।

## ब्यावर-प्रति की लेखक-प्रशस्ति

स्वस्ति श्री सं॰ १६२७ वर्ष के कार्तिक मास के कृष्णपक्ष की पंचमी तिथि में आज इस श्रीमधूकपुर में स्थित श्रीचन्द्रनाथ चैत्यालय में मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण वाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेव हुए। उनके पट्टपर भट्टा॰ श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेव हुए। उनके पट्टपर भट्टा॰ श्री विद्यानन्दि देव हुए। उनके पट्टपर भट्टा॰ श्रीमल्लिभूषण हुए। उनके पट्टपर भ॰ लक्ष्मीचन्द्र हुए। उनके पट्टपर भट्टा॰ श्रीवीरचन्द्र हुए। उनके पट्टपर भट्टा॰ श्रीज्ञानभूषण हुए। उनके पट्टपर आसीन भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र के उपदेश से बलसाढ नगर के रहने वाले सिंहपुराजाति के और धर्मकार्य में तत्पर ऐसे श्रेष्ठी हाँसा हुए। उनकी स्त्री का नाम मटकू था। उन दोनों के पूतलीबाई नाम की पुत्री हुई, जो यतिजनों की परम भक्त और व्रत करने में तत्पर थी तथा जिनालय के लिए जिसने अपना घर भी प्रदान कर दिया था, उसने श्रीकर्मकाण्ड की यह टीका लिखाकर भट्टा॰ श्रीप्रभाचन्द्र को भेंट की। पढ़ने वाले सर्व जन आनन्द को प्राप्त हों।

❑ ❑ ❑

## परिशिष्ट क्र. – १

# कर्मप्रकृति-गाथानुक्रमणी

## परिशिष्ट क्र. - २

# टीका उद्धृत-पद्यानुक्रमणी

## परिशिष्ट नं. - ३
# पारिभाषिक शब्दकोष

## परिशिष्ट नं. – ४

# संदृष्टि २

गाथा नं॰ ७६ की संस्कृत टीका में छहों संहननों के आकार इस प्रकार दिए गए हैं–

१. वज्रवृषभनाराचसंहनन–

२. वज्रनाराचसंहनन–
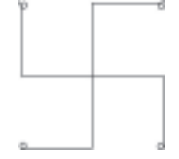
३. नाराचसंहनन–

४. अर्धनाराचसंहनन–

५. कीलकसंहनन–

६. असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन–

## संदृष्टि ३

गाथा नं० ६६ की संस्कृत टीका में नामकर्म की प्रकृतियों की संख्या–सूचक अंक–संदृष्टि इस प्रकार दी है–

| ग | जा | श | बं. | सं | सं. | अं | सं. | व | गं | र | स्प | आ | अ | उ | प | | आ | उ | वि | त्र | स्था | बा | सू |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ४ | ५ | ५ | ५ | ५ | ६ | ३ | ६ | ५ | २ | ५ | ८ | ४ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ |

| प | अ | प्र | सा | स्थि | अ | शु | अ | सु | दु | सु | दु | आ | अ | य | अ | नि | ती | ४२ | पिण्ड प्रकृतियाँ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ९३ | अपिण्ड प्रकृतियाँ |

## संदृष्टि ४

गाथा नं० १३९ की एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञिपंचेन्द्रिय तक के जीवों के स्थितिबन्ध की संदृष्टि–

| | एके० | द्वी० | त्री० | चतु० | असं० पं० |
|---|---|---|---|---|---|
| चाली० | सा० ४/७ | सा० $२५^{४/७}$ | सा० $५०^{४/७}$ | सा० $१००^{४/७}$ | सा० $१०००^{४/७}$ |
| तीसि० | सा० ३/७ | सा० $२५^{३/७}$ | सा० $५०^{३/७}$ | सा० $१००^{३/७}$ | सा० $१०००^{३/७}$ |
| वीसि० | सा० २/७ | सा० $२५^{२/७}$ | सा० $५०^{२/७}$ | सा० $१००^{२/७}$ | सा० $१०००^{२/७}$ |

## संदृष्टि ५

गाथा नं० १४३ की प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग की संदृष्टि

मिथ्यात्व
शैल
अस्थि
दारु
मिश्र
सम्यक्त्व
लता
ख अनन्त संज्ञा
अनन्तैकभाग संज्ञा
१ ना ख
१ ना १
ख ख ख
मिथ्यात्व
मिथ्यात्व
मिथ्यात्व
मिश्र
सम्यक्त्वप्रकृति

श्रीमद्-अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत

# कर्मप्रकृति

सम्पादन-अनुवाद

**डॉ॰ गोकुलचन्द्र जैन**

## General Editorial

The Karma doctrine elaborated in Jainism is a remarkable theory which makes an individual responsible for the consequences of one's own thoughts, words and deeds, here and elsewhere. The energy generated by the activities of mind, speech and body attract Karmic stuff towards the soul which has to bear its fruits, good as well as bad. There is no place here for any divine dispensation, or supernatural intervention, either by way of favour (or grace) or punishment. Basically the doctrine breeds the spirit of self-help making one realise that one reaps the fruits of what one has sown, and that there is no escape from them.

A vast amount of literature has grown to propound and explain the doctrinal details about Karman (See K. Ananadaji : Karma-sambamdhi Jaina Sahitya (in Gujarati), a paper submitted to the Seventh Gujarati Sahitya Parisad, Bhavnagar; W.Schubring: Die Lehre der Jainas (Berlin and Leipzig 1935), p. 215, Section 199; Srinipunamuni and H.R. Kapadia: Karma-Siddhanta-sambamdhi Sahitya (in Gujarati), Sri Mohanalalaji Jaina Bhamdara, Surat 1965). For an exposition of the Doctrine of Karman in Jaina Philosophy one can conveniently consult a book of this title in English published by the Trustees, Bai Vijibai Jivanlal Panalal Charity Fund, Bombay, 1948, being the translation of the original dissertation in German by the late Helmuth von Glasenapp (Leipzig 1915).

The Karma-prakrti is a favourite title for a number of small and big works, some in Prakrit and some in Sanskrit (Jinaratnakosa by H.D. Velankar, Poona 1944, pp. 71-2) composed by different authors. The text published here is in Sanskrit. It is in prose, more or less in the Sutra style. The object of the author is to enumerate the varieties and sub-varieties of Karmas and give their definitions and explanations (in relation to Gunasthanas etc.) A handy text like this could be easily memorised, in earlier days, according to the traditional method of study. It is easier to propound further details based on a text like this fully memorised.

The name of the author is Abhayachandra, to be distinguished from others of the same name by his title Siddhantacakravartin. The Mss. of this work are found mostly in the South, in the Old-Kannada script. The author possibly hails from Karnataka. On the basis of the available epigraphic evidence, noted by the editor, Abhayachandra-Siddhanta-chakravartin flourished in the 13th century A.D. He died observing Samadhi-marana, in 1279 A.D.

The General Editors thank Dr. G.C. Jain for giving us in this tiny volume a neatly edited Sanskrit text of the Karmaprakrati along with a close Hindi translation of it.

*H.L. Jain*
*A.N. Upadhye*

## प्रास्ताविक

कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची में अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत कर्मप्रकृति की सात पाण्डुलिपियों का परिचय दिया गया है। किसी भी पाण्डुलिपि का लेखन काल नहीं है। सभी की लिपि कन्नड़ है और भाषा संस्कृत।

यह एक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें सरल संस्कृत गद्य में संक्षेप में जैन कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पहली बार मैंने इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद किया है। विषय के आधार पर मैंने पूरी कृति को छोटे-छोटे दो सौ बत्तीस वाक्य खण्डों में विभाजित किया है।

प्रारम्भ में कर्म के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये तीन भेद दिये गये हैं, उसके बाद द्रव्य कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद बताये हैं। प्रकृति के मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति और उत्तरोत्तरप्रकृति ये तीन भेद हैं। मूलप्रकृति ज्ञानावरण आदि के भेद से आठ प्रकार की है और उत्तरप्रकृति के एक सौ अड़तालीस भेद हैं। अभयचन्द्र ने बहुत ही सन्तुलित शब्दों में इन सबका परिचय दिया है। उत्तरोत्तर प्रकृति बन्ध के विषय में कहा गया है कि इसे वचन द्वारा कहना कठिन है। इसके बाद स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध का वर्णन है। भावकर्म और नोकर्म के विषय में एक-एक वाक्य में कहकर आगे संसारी और मुक्त जीव का स्वरूप तथा जीव के क्रमिक विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित पाँच प्रकार की लब्धियों तथा चौदह गुणस्थानों का वर्णन किया गया है।

विषय के अतिरिक्त भाषा का लालित्य और शैली की प्रवाहमयता के कारण प्रस्तुत कृति का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। साधारण संस्कृत का जानकार व्यक्ति भी अभयचन्द्र की इस कृति से जैन कर्म सिद्धान्त की पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर सकता है।

कर्म प्रकृति के प्रारम्भ या अन्त में अभयचन्द्र ने अपने विषय में विशेष जानकारी नहीं दी। अन्त में केवल इतना लिखा है-

**"कृतिरियम् अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिनः।"**

अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के विषय में कई शिलालेखों से जानकारी मिलती है। मूल संघ, देशिय गण, पुस्तक गच्छ, कोण्डकुन्दान्वय की इंगलेश्वरी शाखा के श्रीसमुदाय में माघनन्दि भट्टारक हुए। उनके नेमिचन्द्र भट्टारक तथा अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ये दो शिष्य थे। अभयचन्द्र बालचन्द्र पंडित के श्रुतगुरु थे।[१]

हलेबीड[२] के एक संस्कृत और कन्नड मिश्रित शिलालेख में अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के

---

१. E.C.V. Belur t1, no. १३३ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ५२४

२. Ibid no. १३१, १३२ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ५१४

समाधिमरण का उल्लेख है यह लेख शक संवत् १२०१—१२७९ ईसवी का है। हलेबीड[३] के ही एक अन्य शिलालेख में अभयचन्द्र के प्रिय शिष्य बालचन्द्र के समाधिमरण का उल्लेख है। यह लेख शक संवत् ११९७, सन् १२७४ ई० का है।

इन दोनों अभिलेखों से अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का समय ईसा की तेरहवीं शती प्रमाणित होता है। वे सम्भवतया १३वीं शती के प्रारम्भ में हुए और ७९ वर्ष तक जीवित रहे।

रावन्दूर के एक शिलालेख (शक १३०६) में श्रुतमुनि को अभयचन्द्र का शिष्य बताया गया है।[४]

भारंगी के एक शिलालेख में कहा गया है कि राय राजगुरु मण्डलाचार्य महावाद वादीश्वर रायवादि पितामह अभयचन्द्र सिद्धान्तदेव का पुराना (ज्येष्ठ) शिष्य बुल्ल गौड़ था, जिसका पुत्र गोप गौड़ नागर खण्ड का शासक था। नागर खण्ड कर्णाटक देश में था।[५]

बुल्ल गौड़ के समाधिमरण का उल्लेख भारंगी के एक अन्य शिलालेख में है, जिसमें कहा गया है कि बुल्ल या बुल्लुप को यह अवसर अभयचन्द्र की कृपा से प्राप्त हुआ था।[६]

हुम्मच के एक शिलालेख में अभयचन्द्र को चैत्यवासी कहा गया है।

अभयचन्द्र के समाधिमरण से सम्बन्धित उपर्युक्त शिलालेख में कहा गया है कि वह छन्द, न्याय, निघण्टु, शब्द, समय, अलंकार, भूचक्र, प्रमाणशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसी तरह श्रुतमुनि ने परमागमसार (१२६३ शक) के अन्त में अपना परिचय देते हुए लिखा है—

**''सद्दागम-परमागम-तक्कागम-णिरवसेसवेदी हु।**
**विजिद-सयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरि-सिद्धंती॥''**

इससे भी अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। कर्मप्रकृति का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद मैंने सन् १९६५ में किया था। कई कारणों से यह अब प्रकाशित हो पायी है। इसके सम्पादन-प्रकाशन में जिनका भी योगायोग है, उन सबका आभारी हूँ।

'सत्यशासन-परीक्षा' तथा 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन' के बाद पुस्तक रूप में प्रकाशित यह मेरी तीसरी कृति है। आशा है विज्ञ-जन इसमें रहीं त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हुए, इसका समुचित मूल्यांकन करेंगे।

वाराणसी, ३० सितम्बर १९६८ **—गोकुलचन्द्र जैन**

---

३. वही
४. E.C.IV. Hunsur t1, no.१२३ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ५८४
५. E.C.VIII.Sorab t1, no.३२९ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ६१०
६. E.C.VIII.Sorab t1,no. ३३० जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ६४६
७. E.C.VIII. Nagar t1, no.४६ जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख ६६७

# विषय सूची

श्रीमद्-अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचिता

# कर्मप्रकृतिः

**मङ्गलाचरणम्**

**प्रक्षीणावरणद्वैतमोहप्रत्यूहकर्मणे ।**
**अनन्तानन्तधीर्दृष्टिसुखवीर्यात्मने नमः॥**

१. **कर्मणः त्रैविध्यम्**

आत्मनः प्रदेशेषु बद्धं कर्म द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म चेति त्रिविधम्।

२. **द्रव्यकर्मणः चातुर्विध्यम्**

तत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन द्रव्यकर्म चतुर्विधम्।

**प्रकृतिबन्धः**

३. **प्रकृतेः स्वरूपम्**

तत्र ज्ञानप्रच्छादनादिस्वभावः प्रकृतिः।

---

**मंगलाचरण**

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों को नाश करके अनन्तानन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन आत्मीय गुणों को प्राप्त करने वाले आत्मा (परमात्मा) के लिए नमस्कार है।

१. **कर्म के तीन भेद**

आत्मा के प्रदेशों में बद्ध कर्म तीन प्रकार का है—१. द्रव्यकर्म, २. भावकर्म और ३. नोकर्म।

२. **द्रव्यकर्म के भेद**

द्रव्यकर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश के भेद से चार तरह का है।

**प्रकृति बन्ध**

३. **प्रकृति का स्वरूप**

ज्ञान को ढँकना आदि स्वभाव प्रकृति है।

**४. प्रकृतेः त्रैविध्यम्**

सा मूलप्रकृतिरुत्तरप्रकृतिरुत्तरोत्तरप्रकृतिरिरिति त्रिधा।

**मूलप्रकृतयः**

**५. मूलप्रकृतेरष्ट भेदाः**

तत्र ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं वेदनीयं मोहनीयमायुष्यं नाम गोत्रमन्तरायश्चेति मूलप्रकृतिरष्टधा।

**६. ज्ञानावरणीयस्य लक्षणम् उदाहरणं च**

तत्रात्मनो ज्ञानं विशेषग्रहणमावृणोतीति ज्ञानावरणीयं श्लक्ष्णकाण्डपटवत्।

**७. दर्शनावरणीयस्य लक्षणम् उदाहरणं च**

दर्शनं सामान्यग्रहणमावृणोतीति दर्शनावरणीयं प्रतिहारवत्।

**८. वेदनीयस्य लक्षणम् उदाहरणं च**

सुखं दुःखं वा इन्द्रियद्वारैर्वेदयतीति वेदनीयं गुडलिप्तखड्गधारावत्।

**९. मोहनीयस्य लक्षणम् उदाहरणं च**

आत्मानं मोहयतीति मोहनीयं मद्यवत्।

---

**४. प्रकृति के भेद**

वह मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति और उत्तरोत्तर प्रकृति इस तरह तीन प्रकार की है।

**५. मूल प्रकृति के आठ भेद**

उनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूल प्रकृति के भेद हैं।

**६. ज्ञानावरणीय का लक्षण और उदाहरण**

उक्त आठ भेदों में पतले रेशमी वस्त्र की तरह जो आत्मा के विशेषग्रहण रूप ज्ञानगुण को ढँकता है, वह ज्ञानावरणीय है।

**७. दर्शनावरणीय का लक्षण और उदाहरण**

प्रतिहार की तरह जो आत्मा के सामान्य ग्रहण रूप दर्शन गुण को रोकता है वह दर्शनावरणीय है।

**८. वेदनीय का लक्षण और उदाहरण**

गुड़-लपेटी तलवार की धार के समान जो सुख अथवा दुःख को इन्द्रियों के द्वारा अनुभव कराये, वह वेदनीय है।

**९. मोहनीय का लक्षण और उदाहरण**

शराब की तरह जो आत्मा को मोहित करे वह मोहनीय है।

**१०. आयुषः लक्षणम् उदाहरणं च**

शरीर आत्मानमेति धारयतीत्यायुष्यं शृङ्खलावत्।

**११. नामकर्मणः लक्षणम् उदाहरणं च**

नानायोनिषु नारकादिपर्यायैरात्मानं नमयति–शब्दयतीति नाम चित्रकारवत्।

**१२. गोत्रस्य लक्षणम् उदाहरणं च**

उच्चनीचकुलत्वेनात्मा गूयत इति गोत्रं कुम्भकारवत्।

**१३. अन्तरायस्य लक्षणम् उदाहरणं च**

दानादिविघ्नं कर्तुमन्तरं दातृपात्रादीनां मध्यमेतीत्यन्तरायो भाण्डारिकवत्।

**उत्तरप्रकृतयः**

**१४. उत्तरप्रकृतिनां भेदाः**

उत्तरप्रकृतयोऽष्टचत्वारिंशदुत्तरशतम्। तद्यथा–

**ज्ञानावरणीयम्**

**१५. ज्ञानावरणीयस्य पञ्च प्रकृतयः**

मतिज्ञानावरणीयं श्रुतज्ञानावरणीयमवधिज्ञानावरणीयं मनःपर्ययज्ञानावरणीयं केवलज्ञानावरणीयं

---

**१०. आयु का लक्षण और उदाहरण**

शृंखला की तरह जो शरीर में आत्मा को रोक रखता है, वह आयुकर्म है।

**११. नामकर्म का लक्षण और उदाहरण**

चित्रकार की तरह जो आत्मा को नाना योनियों में नरकादि पर्यायों द्वारा नामांकित कराता है, वह नामकर्म है।

**१२. गोत्रकर्म का लक्षण और उदाहरण**

कुम्भकार की तरह जो आत्मा को उच्च अथवा नीच कुल के रूप में व्यवहृत कराता है, वह गोत्रकर्म है।

**१३. अन्तराय कर्म का लक्षण और उदाहरण**

भण्डारी की तरह जो दाता और पात्र आदि के बीच में आकर आत्मा के दान आदि में विघ्न डालता है, वह अन्तराय कर्म है।

**१४. उत्तर प्रकृतियों के भेद**

उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस हैं। वे इस प्रकार हैं–

**१५. ज्ञानावरणीय की पाँच प्रकृतियाँ**

मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय तथा

चेति ज्ञानावरणीयस्य प्रकृतयः पञ्च।

**१६. मतिज्ञानावरणीयस्य स्वरूपम्**

तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च मननं ज्ञानं मतिज्ञानं तदावृणोतीति मतिज्ञानावरणीयम्।

**१७. श्रुतज्ञानावरणीयस्य स्वरूपम्**

मतिज्ञानगृहीतार्थादन्यस्यार्थस्य ज्ञानं श्रुतज्ञानं तदावृणोतीति श्रुतज्ञानावरणीयम्।

**१८. अवधिज्ञानावरणीयस्य स्वरूपम्**

वर्णगन्धरसस्पर्शयुक्तसामान्यपुद्गलद्रव्यं तत्संबन्धिसंसारीजीवद्रव्याणि च देशान्तरस्थानि कालान्तरस्थानि च द्रव्यक्षेत्रकालभवभावानवधीकृत्य यत्प्रत्यक्षं जानातीत्यवधिज्ञानं तदावृणोतीत्य-वधिज्ञानावरणीयम्।

**१९. मनःपर्ययज्ञानावरणीयस्य स्वरूपम्**

परेषां मनसि वर्तमानमर्थं यज्जानाति तन्मनःपर्ययज्ञानं तदावृणोतीति मनःपर्ययज्ञानावरणीयम्।

**२०. केवलज्ञानावरणीयस्य स्वरूपम्**

इन्द्रियाणि प्रकाशं मनश्चानपेक्ष्य त्रिकालगोचरलोकसकलपदार्थानां युगपदवभासनं केवलज्ञानं

---

केवलज्ञानावरणीय ये पाँच ज्ञानावरणीय की प्रकृतियाँ हैं।

**१६. मतिज्ञानावरणीय का लक्षण**

पाँच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होने वाला मनन रूप ज्ञान मतिज्ञान है, उसे जो ढँकता है वह मतिज्ञानावरणीय है।

**१७. श्रुतज्ञानावरणीय का लक्षण**

मतिज्ञान द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है, उसे जो आवृत करता है वह श्रुतज्ञानावरणीय है।

**१८. अवधिज्ञानावरणीय का स्वरूप**

भिन्न देश तथा भिन्न काल में स्थित वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त सामान्य पुद्गल द्रव्य तथा पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से युक्त संसारी जीव द्रव्यों को जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की मर्यादा लेकर प्रत्यक्ष जानता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है, उसका आवरण करने वाला अवधिज्ञानावरणीय है।

**१९. मनःपर्ययज्ञानावरणीय का स्वरूप**

दूसरों के मन में स्थित अर्थ को जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है, उसे जो रोकता है, वह मनःपर्ययज्ञानावरणीय है।

**२०. केवलज्ञानावरणीय का स्वरूप**

इन्द्रिय, प्रकाश और मन की सहायता के बिना त्रिकाल गोचर लोक तथा अलोक के समस्त

तदावृणोतीति केवलज्ञानावरणीयम्।

## दर्शनावरणीयम्

**२१. दर्शनावरणीयस्य नव प्रकृतयः**

चक्षुर्दर्शनावरणीयमचक्षुर्दर्शनावरणीयमवधिदर्शनावरणीयं केवलदर्शनावरणीयं निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिरिति दर्शनावरणीयं नवधा।

**२२. चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य स्वरूपम्**

तत्र चक्षुषा वस्तुसामान्यग्रहणं चक्षुर्दर्शनं तदावृणोतीति चक्षुर्दर्शनावरणीयम्।

**२३. अचक्षुर्दर्शनावरणीयस्य स्वरूपम्**

शेषैः स्पर्शनादीन्द्रियैर्मनसा च वस्तुसामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनं तदावृणोतीत्यचक्षुर्दर्शनावरणीयम्।

**२४. अवधिदर्शनावरणीयस्य स्वरूपम्**

रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनं तदावृणोतीत्यवधिदर्शनावरणीयम्।

**२५. केवलदर्शनावरणीयस्य स्वरूपम्**

समस्तवस्तुसामान्यग्रहणं केवलदर्शनं तदावृणोतीति केवलदर्शनावरणीयम्।

**२६. निद्रायाः स्वरूपम्**

---

पदार्थों का एक साथ अवभास (ज्ञान) केवलज्ञान है, उसे जो आवृत करता है वह केवलज्ञानावरणीय है।

**२१. दर्शनावरणीय के नव भेद**

चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला तथा स्त्यानगृद्धि ये नौ दर्शनावरणीय के भेद हैं।

**२२. चक्षुदर्शनावरणीय का स्वरूप**

चक्षु द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण चक्षुदर्शन कहलाता है, उसका आवरण चक्षुदर्शनावरणीय है।

**२३. अचक्षुदर्शनावरणीय का स्वरूप**

चक्षु के अतिरिक्त शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियों तथा मन के द्वारा वस्तु का सामान्यग्रहण अचक्षुदर्शन है, उसका आवरण अचक्षुदर्शनावरणीय है।

**२४. अवधिदर्शनावरणीय का स्वरूप**

रूपी पदार्थों का सामान्यग्रहण अवधिदर्शन है, उसका आवरण अवधिदर्शनावरणीय है।

**२५. केवलदर्शनावरणीय का स्वरूप**

समस्त वस्तुओं का सामान्यग्रहण केवलदर्शन है, उसका आवरण केवलदर्शनावरणीय है।

**२६. निद्रा का स्वरूप**

यतो गच्छतः स्थानं तिष्ठत उपवेशनमुपविशतश्शयनं च भवति सा निद्रा।

**२७. निद्रानिद्रायाः स्वरूपम्**

उत्थापितेऽपि लोचनमुद्घाटयितुं न शक्नोति यतस्सा निद्रानिद्रा।

**२८. प्रचलायाः स्वरूपम्**

यत ईषदुन्मील्य स्वपिति सुप्तोऽपीषदीषज्जानाति सा प्रचला।

**२९. प्रचलाप्रचलायाः स्वरूपम्**

यतो निद्रायमाणे लाला वहत्यङ्गानि चलन्ति सा प्रचलाप्रचला।

**३०. स्त्यानगृद्धेः स्वरूपम्**

यत उत्थापितेऽपि पुनः पुनः स्वपिति निद्रायमाणे चोत्थाय कर्माणि करोति स्वप्नायते जल्पति च सा स्त्यानगृद्धिः।

## वेदनीयम्

**३१. वेदनीयस्य द्वे प्रकृतयः**

सातावेदनीयमसातावेदनीयं चेति वेदनीयं द्विधा।

**३२. सातावेदनीयस्य स्वरूपम्**

---



जिसके कारण चलते, किसी स्थान पर ठहरते, बिस्तर पर बैठते नींद आती है, उसे निद्रा कहते हैं।

**२७. निद्रानिद्रा का स्वरूप**

जिसके कारण उठाये जाने (जगाये जाने) पर भी आँखें न खुल सकें, उसे निद्रानिद्रा कहते हैं।

**२८. प्रचला का स्वरूप**

जिसके कारण कुछ आँख खोलकर सोये तथा सोते हुए भी कुछ-कुछ जानता रहे, उसे प्रचला कहते हैं।

**२९. प्रचलाप्रचला का स्वरूप**

जिसके कारण सोते हुए लार बहे तथा अंग चलें, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं।

**३०. स्त्यानगृद्धि का स्वरूप**

जिसके कारण उठा देने पर भी फिर-फिर सो जाये, नींद में उठकर कार्य करे, स्वप्न देखे, बड़बड़ाये, उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं।

**३१. वेदनीय के दो भेद**

सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीय के भेद हैं।

**३२. सातावेदनीय का स्वरूप**

तत्रेन्द्रियसुखकारणचन्दनकर्पूरसृग्वनितादिविषयप्राप्तिकारणं सातावेदनीयम्।

**३३. असातावेदनीयस्य स्वरूपम्**

इन्द्रियदु:खकारणविषशस्त्राग्निकण्टकादिद्रव्यप्राप्तिनिमित्तमसातावेदनीयम्।

## मोहनीयम्

**३४. मोहनीयस्य द्वौ भेदौ**

दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चेति मोहनीयं द्विधा।

**३५. दर्शनमोहनीयस्य त्रय: भेदा:**

तत्र मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वप्रकृतिश्चेति दर्शनमोहनीयं त्रिधा।

**३६. मिथ्यात्वस्य स्वरूपम्**

तत्रातत्त्वश्रद्धानकारणं मिथ्यात्वम्।

**३७. सम्यग्मिथ्यात्वस्य स्वरूपम्**

तत्त्वातत्त्वश्रद्धानकारणं सम्यग्मिथ्यात्वम्।

**३८. सम्यक्त्वप्रकृते: स्वरूपम्**

तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं चलमलिनमगाढं करोति यत्सा सम्यक्त्वप्रकृति:।

---

इन्द्रिय-सुख के कारण चन्दन, कर्पूर, माला, वनिता आदि विषयों की प्राप्ति जिससे हो, वह सातावेदनीय है।

**३३. असातावेदनीय का स्वरूप**

इन्द्रिय-दु:ख के कारण विष, शस्त्र, अग्नि, कंटक आदि द्रव्यों की प्राप्ति जिसके द्वारा हो, वह असातावेदनीय है।

**३४. मोहनीय के दो भेद**

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो मोहनीय के भेद हैं।

**३५. दर्शनमोहनीय के तीन भेद**

उनमें मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय के भेद हैं।

**३६. मिथ्यात्व का स्वरूप**

उक्त तीन भेदों में मिथ्यात्व वह है, जिससे तत्त्व की श्रद्धा न होकर विपरीत श्रद्धा हो।

**३७. सम्यग्मिथ्यात्व का स्वरूप**

जिससे तत्त्व तथा अतत्त्व दोनों का श्रद्धान हो, वह सम्यग्मिथ्यात्व है।

**३८. सम्यक्त्वप्रकृति का स्वरूप**

जो तत्त्वार्थ की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन में चल, मलिन तथा अगाढ़ दोष उत्पन्न करे वह सम्यक्त्वप्रकृति है।

**३९. चारित्रमोहनीयस्य द्वौ भेदौ**

कषायनोकषायभेदाच्चारित्रमोहनीयं द्विधा।

**४०. कषायाणां भेदा:**

तत्रानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पत: प्रत्येकं क्रोधमानमायालोभा इति कषाया: षोडश।

**४१. अनन्तानुबन्धिकषायाणां कार्यम्**

तत्रानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभा: सम्यग्दर्शनं विराधयन्ति।

**४२. अप्रत्याख्यानकषायाणां कार्यम्**

अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभा देशसंयमं प्रतिबध्नन्ति।

**४३. प्रत्याख्यानकषायाणां कार्यम्**

प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभास्सकलसंयमं प्रतिबध्नन्ति।

**४४. संज्वलनकषायाणां कार्यम्**

संज्वलनक्रोधमानमायालोभा यथाख्यातचारित्रं निवारयन्ति।

---

**३९. चारित्रमोहनीय के भेद**

कषाय और नोकषाय के भेद से चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है।

**४०. कषाय के भेद**

उनमें अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन के विकल्प से कषाय चार प्रकार की है और प्रत्येक के क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कषाय के सोलह भेद हैं।

**४१. अनन्तानुबन्धि कषायों का कार्य**

अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया और लोभ सम्यग्दर्शन का घात करते हैं, उसे वे प्रकट नहीं होने देते।

**४२. अप्रत्याख्यानावरण कषायों का कार्य**

अप्रख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ देशसंयम को रोकते हैं।

**४३. प्रत्याख्यानावरण कषायों का कार्य**

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ सकलचारित्र को रोकते हैं।

**४४. संज्वलन कषायों का कार्य**

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यथाख्यात चारित्र को नहीं होने देते हैं।

**४५. अनन्तानुबन्धिकषायाणां शक्तय:**

तत्रानन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभा यथाक्रमं शिलाभेदशिलास्तम्भवेणुमूल-क्रिमिराग-कम्बलसदृशास्तीव्रतमशक्तयः।

**४६. अप्रत्याख्यानकषायाणां शक्तय:**

अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभा यथाक्रमं भूभेदास्थि-अविशृङ्गचक्रमलसदृशास्तीव्रतरशक्तयः।

**४७. प्रत्याख्यानकषायाणां शक्तय:**

प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभा यथाक्रमं धूलिरेखाकाष्ठगोमूत्रतनुमल-सदृशास्तीव्रशक्तयः।

**४८. संज्वलनकषाणां शक्तय:**

संज्वलनक्रोधमानमायालोभा यथाक्रमं जलरेखावेत्रक्षुरप्रहरिद्रारागसदृशा मन्दशक्तयः।

**४९. हास्यप्रकृतेर्लक्षणम्**

यतो हासो भवति तद्धास्यम्।

**५०. रतिप्रकृतेर्लक्षणम्**

यतो रमयति सा रतिः।

---

**४५. अनन्तानुबन्धि कषायों की शक्ति**

अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय क्रम से शिलाखण्ड, शिलास्तम्भ, वेणुमूल (बाँस की जड़) और क्रिमिराग कम्बल की तरह तीव्रतम शक्तिवाली होती है।

**४६. अप्रत्याख्यानावरण कषायों की शक्ति**

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय क्रम से पृथ्वीखण्ड, हड्डी, मेढे के सींग तथा चक्रमल (ओंगन) के सदृश तीव्रतर शक्तिवाली होती है।

**४७. प्रत्याख्यानावरण कषायों की शक्ति**

प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ क्रम से धूलि-रेखा, काष्ठ, गोमूत्र तथा शरीर के मल के समान तीव्रतर शक्तिवाली होती हैं।

**४८. संज्वलन कषायों की शक्ति**

संज्वलन क्रोध, मान, माया तथा लोभ क्रम से जलरेखा बेंत, खुरपा तथा हल्दी के रंग के सदृश मन्द शक्तिवाली होती हैं।

**४९. हास्य प्रकृति का लक्षण**

जिससे हँसी आये, वह हास्य प्रकृति है।

**५०. रति का लक्षण**

जिसके कारण रमे (प्रसन्न हो), वह रति है।

**५१. अरतिप्रकृतेर्लक्षणम्**

यतो विषण्णो भवति सारतिः।

**५२. शोकप्रकृतेर्लक्षणम्**

यतः शोचयति रोदयति स शोकः।

**५३. भयप्रकृतेर्लक्षणम्**

यतो बिभेत्यनर्थात्तद्भयम्।

**५४. जुगुप्साप्रकृतेर्लक्षणम्**

यतो जुगुप्सा सा जुगुप्सा।

**५५. स्त्रीवेदस्य लक्षणम्**

यतः स्त्रियमात्मानं मन्यमानः पुरुषे वेदयति रन्तुमिच्छति सः स्त्रीवेदः।

**५६. पुंवेदस्य लक्षणम्**

यतः पुमांसमात्मानं मन्यमानः स्त्रियां वेदयति रन्तुमिच्छति सः पुंवेदः।

**५७. नपुंसकवेदस्य लक्षणम्**

यतो नपुंसकमात्मानं मन्यमानः स्त्रीपुंसोर्वेदयति रन्तुमिच्छति स नपुंसकवेदः।

---

**५१. अरति का लक्षण**

जिसके कारण विषण्ण (खिन्न) हो, वह अरति है।

**५२. शोक का लक्षण**

जिसके कारण शोक करे, वह शोक है।

**५३. भय का लक्षण**

जिसके कारण अनर्थ से डरे, वह भय है।

**५४. जुगुप्सा का लक्षण**

जिसके कारण घृणा आये, वह जुगुप्सा है।

**५५. स्त्रीवेद का लक्षण**

जिसके कारण अपने को स्त्री मानता हुआ पुरुष में रमण करने की इच्छा करता है, वह स्त्रीवेद है।

**५६. पुंवेद का लक्षण**

जिसके कारण अपने को पुरुष मानता हुआ स्त्री में रमण करने की इच्छा करता है, वह पुंवेद है।

**५७. नपुंसकवेद का लक्षण**

जिसके कारण अपने को नपुंसक मानता हुआ स्त्री और पुरुष दोनों में रमण करने की इच्छा करता है, वह नपुंसकवेद है।

## आयुः

**५८. आयुष्कर्मणः चत्वारः प्रकृतयः**

नारकायुष्यं तिर्यगायुष्यं मनुष्यायुष्यं देवायुष्यं चेत्यायुश्चतुर्विधम्।

**५९. नरकायुषो लक्षणम्**

तत्र यन्नारकशरीरे आत्मानं धारयति तन्नारकायुष्यम्।

**६०. तिर्यगायुषो लक्षणम्**

यत्तिर्यक्छरीरे जीवं धारयति तत्तिर्यगायुष्यम्।

**६१. मनुष्यायुषो लक्षणम्**

यन्मनुष्यशरीरे प्राणिनं धारयति तन्मनुष्यायुष्यम्।

**६२. देवायुषो लक्षणम्**

यद्देवशरीरे देहिनं धारयति तद्देवायुष्यम्।

## नाम

**६३. नामकर्मणः द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः**

गतिजातिशरीरबन्धनसंघातसंस्थानाङ्गोपाङ्गसंहननवर्णगन्धरसस्पर्शानुपूर्व्यगुरुलघूपघात-परघाता-तपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतित्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तप्रत्येकशरीरसाधारणशरीरस्थिरास्थिर-

---

**५८. आयुकर्म के चार भेद**

नारकायुष्य, तिर्यगायुष्य, मनुष्यायुष्य और देवायुष्य इस प्रकार आयु के चार भेद हैं।

**५९. नरकायुष्य का लक्षण**

जो आत्मा को नारक शरीर में धारण कराता है, वह नरकायुष्य है।

**६०. तिर्यगायुष्य का लक्षण**

जो जीव को तिर्यंच-शरीर में धारण कराता है, वह तिर्यगायुष्य है।

**६१. मनुष्यायुष्य का लक्षण**

जो प्राणी को मनुष्य-शरीर में धारण कराता है, वह मनुष्यायुष्य है।

**६२. देवायुष्य का लक्षण**

जो प्राणी को देव-शरीर में धारण कराता है, वह देवायुष्य है।

**६३. नामकर्म की बयालीस प्रकृतियाँ**

गति, जाति, शरीर, बन्धन, संघात, संस्थान, अंगोपांग, संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वि, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त,

शुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरादेयानादेययशस्कीर्त्ययशस्कीर्तिनिर्माणतीर्थकरत्वानीतिपिण्डापिण्डरूपा नामकर्मप्रकृतयो द्वाचत्वारिंशत्।

**६४. नामकर्मणः पिण्डप्रकृतीनां त्रयोनवतिः भेदाः**

पिण्डप्रकृतीनां भेदे तु सर्वा नामप्रकृतयस्त्रयोनवतिः।

**६५. गतिनामकर्मणः चत्वारः भेदाः**

नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभेदाद् गतिनाम चतुर्धा।

**६६. नरकगतेर्लक्षणम्**

यतो जीवस्य नारकपर्यायो भवति सा नरकगतिः।

**६७. तिर्यग्गतेर्लक्षणम्**

यतस्तिर्यक्पर्यायो भवति प्राणिनः सा तिर्यग्गतिः।

**६८. मनुष्यगतेर्लक्षणम्**

यतो मनुष्यपर्याय आत्मनो भवति सा मनुष्यगतिः।

**६९. देवगतेर्लक्षणम्**

यतो देवपर्यायो देहिनो भवति सा देवगतिः।

---

प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति निर्माण तथा तीर्थकरत्व ये नामकर्म की पिण्ड–अपिण्डरूप बयालीस प्रकृतियाँ हैं।

**६४. नामकर्म की तिरानवे प्रकृतियाँ**

पिण्डप्रकृतियों के भेद करने पर नामकर्म की सब प्रकृतियाँ तिरानवे होती हैं।

**६५. गति नामकर्म के चार भेद**

नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति के भेद से गति नामकर्म के चार भेद हैं।

**६६. नरकगति का लक्षण**

जिसके कारण जीव की नारकपर्याय होती है, वह नरकगति है।

**६७. तिर्यग्गति का लक्षण**

जिसके कारण जीव की तिर्यञ्चपर्याय होती है, वह तिर्यग्गति है।

**६८. मनुष्यगति का लक्षण**

जिसके कारण आत्मा की मनुष्यपर्याय होती है, वह मनुष्यगति है।

**६९. देवगति का लक्षण**

जिसके कारण प्राणी को देवपर्याय होती है, वह देवगति है।

**७०. गतेः सामान्यलक्षणम्**

नारकादिभवप्राप्तिर्गमनहेतुर्वा गतिनामा।

**७१. जातिनामकर्मणः पञ्च भेदाः**

एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाज्जातिनाम पञ्चधा।

**७२. एकेन्द्रियजातिनामकर्मणः लक्षणम्**

तत्र स्पर्शनेन्द्रियवन्तो जीवा भवन्ति यतः सा एकेन्द्रियजातिः।

**७३. द्वीन्द्रियजातिनामकर्मणः लक्षणम्**

यतः स्पर्शनरसनेन्द्रियवन्तो जीवा भवन्ति सा द्वीन्द्रियजातिः।

**७४. त्रीन्द्रियजातिनामकर्मणः लक्षणम्**

यतः स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियवन्तो जीवा भवन्ति सा त्रीन्द्रियजातिः।

**७५. चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मणः लक्षणम्**

यतः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुष्मन्तो जीवा भवन्ति सा चतुरिन्द्रियजातिः।

**७६. पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मणः लक्षणम्**

यतः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियवन्तो जीवा भवन्ति सा पञ्चेन्द्रियजातिः।

---

**७०. गति नामकर्म का सामान्य लक्षण**

नारक आदि भवप्राप्ति के लिए गमन का कारण गति नामकर्म है।

**७१. जाति नामकर्म के पाँच भेद**

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय के भेद से जाति नामकर्म के पाँच भेद है।

**७२. एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण जीव केवल स्पर्शन इन्द्रियवान् होता है, वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है।

**७३. द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण जीव केवल स्पर्शन और रसना इन्द्रिय युक्त होता है, वह द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म है।

**७४. त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण जीव स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन्द्रिय युक्त होता है, वह त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म है।

**७५. चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु युक्त होता है, वह चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म है।

**७६. पंचेन्द्रियजाति नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रिय युक्त होता है, वह पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म है।

**७७. शरीरनामकर्मण: पञ्च भेदा:**

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानीति शरीरनाम पञ्चधा।

**७८. औदारिकशरीरनामकर्मण: लक्षणम्**

तत्र यत आहारवर्गणायाता: पुद्गलस्कन्धा औदारिकशरीरकरणे परिणमन्ति तदौदारिकशरीरनाम।

**७९. वैक्रियिकशरीरनामकर्मण: लक्षणम्**

यत आहारवर्गणायाता: पुद्गलस्कन्धा वैक्रियिकशरीररूपेण परिणमन्ति तद्वैक्रियकशरीरनाम।

**८०. आहारकशरीरनामकर्मण: लक्षणम्**

यत आहारवर्गणायाता: पुद्गलस्कन्धा आहारकशरीररूपेण परिणमन्ति तदाहारकशरीरनाम।

**८१. तैजसशरीरनामकर्मण: लक्षणम्**

यतस्तैजसवर्गणायाता: पुद्गलस्कन्धास्तैजसशरीररूपेण परिणमन्ति तत्तैजसशरीरनाम।

**८२. कार्मणशरीरनामकर्मण: लक्षणम्**

कार्मणवर्गणायाता: पुद्गलस्कन्धा: कार्मणशरीररूपेण परिणमन्ति यतस्तत्कार्मणशरीरनाम।

---

**७७. शरीर नामकर्म के पाँच भेद**

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण, ये शरीर नामकर्म के पाँच भेद हैं।

**७८. औदारिक शरीर नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण आहार वर्गणा द्वारा आये हुए पुद्गल स्कन्ध औदारिक शरीर के रूप में परिणत होते हैं, वह औदारिक शरीर नामकर्म है।

**७९. वैक्रियिक शरीर नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण आहार वर्गणा द्वारा आये हुए पुद्गल स्कन्ध वैक्रियिक शरीर के रूप में परिणत होते हैं, वह वैक्रियिक शरीर नामकर्म है।

**८०. आहारक शरीर नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण आहार वर्गणा द्वारा आये हुए पुद्गल स्कन्ध आहारक शरीर रूप से परिणत होते हैं, उसे आहारक शरीर नामकर्म कहते हैं।

**८१. तैजस शरीर नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण तैजस वर्गणा द्वारा आये हुए पुद्गल स्कन्ध तैजस शरीर रूप से परिणत होते हैं, वह तैजस शरीर नामकर्म है।

**८२. कार्मण शरीर नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण कार्मण वर्गणा द्वारा आये हुए पुद्गल स्कन्ध कार्मण शरीर रूप परिणत होते हैं, वह कार्मण शरीर नामकर्म है।

**८३. बन्धननामकर्मण: पञ्च भेदा:**

औदारिकादिशरीरपञ्चकाश्रितं बन्धननाम पञ्चधा।

**८४. औदारिकशरीरबन्धननामकर्मण: लक्षणम्**

तत्रौदारिकशरीराकारेण परिणतपुद्गलानां परस्परसंश्लेषरूपो बन्धो यतो भवति तदौदारिक-शरीरबन्धननाम।

**८५. वैक्रियिकादिशरीरबन्धननामकर्मणां लक्षणानि**

एवं वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराकारेण परिणतपुद्गलानां परस्परसंश्लेषरूपो बन्धो यतो भवति तानि वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरबन्धननामानि ज्ञातव्यानि।

**८६. संघातनामकर्मण: पञ्च भेदा:**

औदारिकादिशरीरपञ्चकाश्रितानि संघातनामानि पञ्च।

**८७. औदारिकशरीरसंघातनामकर्मण: लक्षणम्**

तत्रौदारिकशरीराकारेण परिणतपरस्परबद्धपुद्गलानां तदाकारवैषम्याभावकारणमौदारिक-शरीरसंघातनामकर्म।

**८८. वैक्रियिकादिशरीरसंघातनामकर्मण: लक्षणम्**

---

**८३. बन्धन नामकर्म के पाँच भेद**

औदारिक आदि पाँच शरीरों के आश्रित बन्धन नामकर्म पाँच प्रकार का है।

**८४. औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म का लक्षण**

जिसके कारण औदारिक शरीर के आकार रूप से परिणत पुद्गलों का परस्पर संश्लेष रूप बन्ध होता है, वह औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म है।

**८५. वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर बन्धन नामकर्म**

इसी प्रकार जिस कारण वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर के आकार रूप से परिणत पुद्गलों का परस्पर संश्लेष रूप बन्ध होता है, उन्हें क्रमश: वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर बन्धन नामकर्म कहते हैं।

**८६. संघात नामकर्म के पाँच भेद**

औदारिक आदि पाँच शरीरों के आश्रित संघात नामकर्म पाँच प्रकार का होता है।

**८७. औदारिक शरीर संघात नामकर्म का लक्षण**

औदारिक शरीर के आकार रूप से परिणत परस्पर बद्ध पुद्गलों के तदाकार वैषम्य के अभाव का कारण औदारिक शरीर संघात नामकर्म है।

**८८. वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर संघात नामकर्म का लक्षण**

एवं वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीररूपेण परिणतपरस्परबद्ध-पुद्गलस्कन्धानां तत्तदाकार-वैषम्याभावकारणानि वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीर-संघातनामानि ज्ञातव्यानि।

**८९. संस्थाननामकर्मणः षड्भेदाः**

समचतुरस्रन्यग्रोधस्वातिकुब्जवामनहुण्डभेदात्संस्थाननाम षोढा।

**९०. समचतुरस्रसंस्थानस्य लक्षणम्**

तत्र यतः सर्वत्र दशताललक्षणलक्षितप्रशस्तसंस्थानशरीराकारो भवति तत्समचतुरस्रसंस्थानं नाम।

**९१. न्यग्रोधसंस्थानस्य लक्षणम्**

यत उपरि विस्तीर्णोऽधः संकुचितशरीराकारो भवति तन्न्यग्रोधसंस्थानं नाम।

**९२. स्वातिसंस्थानस्य लक्षणम्**

यतोऽधो विस्तीर्ण उपरि संकुचितशरीराकारो भवति तत्स्वातिसंस्थान नाम। स्वातिर्वल्मीकं तत्सादृश्यात्।

**९३. कुब्जसंस्थानस्य लक्षणम्**

यतो ह्रस्वः शरीराकारो भवति तत्कुब्जसंस्थानं नाम।

---

इसी प्रकार वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर रूप से परिणत, परस्पर बद्ध पुद्गल स्कन्धों के उस-उस आकार की विषमता के अभाव का कारण वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर संघात नामकर्म है।

**८९. संस्थान नामकर्म के छह भेद**

समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्डक ये संस्थान नामकर्म के छह भेद हैं।

**९०. समचतुरस्र संस्थान का लक्षण**

जिससे सब जगह दशताल लक्षणयुक्त प्रशस्त संस्थान सहित शरीर का आकार होता है, वह समचतुरस्र संस्थान है।

**९१. न्यग्रोध संस्थान का लक्षण**

जिसके कारण ऊपर विस्तीर्ण तथा नीचे संकुचित शरीराकार होता है, वह न्यग्रोध संस्थान है।

**९२. स्वाति संस्थान का लक्षण**

जिसके कारण नीचे विस्तीर्ण तथा ऊपर संकुचित शरीर का आकार होता है, वह वल्मीक (वामी) सदृश होने के कारण स्वातिसंस्थान कहलाता है।

**९३. कुब्जक संस्थान का लक्षण**

जिसके कारण शरीर का आकार छोटा (कुबड़ा) होता है, वह कुब्जक संस्थान नामकर्म है।

**९४. वामनसंस्थानस्य लक्षणम्**

यतो दीर्घहस्तपादा ह्रस्वकबन्धश्च शरीराकारो भवति तद्वामनसंस्थानं नाम।

**९५. हुण्डकसंस्थानस्य लक्षणम्**

यतः पाषाणपूर्णगोणिवत् ग्रन्थ्यादिविषमशरीराकारो भवति तद् हुण्डकसंस्थानं नाम।

**९६. अङ्गोपाङ्गनामकर्मणस्त्रयो भेदाः**

औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरभेदादङ्गोपाङ्गनाम त्रिधा।

**९७. औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गस्य लक्षणम्**

तत्रौदारिकशरीरस्य चरणद्वयबाहुद्वयनितम्बपृष्ठवक्षःशीर्षभेदादष्टाङ्गानि अङ्गुलीकर्ण-नासिकाद्युपाङ्गानि करोति यत्तदौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम।

**९८. वैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गयोर्लक्षणे**

एवं वैक्रियिकाहारकशरीरयोरपि तदङ्गोपाङ्गकारकं वैक्रियिकाहारक-शरीराङ्गोपाङ्गनामद्वयं ज्ञातव्यम्।

**९९. संहनननामकर्मणः षड् भेदाः**

वज्रवृषभनाराचसंहननवज्रनाराचनाराचार्धनाराचकीलितासंप्राप्तसृपाटिकाभेदतः संहननं नाम षोढा।

---

**९४. वामन संस्थान का लक्षण**

जिसके कारण हाथ और पैर लम्बे तथा कबन्ध (धड़) छोटा होता है, उसे वामन संस्थान कहते हैं।

**९५. हुण्डक संस्थान का लक्षण**

जिसके कारण पत्थर भरी हुई गौन की तरह, ग्रन्थि आदि से युक्त विषम शरीराकार होता है, उसे हुण्डक संस्थान कहते हैं।

**९६. अंगोपांग नामकर्म के भेद**

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये अंगोपांग नामकर्म के तीन भेद हैं।

**९७. औदारिक शरीर अंगोपांग का लक्षण**

औदारिक शरीर के दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल तथा शीर्ष ये आठ अंग और अंगुली, कर्ण, नासिका आदि उपांग जिसके कारण होते हैं, उसे औदारिक शरीर अंगोपांग कहते हैं।

**९८. वैक्रियिक तथा आहारक शरीर अंगोपांग का लक्षण**

इसी तरह जिनके कारण वैक्रियिक तथा आहारक शरीर के अंगोपांग होते हैं, उन्हें क्रमशः वैक्रियिक तथा आहारक शरीर अंगोपांग कहते हैं।

**९९. संहनन नामकर्म के छह भेद**

वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन तथा असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन ये संहनन नामकर्म के छह भेद हैं।

**१००. वज्रवृषभनाराचसंहननस्य लक्षणम्**

तत्र वज्रवत् स्थिरास्थिऋषभो वेष्टनं वज्रवत् वेष्टनकीलकबन्धो यतो भवति तद्वज्रवृषभनाराच-संहननं नाम।

**१०१. वज्रनाराचसंहननस्य लक्षणम्**

यतो वज्रवत् स्थिरास्थिकीलकबन्धसामान्यवेष्टनं च भवति तद्वज्रनाराचसंहननम्।

**१०२. नाराचसंहननस्य लक्षणम्**

यतो वज्रवत् स्थिरास्थिबन्धसामान्यकीलिकावेष्टनमेतद्द्वयं भवति तन्नाराचसंहननं नाम।

**१०३. अर्धनाराचसंहननस्य लक्षणम्**

यतस्सामान्यास्थिबन्धार्धकीलिका भवति तदर्धनाराचसंहननं नाम।

**१०४. कीलितसंहननस्य लक्षणम्**

यतः कीलित इव सामान्यास्थिबन्धो भवति तत्कीलितसंहननं नाम।

**१०५. असंप्राप्तसृपाटिकासंहननस्य लक्षणम्**

यतः परस्परासंबद्धास्थिबन्धो भवति तदसंप्राप्तसृपाटिकासंहननं नाम।

---

**१००. वज्रवृषभनाराच संहनन का लक्षण**

जिसके कारण वज्र की तरह स्थिर अस्थि और वृषभ रूप वेष्टन तथा वज्र की तरह वेष्टन और कीलक बन्ध होता है, उसे वज्रवृषभनाराच संहनन कहते हैं।

**१०१. वज्रनाराच संहनन का लक्षण**

जिसके कारण वज्र की तरह स्थिर अस्थि तथा कीलक बन्ध होता है तथा वेष्टन सामान्य होता है, उसे वज्रनाराच संहनन कहते हैं।

**१०२. नाराच संहनन का लक्षण**

जिसके कारण वज्र की तरह स्थिर अस्थिबन्ध तथा सामान्य कीलक और वेष्टन होते हैं, उसे नाराच संहनन कहते हैं।

**१०३. अर्धनाराच संहनन का लक्षण**

जिसके कारण सामान्य अस्थिबन्ध अर्ध कीलित होता है, उसे अर्धनाराच संहनन कहते हैं।

**१०४. कीलित संहनन का लक्षण**

जिसके कारण कीलित की तरह सामान्य अस्थिबन्ध होता है, वह कीलित संहनन है।

**१०५. असंप्राप्तसृपाटिका संहनन का लक्षण**

जिसके कारण अस्थिबन्ध परस्पर असम्बद्ध होता है, उसे असम्प्राप्तसृपाटिका संहनन कहते हैं।

**१०६. वर्णनामकर्मण: पञ्च भेदा:**

श्वेतपीतहरितारुणकृष्णभेदाद् वर्णनाम पञ्चधा।

**१०७. वर्णनामकर्मण: सामान्यलक्षणम्**

तत्तत्स्वस्वशरीराणां श्वेतादिवर्णा न्यत्करोति तद्वर्णनाम।

**१०८. गन्धनामकर्मण: द्वौ भेदौ**

सुगन्धदुर्गन्धभेदाद् गन्धनाम द्वेधा।

**१०९. गन्धनामकर्मण: लक्षणम्**

स्वस्वशरीराणां स्वस्वगन्धं करोति यत्तद् गन्धनाम।

**११०. रसनामकर्मण: पञ्च भेदा:**

तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदाद्रसनाम पञ्चधा।

**१११. रसनामकर्मण: लक्षणम्**

तत्तत्स्वस्वशरीराणां यत्स्वस्वरसं करोति तद्रसनाम।

**११२. लवणो नाम षष्ठो रस: न पृथक्**

लवणो नाम रसो लौकिकै: षष्ठोऽस्ति। स मधुररसभेद एवेति परमागमे पृथक्त्वेन नोक्त:, लवणं विना इतररसानां स्वादुत्वाभावात्।

---

**१०६. वर्ण नामकर्म के पाँच भेद**

श्वेत, पीत, हरित, अरुण तथा कृष्ण के भेद से वर्ण नामकर्म पाँच प्रकार का है।

**१०७. वर्ण नामकर्म का सामान्य लक्षण**

अपने-अपने शरीर का श्वेत आदि वर्ण जिसके कारण होता है, उसे वर्ण नाम कहते हैं।

**१०८. गन्ध नामकर्म के दो भेद**

सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से गन्ध नाम दो प्रकार का है।

**१०९. गन्ध नामकर्म का सामान्य लक्षण**

अपने-अपने शरीर की गन्ध जिस कारण होती है, उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं।

**११०. रस नामकर्म के पाँच भेद**

तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल तथा मधुर के भेद से रस नामकर्म के पाँच भेद हैं।

**१११. रस नामकर्म का सामान्य लक्षण**

अपने-अपने शरीर का जो अपना-अपना रस करता है, उसे रस नामकर्म कहते हैं।

**११२. लवण नामक छठा रस**

लवण नामक छठा रस लोक में माना जाता है। यह मधुर रस का ही भेद है, इसलिए परमागम में अलग से नहीं कहा; क्योंकि नमक के बिना तो अन्य सभी रस फीके हैं।

**११३. स्पर्शनामकर्मण: अष्टभेदा:**

मृदुकर्कशगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात्स्पर्शननामाष्टकम्।

**११४. स्पर्शनामकर्मण: लक्षणम्**

तत्तत्स्वस्वशरीराणां स्वस्वस्पर्शं करोति।

**११५. आनुपूर्विनामकर्मण: चत्वारो भेदा:**

नारकतिर्यङ्‌मनुष्यदेवगत्यानुपूर्विभेदादानुपूर्विनाम चतुर्धा।

**११६. आनुपूर्विनामकर्मण: लक्षणम्**

स्वस्वगतिगमने विग्रहतो त्यक्तपूर्वशरीराकारं करोति।

**११७. अगुरुलघुनामकर्मण: लक्षणम्**

अगुरुलघुनाम स्वस्वशरीरं गुरुत्वलघुत्ववर्जितं करोति।

**११८. उपघातनामकर्मण: लक्षणम्**

उपघातनाम स्वबाधाकारकं तुन्दादिशरीरावयवं करोति।

**११९. परघातनामकर्मण: लक्षणम्**

---

**११३. स्पर्श नामकर्म के आठ भेद**

मृदु, कर्कश, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष के भेद से स्पर्श नामकर्म आठ प्रकार का है।

**११४. स्पर्श नामकर्म का सामान्य लक्षण**

स्पर्श नामकर्म उस-उस अपने-अपने शरीर का अपना-अपना स्पर्श उत्पन्न करता है।

**११५. आनुपूर्वी नामकर्म के भेद**

नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी के तथा देवगत्यानुपूर्वी के भेद से आनुपूर्वि के चार भेद हैं।

**११६. आनुपूर्वि का लक्षण**

इसके कारण अपनी-अपनी गति में जाने के लिए विग्रहगति में पहले छोड़े गये शरीर का आकार होता है।

**११७. अगुरुलघु नामकर्म का लक्षण**

अगुरुलघु नामकर्म अपने-अपने शरीर को गुरुत्व और लघुत्व से रहित करता है।

**११८. उपघात नामकर्म का लक्षण**

उपघात नामकर्म अपने को बाधाकारक तोंद आदि शरीरावयवों को करता है।

**११९. परघात नामकर्म का लक्षण**

परघातनाम परबाधाकारकं सर्पदंष्ट्रशृङ्गादिशरीरावयवं करोति।

**१२०. आतपनामकर्मण: लक्षणम्**

आतपनामोष्णप्रभां करोति तत् सूर्यबिम्बे बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिके भवति।

**१२१. उद्योतनामकर्मण: लक्षणम्**

उद्योतनाम शीतलप्रभां करोति, तत् चन्द्रतारकादिबिम्बेषु तेजोवायुसाधारणवर्जितचन्द्रतारकादि-बिम्बजनितबादरपर्याप्ततिर्यग्जीवेषु भवति।

**१२२. उच्छ्वासनामकर्मण: लक्षणम्**

उच्छ्वासनाम उच्छ्वासनि:श्वासं करोति।

**१२३. विहायोगतिनामकर्मण: द्वौ भेदौ**

विहायोगतिनाम प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्विधा।

**१२४. प्रशस्तविहायोगते: लक्षणम्**

तत्र प्रशस्तविहायोगतिनाम मनोज्ञं गमनं करोति।

**१२५. अप्रशस्तविहायोगते: लक्षणम्**

अप्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तगमनं करोति।

---

परघात नामकर्म दूसरों को बाधा देने वाले सर्पदाढ़, सींग आदि शरीरावयव करता है।

**१२०. आतप नामकर्म का लक्षण**

आतप नामकर्म उष्ण प्रभा करता है। वह सूर्य बिम्ब में स्थित बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों में होता है।

**१२१. उद्योत नामकर्म का लक्षण**

उद्योत नामकर्म शीतल प्रभा करता है। वह चन्द्र, तारागण आदि के बिम्ब में तथा तेजकायिक, वायुकायिक, साधारणकायिक जीवों के सिवाय चन्द्रतारक आदि बिम्ब में होने वाले बादर पर्याप्त तिर्यंच जीवों में होता है।

**१२२. उच्छ्वास नामकर्म का लक्षण**

उच्छ्वास नामकर्म उच्छ्वास और नि:श्वास को करता है।

**१२३. विहायोगति नामकर्म के भेद**

विहायोगति नामकर्म प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है।

**१२४. प्रशस्त विहायोगति का लक्षण**

प्रशस्त विहायोगति नामकर्म मनोज्ञ गमन करता है।

**१२५. अप्रशस्त विहायोगति का लक्षण**

अप्रशस्त विहायोगति अप्रशस्त-अमनोज्ञ गमन करता है।

**१२६. त्रसनामकर्मण: लक्षणम्**

त्रसनाम द्वीन्द्रियादीनां चलनोद्वेजनादियुक्तं त्रसकायं करोति।

**१२७. स्थावरनामकर्मण: लक्षणम्**

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरनाम पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां चलनो-द्वेजनादिरहितस्थावरकायं करोति।

**१२८. बादरनामकर्मण: लक्षणम्**

बादरनाम परैर्बाध्यमानं स्थूलशरीरं करोति।

**१२९. सूक्ष्मनामकर्मण: लक्षणम्**

सूक्ष्मनाम परैरबाध्यमानं सूक्ष्मशरीरं करोति।

**१३०. पर्याप्तनामकर्मण: लक्षणम्**

पर्याप्तनाम स्वस्वपर्याप्तीनां पूर्णतां करोति।

**१३१. अपर्याप्तनामकर्मण: लक्षणम्**

अपर्याप्तनाम स्वस्वपर्याप्तीनामपूर्णतां करोति।

**१३२. पर्याप्तीनां षड् भेदा:**

पर्याप्तयश्चाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनि:श्वासभाषामन:सम्बन्धेन षोढा भवन्ति।

---

**१२६. त्रस नामकर्म का लक्षण**

त्रस नामकर्म चलन, उद्वेजन आदि युक्त द्वीन्द्रिय आदि रूप त्रसकाय को करता है।

**१२७. स्थावर नामकर्म का लक्षण**

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति स्थावर नामकर्म पृथ्वी आदि एकेन्द्रियों के चलन, उद्वेजन आदि रहित स्थावरकाय को करता है।

**१२८. बादर नामकर्म का लक्षण**

बादर नामकर्म दूसरों के द्वारा बाधा दिये जाने योग्य स्थूल शरीर को करता है।

**१२९. सूक्ष्म नामकर्म का लक्षण**

सूक्ष्म नामकर्म दूसरों के द्वारा बाधा न दिये जाने योग्य सूक्ष्म शरीर करता है।

**१३०. पर्याप्त नामकर्म का लक्षण**

पर्याप्त नामकर्म स्व-स्व पर्याप्तियों की पूर्णता को करता है।

**१३१. अपर्याप्त नामकर्म का लक्षण**

अपर्याप्त नामकर्म अपनी-अपनी पर्याप्तियों की अपूर्णता करता है।

**१३२. पर्याप्तियों के छह भेद**

आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास-निश्वास, भाषा और मन ये पर्याप्ति के छह भेद हैं।

**१३३. आहारपर्याप्तेर्लक्षणम्**

तत्राहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागरूपेण परिणमने आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः।

**१३४. शरीरपर्याप्तेर्लक्षणम्**

खलभागमस्थ्यादिकठिनावयवरूपेण रसभागं रसरुधिरादिद्रवावयवरूपेण च परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः।

**१३५. इन्द्रियपर्याप्तेर्लक्षणम्**

स्पर्शनादीन्द्रियाणां योग्यदेशावस्थितस्वस्वविषयग्रहणे शक्तिनिष्पत्ति-रिन्द्रियपर्याप्तिः।

**१३६. उच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तेर्लक्षणम्**

आहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानुच्छ्वासनिःश्वासरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्ति-रुच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिः।

**१३७. भाषापर्याप्तेर्लक्षणम्**

भाषावर्गणायातपुद्गलस्कन्धान्सत्यादिचतुर्विधवाक्स्वरूपेण परिणमयितुं जीवस्य शक्ति-निष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः।

---

**१३३. आहार पर्याप्ति का लक्षण**

आहार वर्गणा द्वारा प्राप्त पुद्गल स्कन्धों का खल और रस भाग रूप परिणमन में जीव की शक्ति उत्पन्न होना आहार पर्याप्ति है।

**१३४. शरीर पर्याप्ति का लक्षण**

खल भाग को अस्थि आदि कठिन अवयव रूप से तथा रस भाग को रस, रुधिर आदि द्रव अवयव रूप से परिणत करने में जीव की शक्ति उत्पन्न होना शरीर पर्याप्ति है।

**१३५. इन्द्रिय पर्याप्ति का लक्षण**

स्पर्शन आदि इन्द्रियों के योग्य देश में अवस्थित अपना-अपना विषय ग्रहण करने में शक्ति उत्पन्न होना इन्द्रिय पर्याप्ति है।

**१३६. उच्छ्वास-निःश्वास पर्याप्ति का लक्षण**

आहार वर्गणा द्वारा प्राप्त पुद्गल स्कन्धों को उच्छ्वास-निःश्वास रूप से परिणत करने के लिए जीव की शक्ति उत्पन्न होना उच्छ्वास-निःश्वास पर्याप्ति है।

**१३७. भाषा पर्याप्ति का लक्षण**

भाषा वर्गणा द्वारा प्राप्त पुद्गल स्कन्धों को सत्य आदि चार प्रकार की वाक् रूप से परिणत करने के लिए जीव की शक्ति उत्पन्न होना भाषा पर्याप्ति है।

**१३८. मनःपर्याप्तेर्लक्षणम्**

दृष्टश्रुतानुमितार्थानां गुणदोषविचारणादिरूपभावमनःपरिणमने मनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां द्रव्यमनोरूपपरिणामेन परिणमयितुं जीवस्य शक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः।

**१३९. प्रत्येकशरीस्य लक्षणम्**

प्रत्येकशरीरनामैकस्य जीवस्यैकशरीरस्वामित्वं करोति।

**१४०. साधारणशरीरस्य लक्षणम्**

साधारणशरीरनामानन्तजीवानामेकशरीरस्वामित्वं करोति।

**१४१. स्थिरनामकर्मणः लक्षणम्**

स्थिरनाम रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणां सप्तधातूनामचलितत्वं करोति।

**१४२. अस्थिरनामकर्मणः लक्षणम्**

अस्थिरनाम तेषां चलितत्वं करोति।

**१४३. शुभनामकर्मणः लक्षणम्**

शुभनाम मस्तकादिप्रशस्तावयवं करोति।

---



**१३८. मनःपर्याप्ति का लक्षण**

देखे, सुने तथा अनुमित (अनुमान से जाने गये) अर्थों के गुण-दोष विचारणादि रूप भाव मन के परिणमन में, मनोवर्गणा रूप से प्राप्त पुद्गल स्कन्धों के द्रव्य मनरूप परिणाम द्वारा परिणत करने के लिए जीव की शक्ति उत्पन्न होना मनःपर्याप्ति है।

**१३९. प्रत्येक शरीर का लक्षण**

प्रत्येक शरीर नामकर्म एक जीव को एक शरीर का स्वामी करता है।

**१४०. साधारण शरीर का लक्षण**

साधारण शरीर नामकर्म अनन्त जीवों को एक शरीर का स्वामी करता है।

**१४१. स्थिर नामकर्म का लक्षण**

स्थिर नामकर्म रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं की स्थिरता को करता है।

**१४२. अस्थिर नामकर्म का लक्षण**

अस्थिर नामकर्म उपर्युक्त सप्त धातुओं की अस्थिरता करता है।

**१४३. शुभ नामकर्म का लक्षण**

शुभ नामकर्म मस्तक आदि प्रशस्त अवयव करता है।

**१४४. अशुभनामकर्मणः लक्षणम्**

अशुभनामापानाद्यप्रशस्तावयवं करोति।

**१४५. सुभगनामकर्मणः लक्षणम्**

सुभगनाम परेषां रुचिरत्वं करोति।

**१४६. दुर्भगनामकर्मणः लक्षणम्**

दुर्भगनामारुचिरत्वं करोति।

**१४७. सुस्वरनामकर्मणः लक्षणम्**

सुस्वरनाम श्रवणरमणीयस्वरं करोति।

**१४८. दुस्स्वरनामकर्मणः लक्षणम्**

दुस्स्वरं नाम श्रवणदुस्सहं स्वरं करोति।

**१४९. आदेयनामकर्मणः लक्षणम्**

आदेयनाम परेर्मान्यतां करोति।

**१५०. अनादेयनामकर्मणः लक्षणम्**

अनादेयनामामान्यतां करोति।

---

**१४४. अशुभ नामकर्म का लक्षण**

अशुभ नामकर्म अपान आदि अप्रशस्त अवयवों को करता है।

**१४५. सुभग नामकर्म का लक्षण**

सुभग नामकर्म दूसरों की रुचिरता करता है।

**१४६. दुर्भग नामकर्म का लक्षण**

दुर्भग नामकर्म दूसरों की अरुचि करता है।

**१४७. सुस्वर नामकर्म का लक्षण**

सुस्वर नामकर्म कर्णप्रिय स्वर करता है।

**१४८. दुःस्वर नामकर्म का लक्षण**

दुःस्वर नामकर्म कानों को दुःसह स्वर करता है।

**१४९. आदेय नामकर्म का लक्षण**

आदेय नामकर्म दूसरों के द्वारा मान्यता करता है।

**१५०. अनादेय नामकर्म का लक्षण**

अनादेय नामकर्म अमान्यता करता है।

**१५१. यशस्कीर्तिनामकर्मणः लक्षणम्**

यशस्कीर्तिनाम गुणकीर्तनं करोति।

**१५२. अयशस्कीर्तिनामकर्मणः लक्षणम्**

अयशस्कीर्तिनाम दोषकीर्तनं करोति।

**१५३. निर्माणनामकर्मणः लक्षणम्**

निर्माणनाम शरीरवत् स्वस्वस्थानेषु स्वस्थितानुप्राञ्जलित्वं करोति।

**१५४. तीर्थकरत्वनामकर्मणः लक्षणम्**

तीर्थकरत्वं नाम पञ्चकल्याणचतुस्त्रिंशदतिशयाष्टमहाप्रातिहार्यसमवशरणादिबहुविधौ-चित्यविभूतिसंयुक्तार्हन्त्यलक्ष्मीं करोति।

## गोत्रम्

**१५५. गोत्रकर्मणः द्वौ भेदौ**

उच्चनीचभेदाद् गोत्रकर्म द्विधा।

**१५६. उच्चगोत्रस्य लक्षणम्**

तत्र महाव्रताचरणयोग्योत्तमकुलकारणमुच्चैर्गोत्रम्।

**१५७. नीचगोत्रस्य लक्षणम्**

---

**१५१. यशस्कीर्ति नामकर्म का लक्षण**

यशस्कीर्ति नामकर्म गुणकीर्तन करता है।

**१५२. अयशस्कीर्ति नामकर्म का लक्षण**

अयशस्कीर्ति दोषकीर्तन (बदनामी) करता है।

**१५३. निर्माण नामकर्म का लक्षण**

निर्माण नामकर्म शरीर के अनुसार स्व-स्व स्थानों में शरीरावयवों का उचित निर्माण करता है।

**१५४. तीर्थंकर नामकर्म**

तीर्थंकर नामकर्म पंचकल्याणक, चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य तथा समवसरण आदि अनेक प्रकार की उचित विभूति से युक्त आर्हन्त्य लक्ष्मी को करता है।

**१५५. गोत्रकर्म के भेद**

उच्च और नीच के भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का है।

**१५६. उच्च गोत्रकर्म का लक्षण**

महाव्रतों के आचरण योग्य उत्तम कुल का कारण उच्च गोत्रकर्म कहलाता है।

**१५७. नीच गोत्रकर्म का लक्षण**

तद्विपरीताचरणयोग्यनीचकुलकारणं नीचैर्गोत्रम्।

## अन्तरायम्

**१५८. अन्तरायकर्मण: पञ्च भेदा:**

दानलाभभोगोपभोगवीर्याश्रयभेदादन्तरायकर्म पञ्चधा।

**१५९. दानान्तरायस्य लक्षणम्**

तत्र दानस्य विघ्नहेतुर्दानान्तरायम्।

**१६०. लाभान्तरायस्य लक्षणम्**

लाभस्य विघ्नहेतुर्लाभान्तरायम्।

**१६१. भोगान्तरायस्य लक्षणम्**

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगस्तस्य विघ्नहेतुर्भोगान्तरायम्।

**१६२. उपभोगान्तरायस्य लक्षणम्**

भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य उपभोगस्तस्य विघ्नहेतुरुपभोगान्तरायम्।

**१६३. वीर्यान्तरायस्य लक्षणम्**

वीर्यं शक्ति: सामर्थ्यं तस्य विघ्नहेतुर्वीर्यान्तरायम्।

---

ऊपर बताये के विपरीत आचरण योग्य नीच कुल का कारण नीच गोत्र है।

**१५८. अन्तराय कर्म के भेद**

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय के भेद से अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है।

**१५९. दानान्तराय का लक्षण**

दान के विघ्न का कारण दानान्तराय होता है।

**१६०. लाभान्तराय का लक्षण**

लाभ के विघ्न का कारण लाभान्तराय है।

**१६१. भोगान्तराय का लक्षण**

जो एक बार भोगकर छोड़ दिया जाता है, उसे भोग कहते हैं। भोगों के अन्तराय का कारण भोगान्तराय है।

**१६२. उपभोगान्तराय का लक्षण**

एक बार भोगकर पुन: भोगने योग्य उपभोग कहलाता है, उसके विघ्न का कारण उपभोगान्तराय है।

**१६३. वीर्यान्तराय का लक्षण**

शक्ति या सामर्थ्य वीर्य है, उसके विघ्न का कारण वीर्यान्तराय है।

**१६४. उत्तरप्रकृतिबन्धस्य समाप्तिः**

एवमुत्तरप्रकृतिबन्धः कथितः।

**१६५. उत्तरोत्तरप्रकृतिबन्धस्यागोचरत्वम्**

उत्तरोत्तरप्रकृतिबन्धोऽगोचरो भवति।

## स्थितिबन्धः

**१६६. स्थितिबन्धकथनम्**

अथ स्थितिबन्ध उच्यते।

**१६७. स्थितिबन्धस्य लक्षणम्**

ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीनां ज्ञानप्रच्छादनादिस्वस्वभावापरित्यागेनावस्थानं स्थितिः।

**१६८. स्थितिबन्धस्य समयः**

तत्कालश्चोपचारात्।

**१६९. ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायस्य चोत्कृष्टा स्थितिः**

तद्यथा ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्कोटिकोटि-सागरोपमप्रमिता।

---

**१६४. उत्तर प्रकृति-बन्ध का उपसंहार**

इस प्रकार उत्तर प्रकृति-बन्ध कहा।

**१६५. उत्तरोत्तर प्रकृति-बन्ध की अगोचरता**

उत्तरोत्तर प्रकृति-बन्ध अगोचर है।

**१६६. स्थितिबन्ध का कथन**

अब स्थिति बन्ध कहते हैं।

**१६७. स्थितिबन्ध का लक्षण**

ज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों का ज्ञान को ढँकने आदि रूप अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए स्थित रहना स्थिति है।

**१६८. स्थितिबन्ध का काल**

उसके काल को उपचार से स्थितिबन्ध कहा जाता है।

**१६९. ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति**

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर प्रमाण है।

**१७०. दर्शनमोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिः**

दर्शनमोहनीयस्य सप्ततिः कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा।

**१७१. चारित्रमोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिः**

चारित्रमोहनीयस्य चत्वारिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमिता।

**१७२. नामगोत्रयोरुत्कृष्टा स्थितिः**

नामगोत्रयोर्विंशतिकोटिकोटिसागरोपमप्रमात्री।

**१७३. आयुकर्मणः उत्कृष्टा स्थितिः**

आयुष्यकर्मणस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा। इत्युत्कृष्टस्थितिरुक्ता।

**१७४. वेदनीयस्य जघन्यस्थितिः**

वेदनीयस्य जघन्यस्थितिर्द्वादशमुहूर्ता।

**१७५. नामगोत्रयोः जघन्यस्थितिः**

नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता।

**१७६. शेषाणां जघन्यस्थितिः**

शेषाणां ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयमोहनीयायुष्यान्तरायाणां जघन्य-स्थितिरन्तर्मुहूर्ता।

---

**१७०. दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति**

दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर प्रमाण है।

**१७१. चारित्रमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति**

चारित्रमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटि-कोटि सागर प्रमाण है।

**१७२. नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति**

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है।

**१७३. आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति**

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति कही।

**१७४. वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति**

वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

**१७५. नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति**

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

**१७६. शेष कर्मों की जघन्य स्थिति**

शेष ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, आयु तथा अन्तराय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

**१७७. सर्वेषां कर्मणां स्थितिः**

सर्वेषां कर्मणां स्थितिर्नानाविकल्पा।

**१७८. स्थितिबन्धकथनस्य उपसंहारः**

इति स्थितिरुक्ता।

**अनुभागबन्धः**

**१७९. अनुभागबन्धकथनस्य प्रतिज्ञा**

अथानुभाग उच्यते।

**१८०. अनुभागबन्धस्य लक्षणम्**

कर्मप्रकृतीनां तीव्रमन्दमध्यमशक्तिविशेषोऽनुभागः।

**१८१. घातिकर्मणामनुभागः**

घातिकर्मणामनुभागो लतादार्वस्थिशैलसमानचतुःस्थानः।

**१८२. अघातिकर्मणामनुभागः**

अघातिकर्मणामशुभप्रकृतीनामनुभागो निम्बकाञ्जीरविषहालाहल-सदृशचतुःस्थानः, शुभप्रकृती-नामनुभागो गुडखाण्डशर्करामृतसमानचतुःस्थानः।

---

**१७७. सभी कर्मों की स्थिति**

सभी कर्मों की स्थिति नाना प्रकार की है।

**१७८. स्थितिबन्ध का उपसंहार**

इस प्रकार स्थितिबन्ध कहा।

**१७९. अनुभाग बन्ध कहने की प्रतिज्ञा**

अब अनुभाग बन्ध कहते हैं।

**१८०. अनुभाग बन्ध का लक्षण**

कर्मप्रकृतियों की तीव्र, मन्द, मध्यम शक्ति विशेष को अनुभाग कहा है।

**१८१. घाति कर्मों का अनुभाग**

घाति कर्मों का अनुभाग लता, दारू (काष्ठ), अस्थि तथा शिला के समान चार प्रकार है।

**१८२. अघाति कर्मों का अनुभाग**

अघाति कर्मों की अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग नीम, कांजीर, विष और हालाहल के समान चार प्रकार का तथा शुभ प्रकृतियों का अनुभाग गुड़, खाण्ड़, शर्करा तथा अमृत के समान चार प्रकार का है।

**१८३. अनुभागबन्धकथनस्योपसंहारः**

इत्यनुभाग उक्तः।

**प्रदेशबन्धः**

**१८४. प्रदेशबन्धकथनस्य प्रतिज्ञा**

अथ प्रदेश उच्यते।

**१८५. प्रदेशबन्धस्य लक्षणम्**

आत्मप्रदेशेषुद्व्यर्धगुणहानिगुणितसमयप्रबद्धमात्राणि सिद्धराश्यनन्तैकभागप्रमितानामभव्य-जीवस्यानन्तगुणानां सर्वकर्मपरमाणूनां परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः प्रदेशबन्धः।

**१८६. प्रदेशबन्धस्योपसंहारः**

इति प्रदेशबन्ध उक्तः।

**१८७. द्रव्यकर्मणामुपसंहारः**

एवं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविकल्पानि पौद्गलिकानि द्रव्यकर्माणि कथितानि।

**भावकर्म**

**१८८. भावकर्मणः लक्षणम्**

उक्तज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मोदयजनिता आत्मनोऽज्ञानरागमिथ्यादर्शनादिपरिणामविशेषा भावकर्माणि।

---

**१८३. अनुभाग बन्ध कथन का उपसंहार**

इस प्रकार अनुभाग बन्ध कहा।

**१८४. प्रदेश बन्ध कथन की प्रतिज्ञा**

आगे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

**१८५. प्रदेश बन्ध का लक्षण**

आत्मा के प्रदेशों में डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध मात्र की सत्ता रहती है तथा प्रति समय सिद्धराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण या अभव्य जीवों के अनन्तगुणें समस्त कर्म परमाणुओं का परस्पर प्रदेशों में अनुप्रवेश होना प्रदेशबन्ध है।

**१८६. प्रदेशबन्ध कथन का उपसंहार**

इस प्रकार प्रदेशबन्ध कहा।

**१८७. द्रव्यकर्मों के कथन का उपसंहार**

इस प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश के भेद से पौद्गलिक द्रव्य कर्म कहे।

**१८८. भाव कर्म का लक्षण**

उक्त ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के उदय से होने वाले आत्मा के अज्ञान, राग, मिथ्यादर्शन आदि

**१८९. भावकर्मणां परिमाणम्**

तान्यप्यसंख्यातलोकमात्राणि भवन्ति।

## नोकर्म

**१९०. नोकर्मणः लक्षणम्**

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसशरीरपरिणमनपुद्गलस्कन्धा नोकर्मद्रव्याणि।

**१९१. संसारिजीवस्य लक्षणम्**

एवंविधद्रव्यभावनोकर्मसंयुक्ताः पञ्चविधसंसरणपरिणताश्चतसृषु गतिषु परिवर्तमान-जीवास्संसारिणः।

**१९२. मुक्तजीवस्य लक्षणम्**

तत्कर्मत्रयमुक्तास्सिद्धगतावस्थिताः क्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्य-सूक्ष्मत्वावगाहनागुरु-लघुत्वाव्याबाधरूपाष्टगुणपरिणताः सिद्धपरमेष्ठिनो जीवा मुक्ताः।

**१९३. संसारिजीवानां द्वौ भेदौ**

तत्र संसारिणो जीवा भव्याभव्यभेदेन द्विधा।

**१९४. भव्यजीवस्य लक्षणम्**

---

परिणामविशेष भाव कर्म हैं।

**१८९. भाव कर्मों का परिमाण**

वे भाव कर्म असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

**१९०. नोकर्म का लक्षण**

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तथा तैजस शरीर के रूप में परिणत पुद्गल स्कन्ध नोकर्म द्रव्य हैं।

**१९१. संसारी जीव का लक्षण**

इस प्रकार द्रव्य कर्म, भाव कर्म तथा नोकर्म से युक्त, पाँच प्रकार के परिवर्तनों में परिणत तथा चार गतियों में भ्रमण करते हुए जीव संसारी हैं।

**१९२. मुक्त जीव का लक्षण**

उक्त तीन प्रकार के कर्मों से मुक्त, सिद्ध गति में स्थित, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व तथा अव्याबाधत्वरूप अष्ट गुण परिणत सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव है।

**१९३. संसारी जीवों के दो भेद**

संसारी जीव भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के हैं।

**१९४. भव्य जीव का लक्षण**

तत्र रत्नत्रयसामग्र्याः सकलकर्मक्षयं कृत्वानन्तज्ञानादिस्वरूपोपलब्धि-भवनयोग्यशक्ति-विशेषसहिता भव्याः।

**१९५. भव्यजीवानां चतुर्दशगुणस्थानानि**

तत्र चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनो भव्याः।

**१९६. अभव्यजीवस्य लक्षणम्**

एकस्मान्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादनिवर्तमाना अभव्याः।

**१९७. अभव्यानां करणत्रयाभावः**

तेषां कदाचिदपि सम्यग्दर्शनप्राप्तिकारणकरणत्रयविधानासंभवात्।

**१९८. मिथ्यात्वगुणस्थानम्**

तत्र दर्शनमोहनीयस्य मिथ्यात्वप्रकृतेरुदयादतत्त्वश्रद्धानरूपमिथ्यादर्शनपरिणतस्सर्वज्ञवीतराग-प्रणीतं जीवादितत्त्वमश्रद्धानस्संशयानो वान्यप्रणीतमतत्त्वं श्रद्दधानो वा जीवो मिथ्यादृष्टिरिति प्रथमगुणस्थान-वर्ती भवति।

**१९९. मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वस्य विधानम्**

अनादिमिथ्यादृष्टिर्वा सादिमिथ्यादृष्टिर्वा लब्धिपञ्चकसंनिधाने प्रथमोपशमसम्यक्त्वं गृह्णाति।

---

रत्नत्रय रूप सामग्री के द्वारा समस्त कर्मक्षय करके अनन्त-ज्ञान आदि स्वरूप प्राप्ति होने योग्य शक्ति विशेष से सहित जीव भव्य जीव कहलाते हैं।

**१९५. भव्य जीवों के चौदह गुणस्थान**

चौदह गुणस्थानों में स्थित भव्य होते हैं।

**१९६. अभव्य जीव का लक्षण**

केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहने वाले अभव्य जीव होते हैं।

**१९७. अभव्यों के करणत्रय का अभाव**

उनके कभी भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के कारण करणत्रय होना असंभव है।

**१९८. मिथ्यात्व गुणस्थान**

दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अतत्त्वश्रद्धान रूप मिथ्यादर्शन से युक्त, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत जीव आदि तत्त्वों का अश्रद्धान करने वाला अथवा संशय करने वाला या अन्य प्रणीत अतत्त्वों का श्रद्धान करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानवर्ती होता है।

**१९९. मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व का विधान**

अनादि मिथ्यादृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि पाँच लब्धियों के सद्भाव में प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है।

**२००. क्षयोपशमलब्धिः**

तद्यथा कदाचित्कस्यचिज्जीवस्याशुभकर्मणामनुभागः प्रतिसमयमनन्त-गुणहान्युदेति, इति तेषां सर्वघातिस्पर्धकानामनन्तगुणहानिं विधाय तद्द्रव्यस्य सदवस्था उपशमः, अनन्तहीनानुभागोदये सत्यपि क्षयोपशम इत्युच्यते। तस्य लब्धिः क्षयोपशमलब्धिः।

**२०१. विशुद्धिलब्धिः**

क्षयोपशमलब्धौ सत्यामुत्पन्नस्सातादिप्रशस्तप्रकृतिबन्धकारणं जीवस्य यो विशुद्धि-परिणामस्तल्लाभो विशुद्धिलब्धिः।

**२०२. देशनालब्धिः**

षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थानामुपदेशकारकाचार्योपाध्याय-देशनालाभः उपदेशकर-हितक्षेत्रे पूर्वोपदिष्टजीवादितत्त्वधारणस्मरणलाभो वा देशनालब्धिः।

**२०३. प्रायोग्यतालब्धिः**

आयुर्वर्जितसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिं विशुद्धिपरिणामविशेषेण खण्डयित्वान्तःकोटिकोटिस्थितिं स्थापयति लतादार्वस्थिशैलरूपघातिकर्मानुभागं खण्डयित्वा लतादारुरूपद्विस्थानं स्थापयति

---

**२००. क्षयोपशमलब्धि**

कभी किसी जीव के अशुभ कर्मों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्त गुण हानि क्रम से उदित होता है। इस प्रकार उन सर्वघाति स्पर्धकों की अनन्त गुणहानि करके उस द्रव्य का सदवस्था रूप उपशम अनन्त हीन अनुभाग के उदय होने पर भी क्षयोपशम कहलाता है। उसकी लब्धि क्षयोपशमलब्धि है।

**२०१. विशुद्धिलब्धि**

सातादि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध का कारण जीव का जो विशुद्धि परिणाम क्षयोपशम लब्धि के होने पर उत्पन्न होता है उसका लाभ विशुद्धिलब्धि है।

**२०२. देशनालब्धि**

छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व तथा नव पदार्थों के उपदेश करने वाले आचार्य, उपाध्याय की देशना का लाभ अथवा उपदेशक रहित क्षेत्र में पूर्व उपदिष्ट जीव आदि तत्त्वों के धारण, स्मरण का लाभ देशनालब्धि है।

**२०३. प्रायोग्यतालब्धि**

आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को विशुद्धि परिणामविशेष द्वारा खण्डित करके अन्तःकोटिकोटि प्रमाण स्थिति में स्थापित करना तथा लता, दारू (काष्ठ), अस्थि, शैलरूप घाति कर्मों के अनुभाग को खण्डित करके लता, दारूरूप दो स्थानों में स्थापित करना है। इस

तद्विशुद्धि-परिणामयोग्यतालाभः प्रायोग्यतालब्धिः।

**२०४. करणलब्धिः**

दर्शनमोहोपशमनादिकरणविशुद्धपरिणामः करण इत्युच्यते। तल्लाभः करणलब्धि।

**२०५. करणस्य त्रयो भेदाः**

स च करणोऽधःप्रवृत्तकरणोऽपूर्वकरणोऽनिवृत्तिकरणश्चेति त्रिधा।

**२०६. अधःप्रवृत्तकरणस्य कालः**

तत्राधःप्रवृत्तकरणकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः।

**२०७. अपूर्वकरणस्य कालः**

ततः संख्येयगुणहीनोऽपूर्वकरणकालः।

**२०८. अनिवृत्तिकरणस्य कालः**

ततः संख्येयगुणहीनोऽनिवृत्तिकरणकालः।

**२०९. त्रयाणां करणानां कालः**

त्रितयं समुदितमप्यन्तर्मुहूर्तकाल एव।

**२१०. करणत्रयेषु विशुद्धिः**

---

प्रकार की विशुद्धिरूप परिणामों की योग्यता का लाभ प्रायोग्यतालब्धि है।

**२०४. करणलब्धि**

दर्शनमोह के उपशम आदि करने वाला विशुद्धि परिणाम करण कहलाता है, उसका लाभ करणलब्धि है।

**२०५. करण के तीन भेद**

वह करण अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार का है।

**२०६. अधःप्रवृत्तकरण का काल**

अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

**२०७. अपूर्वकरण का काल**

उससे संख्यात गुणहीन अपूर्वकरण का काल है।

**२०८. अनिवृत्तिकरण का काल**

उससे संख्यात गुणहीन अनिवृत्तिकरण का काल है।

**२०९. तीनों करणों का सम्मिलित काल**

तीनों करणों का सम्मिलित काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

**२१०. करणत्रय में विशुद्धि**

अध:प्रवृत्तकरणप्रथमसमयादारभ्य विशुद्धि: प्रतिसमयमनन्तगुणा अप्यनिवृत्तिकरणचरमसमयं वर्तन्ते।

**२११. अध: प्रवृत्तकरणकाले विशुद्धिपरिणाम:**

तत्राध:प्रवृत्तकरणकाले संख्यातलोकमात्रविशुद्धिपरिणामविकल्पा जघन्यमध्यमोत्कृष्टा: सन्ति।

**२१२. अध:प्रवृत्तकरणस्याङ्कसंदृष्टि:**

तत्राङ्कसंदृष्ट्याध:प्रवृत्तकरणलक्षणमुच्यते–प्रथमसमयनानाजीवानां विशुद्धिपरिणामविकल्पानां जघन्यखण्डमिदम् ३९। अस्माद्द्वितीयं खण्डं विशेषाधिकम् ४०। तृतीयं विशेषाधिकं ४१। एवं चरमचतुर्थखण्डं विशेषाधिकं ४२। द्वितीयसमये जघन्यखण्डं प्रथमसमयजघन्यखण्डाद्विशेषाधिकम् ४०। ततो द्वितीयखण्डं विशेषाधिकं ४१। ततस्तृतीयखण्डं विशेषाधिकं ४२। एवं चरमखण्डं विशेषाधिकं ४३। एवं तृतीयादिसमयेषु जघन्यादिखण्डानि विशेषाधिकानि भवन्ति। ये केषांचिज्जीवानामुपरिम-समयपरिणमनवर्तिनां विशुद्धिपरिणामविकल्पा अध:स्तनसमयवर्तिनां केषांचिज्जीवानां विशुद्धिपरिणाम-विकल्पैस्सह सदृशास्सन्तीत्यध:प्रवृत्तकरणसंज्ञा युक्ता। तत्र प्रथमसमयजघन्यखण्डं चरमसमयचरमखण्डं च केनापि जघन्योत्कृष्टेन सदृशं न भवति, तथापि

---

अध:प्रवृत्तकरण के प्रथम समय से आरम्भ करके विशुद्धि प्रतिसमय अनन्तगुणी होकर भी अनिवृत्तिकरण के चरम समय तक रहती है।

**२११. अध:प्रवृत्तकरण काल में विशुद्धि परिणाम**

अध:प्रवृत्तकरण के समय में असंख्यात लोकमात्र विशुद्धि परिणाम विकल्प जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट होते हैं।

**२१२. अध:प्रवृत्तकरण की अंक संदृष्टि**

अंकसंदृष्टि की अपेक्षा अध:प्रवृत्तकरण का लक्षण कहते हैं–प्रथम समय में नाना जीवों के विशुद्धि परिणाम विकल्पों का जघन्य खण्ड ३९ है। इससे द्वितीय खण्ड विशेष अधिक है ४०। इससे तीसरा विशेष अधिक है ४१। इसी प्रकार अन्तिम चौथा खण्ड भी विशेष अधिक है ४२। द्वितीय समय में जघन्य खण्ड प्रथम समय के जघन्य खण्ड से विशेष अधिक है ४०। उससे द्वितीय खण्ड विशेष अधिक है ४१। उससे तृतीय खण्ड विशेष अधिक है ४२। इसी प्रकार अन्तिम चौथा खण्ड विशेष है ४३। इस प्रकार तृतीय आदि समयों में तथा अन्तिम समय में जघन्य आदि खण्ड विशेष अधिक होते हैं। जो किन्हीं जीवों के ऊपर के समय में परिणमन करने वाले विशुद्धि परिणाम विकल्प निम्न समयवर्ती किन्हीं जीवों के विशुद्धि परिणाम विकल्पों के साथ समान होते हैं। इसलिए इसकी अध:प्रवृत्तकरण संज्ञा उचित है। यद्यपि प्रथम समय का जघन्य खण्ड तथा अन्तिम समय का अन्तिम खण्ड किसी भी जघन्य या उत्कृष्ट खण्ड के सदृश

तद्द्वयं विहायेतरेषां सर्वेषां खण्डानामुपर्यधश्च सादृश्यमस्तीति, तेनाध:प्रवृत्तकरणसंज्ञा न विरुध्यते। अस्मिन्नध:प्रवृत्तकरणे प्रशस्तप्रकृतीनामनुभागः प्रतिसमयेऽनन्तगुणं वर्धते, अप्रशस्तप्रकृतीनामनुभागः प्रतिसमयमनन्तगुणहीनो भवति, संख्यात-सहस्रस्थितिबन्धापसरणानि भवन्ति, प्रतिसमयमनन्त-गुणवृद्ध्या विशुद्धिश्च वर्तते, इत्येतानि चत्वार्यावश्यकानि सन्ति। पुनर्गुणश्रेणि-निर्जरागुण-संक्रमस्थितिकाण्डकघातानुभागकाण्डकघाताश्चेति चत्वार्यावश्यकानि न सन्ति, तत्कारण-विशुद्धिविशेषाभावात्।

## २१३. अपूर्वकरणम्

ततः परमपूर्वकरणप्रथमसमये गुणश्रेणिनिर्जरागुणसंक्रमस्थितिकाण्ड-कघाताश्च प्रारभ्यन्ते। अत्रापि जघन्यमध्यमोत्कृष्टा विशुद्धिपरिणामाध:प्रवृत्तपरिणमेभ्यो संख्यातलोकगुणिताः सन्ति। तत्र प्रथमसमयवर्तिनानाजीवविशुद्धिपरिणामा असंख्यातलोकमाता अङ्कसंदृष्ट्या ४५६। एते सर्वेऽप्येकेनैव खण्डं बहुखण्डानीव सन्ति। उपरितनसमयपरिणामैस्सादृश्याभावात्।

द्वितीयसमयपरिणामा विशेषाधिकाः ४७२। एतेऽप्येकमेव खण्डम्। उपर्यधोऽधत्व-सादृश्याभावाद्बहुखण्डाभावः। एवं तृतीयादिसमयेष्वा-चरमसमयं विशुद्धिपरिणामा एकैकखण्डं कृताः विशेषाधिकाः सन्ति। अत एव कारणात्पूर्वपूर्वसमयोऽप्रवृत्ता एव विशुद्धिपरिणामा उत्तरसमये भवन्तीत्यपूर्वकरणसंज्ञा युक्ता। तस्याङ्कसंदृष्टिः -

---
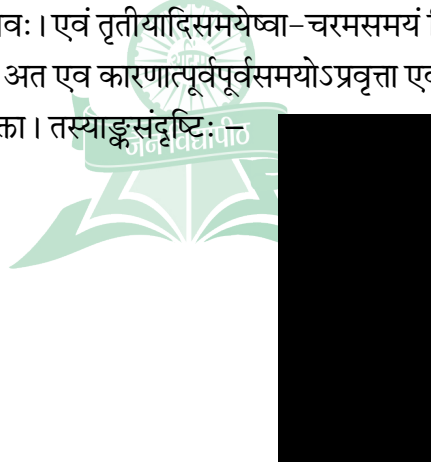
नहीं होता, फिर भी उन दोनों को छोड़कर अन्य सभी खण्डों का ऊपर तथा नीचे सादृश्य है, इसलिए अध:प्रवृत्तकरण कहने में विरोध नहीं आता। इस अध:प्रवृत्तकरण में प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रति समय अनन्तगुणा बढ़ता है तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रति समय अनन्तगुणा हीन होता है। संख्यात सहस्र स्थितिबन्धापसरण होते हैं तथा प्रति समय अनन्तगुणी वृद्धि के हिसाब से विशुद्धि होती है-ये चार आवश्यक होते हैं, किन्तु गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रम, स्थितिकाण्डकघात तथा अनुभागकाण्डकघात, ये चार आवश्यक नहीं होते हैं; क्योंकि इनके कारण विशुद्धि-विशेषरूप परिणामों का अभाव है।

**२१४. अनिवृत्तिकरणम्**

ततः परमनिवृत्तिकरणप्रथमसमये नानाजीवानां विशुद्धिपरिणामोऽपूर्वकरणे चरमसमय-सर्वोत्कृष्टविशुद्धिपरिणामादनन्तगुणविशुद्धिर्जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पा-भावादेकादृश एव। द्वितीयसमयेऽपि प्रथमसमयविशुद्धेरनन्तगुणविशुद्धिर्नानाजीवा-नामेकादृश एव विशुद्धिपरिणामो भवति। एवं तृतीयादिसमयेष्वनिवृत्तिकरणचरमसमयं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या वर्धमानोऽपि नानाजीवानां विशुद्धिपरिणामो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्परहित एकादृश एव भवति। अत एव कारणान्निवृत्तिभेदो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पपरिणामस्य नास्तीत्यनिवृत्तिकरणसंज्ञा युक्ता।

---

**२१३. अपूर्वकरण**

इसके बाद अपूर्वकरण के प्रथम समय में गुणश्रेणि निर्जरा, गुणसंक्रम, स्थितिकाण्डकघात तथा अनुभागकाण्डकघात प्रारम्भ होते हैं। यहाँ भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट विशुद्धि परिणाम अध:प्रवृत्तकरण के परिणामों से असंख्यात लोक गुणे होते हैं। यहाँ प्रथम समयवर्ती नाना जीवों के विशुद्धि परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। उनकी अंक संदृष्टि ४५६ है। ये सभी एक ही खण्ड से बहुत खण्डों की तरह होते हैं, क्योंकि ऊपर के समयवर्ती परिणामों के साथ सादृश्य का अभाव है।

द्वितीय समयवर्ती परिणाम विशेष अधिक होते हैं ४७२। ये भी एक ही खण्ड है। ऊपर और नीचे अधत्व के सादृश्य का अभाव होने से बहुत खण्ड नहीं होते। इसी प्रकार तृतीय आदि समयों में चरम समय पर्यन्त विशुद्धि परिणाम एक-एक खण्ड करके ही विशेष अधिक होते हैं। इसी कारण से पूर्व पूर्व समय में नहीं हुए अप्रवृत्त ही विशुद्धि परिणाम उत्तर समय में होते हैं, इसलिए अपूर्वकरण कहना उचित है। इसकी अंक संदृष्टि ऊपर दी है।

**२१४. अनिवृत्तिकरण**

इसके बाद अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में नाना जीवों के विशुद्धि परिणाम अपूर्वकरण में चरम समय सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि परिणामों से अनन्तगुणे विशुद्ध जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विकल्पों के न होने के कारण एक सदृश ही होते हैं। द्वितीय समय में भी प्रथम समय की विशुद्धि से अनन्तगुणी विशुद्धियुक्त नाना जीवों के विशुद्धि परिणाम एक सदृश ही होते हैं। इसी प्रकार तृतीय आदि समयों में अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त प्रति समय अनन्तगुणी वृद्धि युक्त विशुद्धि से बढ़ने वाले भी नाना जीवों के विशुद्धि परिणाम जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विकल्प रहित एक सदृश ही होते हैं। इसी कारण से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणामों में निवृत्तिभेद नहीं है, इसलिए अनिवृत्तिकरण कहना उचित है।

**२१५. अनिवृत्तिकरणस्य विशेषः**

तस्यानिवृत्तिकरणस्य चरमसमये भव्यश्चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टिः संज्ञी पंचेन्द्रियपर्याप्तो गर्भजो विशुद्धिवर्धमानः शुभलेश्यो जाग्रदवस्थितो ज्ञानोपयोगवान् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमाया-लोभान्मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतिश्चोपशमय्य प्रथमोपशमसम्यक्त्वं गृह्णाति। तस्य कालो जघन्योत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्तः।

**२१६. सासादननाम द्वितीयगुणस्थानम्**

तत्रैकसमयादारभ्य षडावलिसमयपर्यन्ते कालेऽवशिष्टे सति अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां मध्येऽन्यतमस्य कषायस्योदये सति जीवः सम्यक्त्वं विराध्य यावन्मिथ्यात्वं प्राप्नोति तावत्सासादन-सम्यग्दृष्टिर्द्वितीयगुणस्थानवर्ती भवति।

**२१७. सासादनगुणस्थानस्य कालः**

तस्य कालो जघन्य एकसमय उत्कृष्टः षडावलिमात्रस्ततः परं नियमेन मिथ्यात्वप्रकृते-रुदयान्मिथ्यादृष्टिर्भवति।

**२१८. सम्यग्मिथ्यादृष्टि नाम तृतीयगुणस्थानम्**

सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतेरर्हदुपदिष्टसन्मार्गे मिथ्यात्वादिकल्पितदुर्मार्गे च श्रद्धावान् जीवः सम्यग्मिथ्या-

---

**२१५. अनिवृत्तकरण का विशेष**

उन अनिवृत्तिकरण के चरम समय में भव्य चारों गतियों में से किसी भी गति में वर्तमान मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, गर्भज, जिसकी विशुद्धि बढ़ रही है, शुभ लेश्या वाला, जागृत, ज्ञानोपयोगवान्, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति का उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। उसका जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

**२१६. सासादन नामक द्वितीय गुणस्थान**

उसमें से एक समय से लेकर षडावलि समय पर्यन्त काल शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ में से किसी एक कषाय के उदय होने पर जीव सम्यक्त्व की विराधना करके जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, तब तक सासादन सम्यग्दृष्टि नामक द्वितीय गुणस्थानवर्ती होता है।

**२१७. सासादन गुणस्थान का समय**

उसका जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्ट षडावलि मात्र है। उसके बाद नियम से मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने के कारण मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

**२१८. सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तृतीय गुणस्थान**

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अर्हन्त द्वारा उपदिष्ट सन्मार्ग में तथा मिथ्यात्व आदि कल्पित

दृष्टिरिति तृतीयगुणस्थानवर्ती भवति।

**२१९. तृतीयगुणस्थानस्य स्थितिः**

तद्गुणस्थाने उत्तरगत्यायुर्बन्धो मरणं मारणान्तिकसमुद्घाताणुव्रतमहाव्रतग्रहणं च नास्ति। यदा म्रियते तदा सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते सम्यग्मिथ्यात्वे न म्रियते। सम्यग्मिथ्यात्व-परिणामात्पूर्वस्मिन्सम्यक्त्वे वा मिथ्यात्वे वा परभवायुर्बन्धे तदेवासंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं वा मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं वा प्राप्य म्रियत इत्यर्थः।

**२२०. असंयतसम्यग्दृष्टि नाम चतुर्थगुणस्थानम्**

औपशमिकसम्यक्त्वे वा क्षायिकसम्यक्त्वे वा वेदकसम्यक्त्वे वा वर्तमानो जीवोऽप्रत्याख्याना-वरणक्रोधमानमायालोभकषायोदयाद्द्वादशविधेऽसंयमे प्रवृत्तोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती भवति।

**२२१. देशसंयमो नाम पञ्चमगुणस्थानम्**

द्वितीयकषायोदयाभावे जीवोऽणुगुणशिक्षाव्रतरूप एकादशनिलयविशिष्टे देशसंयमे वर्तमानः श्रावक इति पञ्चमगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२२. प्रमत्तसंयतनाम षष्ठगुणस्थानम्**

---

दुर्मार्ग में श्रद्धान करने वाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तृतीय गुणस्थानवर्ती होता है।

**२१९. तृतीय गुणस्थान की स्थिति**

इस गुणस्थान में आगे की गति के लिए आयु बन्ध, मरण, मारणान्तिक समुद्घात तथा अणुव्रत या महाव्रत का ग्रहण नहीं होता। जब मरता है तो सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व को प्राप्त करके मरता है। सम्यग्मिथ्यात्व में नहीं मरता अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व परिणाम से पहले सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व में परभव की आयु का बन्ध होने पर उसी असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान अथवा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करके मरता है।

**२२०. असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान**

औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिकसम्यक्त्व अथवा वेदकसम्यक्त्व में वर्तमान जीव अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय के उदय के कारण बारह प्रकार के असंयम में प्रवृत्त रहने से असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२१. देशसंयम नामक पाँचवाँ गुणस्थान**

द्वितीय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषायों के अभाव में जीव अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत रूप ग्यारह स्थान विशिष्ट देशसंयम में वर्तमान श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२२. प्रमत्तसंयत नामक छठा गुणस्थान**

प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाभावे महाव्रतरूपं सकलसंयमं प्रतिपद्य संज्वलननोकषाय-मध्यमानुभागोदयात्पञ्चदशसु प्रमादेषु वर्तमानो जीवः प्रमत्तसंयत इति षष्ठगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२३. अप्रमत्तसंयतनाम सप्तमगुणस्थानम्**

संज्वलनक्रोधमानमायालोभकषायमन्दानुभागोदयात्सकलहिंसादिनिवृत्तिरूपसंयमे प्रमादरहिते वर्तमानो जीवोऽप्रमत्तसंयत इति सप्तमगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२४. सातिशयाप्रमत्तस्य लक्षणम्**

स एव यदा क्षपकोपशमकश्रेण्यारोहणं प्रत्यभिमुखो भवति तदा करणत्रयमध्येऽधःप्रवृत्तकरणं करोतीति स एव सातिशयाप्रमत्त इत्युच्यते।

**२२५. अपूर्वकरणो नामाष्टमगुणस्थानम्**

पुनः क्षपकश्रेणिमुपशमकश्रेणिं वा समारुह्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानो गुणश्रेणि-निर्जराद्यावश्यकानि कुर्वन्नुत्तरोत्तरसमयेषु पूर्वपूर्वसमयाप्राप्तानपूर्वानेव विशुद्धिपरिणामान् प्रतिपद्यमानो जीवः क्षपक उपशमको वापूर्वकरणसंयत इत्यष्टमगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२६. अनिवृत्तिकरणनाम नवमगुणस्थानम्**

---

प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय के अभाव में महाव्रत रूप सकल संयम को प्राप्त करके संज्वलन नोकषाय के मध्यम अनुभाग के उदय के कारण पन्द्रह प्रमादों में वर्तमान जीव प्रमत्त संयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२३. अप्रमत्तसंयत नामक सातवाँ गुणस्थान**

संज्वलन क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय के मन्द अनुभाग के उदय से सकल हिंसा आदि निवृत्तिरूप प्रमाद रहित संयम में वर्तमान जीव अप्रमत्तसंयत नामक सप्तम गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२४. सातिशय अप्रमत्तसंयत का लक्षण**

वही जब क्षपक या उपशम श्रेणी चढ़ने के अभिमुख होता है, तब तीन कारणों में से अधःप्रवृत्तकरण करता है, इसलिए वही सातिशय अप्रमत्त कहलाता है।

**२२५. अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुणस्थान**

फिर क्षपकश्रेणी अथवा उपशम श्रेणी का आरोहण करके प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि द्वारा बढ़ता हुआ गुणश्रेणी निर्जरा आदि आवश्यकों को करता हुआ उत्तरोत्तर समय में पूर्व-पूर्व समय में अप्राप्त अपूर्व ही विशुद्धि परिणामों को प्राप्त करके क्षपक अथवा उपशमक जीव अपूर्वकरण संयत नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२६. अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थान**

पुनरेकविंशतिचारित्रमोहनीयप्रकृतीः क्षपयन्नुपशमयंश्च प्रतिसमयं जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्प-रहितनानाजीवानामेकं सदृशविशुद्धिपरिणामस्थानं प्रतिपद्यमानश्चानिवृत्तिकरणसंयत इति नवमगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२७. सूक्ष्मसांपरायनाम दशमगुणस्थानम्**

पुनः सूक्ष्मत्व(कृ)ष्टिगतलोभानुभागोदयमनुभवन् चारित्रमोहनीयप्रकृतीः क्षयोपशमयन्प्रति-समयमनन्तगुणविशुद्ध्या वर्तमानः प्रशस्तध्यानपरिणतः सूक्ष्मसाम्परायेति दशमगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२८. उपशान्तकषायनाम एकादशगुणस्थानम्**

एकविंशतिचारित्रमोहनीयप्रकृतीः समः निरवशेषमुपशमय्य यथाख्यातचारित्ररूप-विशुद्धि-विशेषपरिणतः कतकफलप्रयोगादधःकृताप्रसन्नतोयसदृश-विशुद्धिपरिणामः शुद्ध(शुक्ल)ध्याननिष्ठ उपशान्तकषाय-वीतरागछद्मस्थ इत्येकादशगुणस्थानवर्ती भवति।

**२२९. क्षीणकषायनाम द्वादशगुणस्थानम्**

समस्तमोहनीयप्रकृतीर्निरवशेषं निर्मूल्य स्फटिकभाजनगतप्रसन्नतोय-समविशुद्धान्तरङ्गो द्वितीय-शुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयान्तरायरूपघातित्रयं क्षपयन् परमार्थनिर्ग्रन्थः

---

इसके बाद चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय या उपशम करता हुआ प्रति समय जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट विकल्प रहित नाना जीवों के एक सदृश विशुद्धि परिणाम स्थान को प्राप्त कर अनिवृत्तिकरण संयत नामक नवम गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२७. सूक्ष्मसांपराय नामक दशम गुणस्थान**

फिर सूक्ष्म कृष्टिगत लोभ के अनुभाग के उदय का अनुभव करता हुआ चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों का क्षय या उपशम करता हुआ, प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि में वर्तमान, प्रशस्त ध्यान परिणत, सूक्ष्मसांपराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२८. उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान**

चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का पूर्ण रूप से उपशमन करके यथाख्यात चारित्ररूप विशुद्धि विशेष परिणत कतक फल (निर्मली) के प्रयोग से नीचे बैठ गया है मैल जिसका ऐसे निर्मल जल के समान विशुद्ध परिणाम वाला शुक्ल ध्याननिष्ठ उपशान्त कषाय-वीतराग छद्मस्थ नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है।

**२२९. क्षीणकषाय नामक बारहवाँ गुणस्थान**

मोहनीयकर्म की समस्त प्रकृतियों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करके स्फटिक पात्र में रखे स्वच्छ जल के समान विशुद्ध अन्तरंग वाला द्वितीय शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय रूप तीन घातिया कर्मों का क्षय करता हुआ परम निर्ग्रन्थ क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ

क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ इति द्वादशगुणस्थानवर्ती भवति।

**२३०. सयोगकेवलिनाम त्रयोदशगुणस्थानम्**

शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मचतुष्टयेन्धनः प्रादुर्भूताचिन्त्यकेवल-ज्ञानदर्शनविशिष्टलोचन-द्वयावलोकितकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुसंभृतलोकालोकानन्त-सुखसुधारससंतृप्तोऽनन्तानन्त-वीर्यामितबलः सकलात्मप्रदेशेषु निचितविशुद्धचैतन्य-स्वभावस्तीर्थकरपुण्यविशेषोदयं संप्राप्ताष्ट-महाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशय-समवसरणविभूतिसंभावितकैवल्यकल्याणो दिवाकरकोटिबिम्ब-विडम्बितप्रभाभासुरप्रक्षीणतमः परमौदारिकदिव्यदेह इतरकेवली वा स्वयोग्यगन्धकुट्यादिविभूति-र्जगत्त्रयभव्यजनप्रबोधपारायणपरमदिव्यध्वनिश्शतेन्द्रवन्दितस्सयोगकेवलीति त्रयोदशगुणस्थानवर्ती भवति।

**२३१. अयोगकेवलिनाम चतुर्दशगुणस्थानम्**

पुनः स एव यद्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुस्थितिस्ततोऽधिकशेषाघातिकर्मत्रय-स्थितिस्तदाष्टभिः समयैर्दण्ड-कपाटप्रतरलोकपूरणप्रसर्पणसंहारस्य समुद्घातं कृत्वान्तर्मुहूर्तावशेषितायुःस्थितिसमान-शेषाघातिकर्मस्थितिस्सन् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनाम-तृतीयशुक्लध्यानबलेन कायवाङ्मनोनिरोधं

---

नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है।

**२३०. सयोगकेवली नामक तेरहवाँ गुणस्थान**

शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्मरूप ईन्धन के जल जाने से प्रकट हुए अचिन्त्य केवलज्ञान तथा केवलदर्शन रूप विशिष्ट नेत्रद्वय के द्वारा कालत्रयवर्ती समस्त वस्तु समूह से भरे हुए लोकालोक को देखने वाले, अनन्त सुखरूप सुधारस से संतृप्त, अनन्त वीर्यरूप अमित बलयुक्त, समस्त आत्म प्रदेशों में व्याप्त विशुद्ध चैतन्य स्वभाव, तीर्थंकर पुण्य विशेष के उदय से प्राप्त हुए अष्ट महाप्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय, समवसरण विभूति के द्वारा मनाया गया है कैवल्य कल्याणक जिनका, करोड़ों सूर्यों के प्रतिबिम्ब को तिरस्कृत करने वाली प्रभा से देदीप्यमान परम औदारिक दिव्य देह से युक्त तीर्थंकर अथवा स्वयोग्य गन्धकुटी आदि विभूति से युक्त सामान्य केवली परम दिव्य-ध्वनि द्वारा तीनों लोकों के भव्य जनों को प्रबोध देने में तत्पर, सौ इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती हैं।

**२३१. अयोगकेवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान**

फिर वहीं (सयोगकेवली) यदि अन्तर्मुहूर्त आयु स्थिति शेष रहने पर उससे अधिक शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति शेष रहती तो आठ समयों द्वारा दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण प्रसर्पण पुनः प्रतर, कपाट और दण्डरूप संहार के द्वारा समुद्घात करके, अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट आयु स्थिति के समान शेष अघाति कर्मों की स्थिति होने पर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान के

कृत्वायोगकेवली भवति। यदि पूर्वमेव समस्थितिं कृत्वा अघातिचतुष्टयस्तदा समुद्घातक्रियया विना तृतीयशुक्लध्यानेन योगनिरोधं कृत्वायोगकेवली भवति।

**२३२. मुक्तावस्थायाः स्वरूपम्**

पुनः स एवायोगकेवली सकलशीलगुणसंपन्नो व्युपरतक्रियानिवृत्ति-नामचतुर्थशुक्लध्यानेन पञ्चलघ्वक्षरोच्चरणमात्रस्वगुणस्थानकालद्विचरमसमये देहादिद्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयित्वा पुनश्चरमसमये-एकतरवेदनीयादित्रयोदशकर्मप्रकृतीः क्षपयित्वा तदनन्तरसमये निष्कर्मा-शरीरस्सम्यक्त्वाद्यष्टगुण-पुष्टपरमशरीरात्किचिदून-पुरुषाकारविशुद्धिज्ञानदर्शनमयो जीवो घनस्वरूप ऊर्ध्वगमनस्वभावादेकस्मिन्नेव समये लोकाग्रं गत्वा सिद्धपरमेष्ठी सन्सर्वकालमनन्तसुखतृप्तः केवलज्ञानदर्शनद्वयनिर्मल-लोचनद्वयेन त्रिकालगोचरानन्तद्रव्यगुणपर्यायान् लोकालोको च जानन् पश्यन्नवतिष्ठते। लोकाद्बहिः सति सहकारिधर्मास्तिकायाभावान्न गच्छति। अत एव लोकालोक-विभागश्च। इति सकलकर्मप्रकृतिरहित-सिद्धात्मस्वरूपं प्राप्तुकामा भव्या अनवरतं परमागमाभ्यास-जनितनिर्मलसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभावनानिष्ठा भवन्तु।

---

बल से मन, वचन, काय का निरोध करके अयोगकेवली होता है। यदि पहले ही अघाति कर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति के बराबर होती है, तब समुद्घात क्रिया के बिना तृतीय शुक्लध्यान के द्वारा योग निरोध करके अयोगकेवली होता है।

**२३२. मुक्तावस्था का स्वरूप**

फिर वही अयोगकेवली समस्त शील गुण सम्पन्न व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण करने योग्य, अपने गुणस्थान काल के द्विचरम समय में देह आदि बहत्तर प्रकृतियों का क्षय करके फिर चरम समय में एकतर वेदनीय आदि तेरह कर्म प्रकृतियों का क्षय करके उसके अनन्तर समय में, निष्कर्म, अशरीर, सम्यक्त्व आदि अष्ट गुण युक्त, अन्तिम शरीर से कुछ न्यून, पुरुषाकार, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय, घनस्वरूप जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अग्र भाग में जाकर सिद्ध परमेष्ठी होकर, अनन्तकाल तक अनन्त सुख से तृप्त केवलज्ञान तथा केवलदर्शनरूप निर्मल लोचन द्वय के द्वारा त्रिकाल गोचर अनन्त द्रव्य गुण पर्यायों को तथा लोक-अलोक को जानता-देखता अवस्थित रहता है। वह लोक के आगे, सहकारी धर्मास्तिकाय के न होने के कारण नहीं जाता और इसीलिए लोक तथा अलोक का विभाग है।

इस प्रकार समस्त कर्मप्रकृतियों से रहित सिद्धों के आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के इच्छुक भव्य जीव निरन्तर परमागम के अभ्यास द्वारा उत्पन्न निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की भावना से विशिष्ट हों।

**जयन्ति विधुताशेषपापाञ्जनसमुच्चयाः।**
**अनन्तानन्तधीर्दृष्टिसुखवीर्या जिनेश्वराः॥**

कृतिरियमभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिनः।

**इति कर्मप्रकृतिः।**

---

जिन्होंने समस्त पाप–मल के समूह को धो डाला है तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य को प्राप्त कर लिया है, वे जिनेन्द्रदेव जयवन्त हों।

यह कृति अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की है।

**कर्म प्रकृति समाप्त।**

# शब्दानुक्रम

श्री
अज्ञाताचार्य-प्रणीता

## द्वितीया कर्मप्रकृति-टीका

**गा० १—**अहं नेमिचन्द्रकविः प्रकृतिसमुत्कीर्त्तनं प्रकृतीनां ज्ञानावरणादिमूलोत्तरभेदयुक्तानां समुत्कीर्त्तनं कथनं विवरणं वोच्छं वक्ष्ये कथयिष्ये। किं कृत्वा ? सिरसा मस्तकेन नेमिं नेमिनाथतीर्थंकर स्वामिनं पणमिय प्रणम्य नमस्कृत्य। किंभूतं नेमिम् ? [गुणरयणविहूसणं] गुणाः अहिंसादयः, त एव रत्नानि, तान्येव विभूषणानि आभरणानि यस्य स गुण-[रत्नविभूषण-] स्तम्। [पुनः किंभूतम् ? महावीरं] महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तं महावीरम्। [पुनः किंभूतम् ? सम्मत्तरयणणिलयं] स्वस्वरूपलाभः सम्यक्त्वं सप्तप्रकृतिक्षयलक्षणं क्षायिकसम्यकत्वं वा, तदेव रत्नं तस्य निलयं स्थानं आश्रयस्तम्। अथवा किं कृत्वा? महावीरं प्रणम्य, महती विशिष्टा चासौ ई लक्ष्मीश्च तां राति ददातीति गृह्णातीति महावीरस्तम्, प्रणम्य। कीदृशं महावीरम् ? [नेमिम्] निजोद्भूतपुण्यमाहात्म्येन नागेन्द्र-नरेन्द्र-देवेन्द्रवन्द्यं निजपादारविन्दद्वन्द्वं नमयतीति नेमिः। यदि वा तीर्थक-रथ-प्रवर्तकपरत्वान्नेमिरिव नेमिः, चक्रधरः। एतादृशं महावीरम्। एतानि सर्वाणि विशेषणानि अस्यापि भवन्ति वीरपक्षे। नेमिनाथपक्षे नेमिचन्द्रं कविः प्रणम्य ॥१॥

**गा० २—वाक्यम्—**स्वभावो हि स्वभाववन्तमपेक्षत इति। कयोः स्वभावः ? जीवकर्मणोः। तत्र रागादिपरिणमनमात्मनः स्वभावः, रागाद्युत्पादकत्वं तु कर्मणः, तदितरेतराश्रयदोषः। इतरेतराश्रय-परिहारार्थमनयोः सम्बन्धः अनादिः। किंवत् ? कनकोपलवत् अनयोरस्तित्वं कथं सिद्धमित्युक्ते आह—स्वतः सिद्धमिति चेत् ? अहम्प्रत्ययवेद्यत्वेनात्मनोऽस्तित्वम्; एको दरिद्रः, एकः श्रीमान् इति विचित्र-परिणमनात्कर्मणोऽस्तित्वं सिद्धमिति। जीवंगाणं जीव अङ्गयोः। प्रकृतिः स्वभावः। [अणाइसंबंधो] अनादि संबन्धः प्रवर्तते। प्रकृतिः शीलं स्वभावमिति प्रकृतिपर्यायनामानि। स्वभावस्य किं लक्षणमिति चेत्—कारणान्तरनिरपेक्षत्वं स्वभावः। वा यथा जलस्य निम्नगमनं स्वभावः, यथाऽग्नेरूर्ध्वगमनं स्वभावः, यथा [वायोः] तिर्यग्गमनं स्वभावः। स च स्वभावः स्वभाववन्तं अपेक्षते वाञ्छते। स स्वभावः कयोः? जीवकर्मणोः। कयोरिव ? कनकोपलयोर्मलमिव। यथा कनकपाषाणे मलसम्बन्धः अनादिः वर्तते। इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः स्यात् तत्परिहारार्थं निवारणार्थं अनयोः जीव-कर्मणोः सम्बन्धः अनादिः वर्तते [इत्युक्तम्] ॥२॥

**गा० ३—देहोदएण** औदारिक १ वैक्रियिक २ आहारक ३ तैजस ४ कार्मण ५ शरीरपञ्चकम्, तस्योदयेन[1] जीवः कर्म-नोकर्मपुद्गलवाणवः (लाणून्) आहरदि आकर्षति। विग्रहगतौ कहतां (गच्छतां) स्वकीयशरीरं त्यक्त्वा गत्यन्तरनैकरतांथकां (?) तेन शरीरत्रयेण ३ विना कर्मैवाऽऽकर्षति न तु नोकर्मकैः।

---

१. तत्र कार्मणनामोदयजनितयोगेन। (गो० क० टी०)

समयं-समयं प्रति इति प्रतिसमयं सर्वाङ्गैः सर्वात्मप्रदेशैः जगच्छ्रेणिघनप्रमितजीवप्रदेशैः स्वस्वसंज्ञं कर्म, नोकर्म आकर्षति। औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकशरीरवर्गणा नोकर्म उच्यते। [तत्तायस-पिंडउव्व जलं] अयसि भवं आयसम्। यथा आयसं तप्तलोहपिण्डः गोलकः सर्वात्मप्रदेशैः जलं आकर्षति गृह्णाति, तथा शरीरनामोदयेन सहितो जीवः कर्म नोकर्म प्रतिसमयं आहरतीत्यर्थः ॥३॥

**गा० ४**—सिद्धानां अनन्तिमभागं [2]समयप्रबद्धगणनां बध्नाति, अभव्यसिद्धेभ्यः अनन्तगुणं समयप्रबद्धं बध्नाति। योगवशात् मनोवचनकायात् विसदृशं बध्नाति।

वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता!
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकः स्पर्धकापहैः॥

जीवो योगवशात् मनोवचनकाययोगात् समयप्रबद्धं समयं समयं प्रति बध्यते इति समयप्रबद्धः। [एवंभूतं] समयप्रबद्धं गृह्णातीति विशेषः। बंधदि बध्नाति। कीदृशम् ? सिद्धेभ्योऽनन्तिमभागं सिद्धराश्यनन्तैकभागम्। पुनः कीदृशम् ? अभव्यसिद्धादनन्तगुणं कर्म नोकर्म बध्नाति। कीदृशं समयप्रबद्धम्? विसदृशं नानाप्रकारं अनेकरूपं वा विसदृशं आयुर्वर्जितसप्तानां कर्मणां बन्धम् ॥४॥

**गा० ५**—अस्य जीवस्य समयप्रबद्धः जीर्णाति। [उ-] पयोगतः ज्ञानोपयोगतः दर्शनोपयोगतः [प्रयोगतः[3] ............अनेकसमयप्रबद्धं जीर्णाति] हीनो भवति द्व्यर्धगुणहानिमात्र-समयप्रबद्धः प्रतिसमयं सत्त्वं भवेत्। एकपल्यस्यासंख्याभागाः क्रियन्ते, तेषां मध्ये एकार्धभागस्य गुणहानिसंज्ञा ज्ञेया (?) ॥५॥

**गा० ६**—एकसामान्यापेक्षया कर्मत्वेन एकं कर्म। तु पुनः तत्कर्म द्विविधम्। पुद्गलानां ज्ञानावरणादीनां पिण्डसमूह; तत् द्रव्यकर्म। तच्छक्तिः रागादिपरिणामः, तत् भावकर्म ॥६॥

**गा० ७**—तत्कर्म पुनः अष्टविधं वा ८, अष्टचत्वारिंशच्छतं १४८ वा, असंख्यातलोकमात्रं वा। तेषां कर्मणां पुनः घाति इति संज्ञा, अघाति इति संज्ञा भवति। तत्कर्म ज्ञानावरणादिभेदेन अष्टविधं भवति। वा तत्कर्म प्रकृतिभावभेदेन अष्टचत्वारिंशच्छतं भवति। वा तत्कर्म असंख्यातलोकप्रमाणमिति समुच्चयार्थः। तेषां चाष्टविधानां पृथक् पृथक् घातिरिति, अघातिरिति च द्वे संज्ञे भवतः ॥७॥

**गा० ८**—ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं वेदनीयं मोहनीयं [आयुष्कं नाम गोत्रं] अन्तरायः [इति] अष्टौ मूलप्रकृतयः ज्ञातव्याः ॥८॥

**गा० ९**—ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयं अन्तराय एतानि चत्वारि घातिकर्माणि ज्ञातव्यानि। कस्मात्? जीवगुणघातनात्। तथा आयुर्नाम गोत्रं वेदनीयमिति अघातिकर्माणि[4] ज्ञातव्यानि ॥९॥

**गा० १०**—घाति-घातनात् दूरीकरणात् केवलज्ञानं केवलदर्शनं अनन्तवीर्यं क्षायिकसम्यक्त्वं

---

२. समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धः। (गो० क० टी०)। ३. सातिशयक्रियोपेतस्य आत्मनः सम्यक्त्वादिप्रवृत्तिलक्षणप्रयोगेन हेतुना एकादश [स्थानीय-] निर्जराविवक्षया अनेकसमयप्रबद्धो जीर्यते। (गो० क० टी०) ४. तथा जीवगुणघातकप्रकारेण न इत्यघातिसंज्ञानि। (गो० क० टी०)

चकारात् क्षायिकचारित्रं क्षायिकदान-लाभ-भोगोपभोगाः नव क्षायिकगुणा भवन्ति। मति-श्रुतावधि-मनः-पर्ययादय एते क्षायोपशमिकगुणाः। [क्षयात्] नाशनात् घातिघातनात् [क्षायिकगुणाः भवन्ति]। सर्वघातिस्पर्धकानां उदयाभावः क्षयः, तेषां सदवस्था उपशमः, देशघाति-स्पर्धकानां उदये सति क्षयोपशमः कथ्यते। [क्षयोपशमेन भवाः क्षायोपशमिकाः। मत्यादयः क्षायोपशमिकगुणाः कथ्यन्ते।] ॥१०॥

**गा० ११**—आयुःकर्मोदयः कर्मकृते मोहवर्धिते अनादियुक्ते एवंभूते संसारे चतुर्गतिषु जीवस्य अवस्थानं स्थितिं करोति। किंवत्? वर-हडिवत्। यथा हलिः छिद्रितकाष्ठविशेषः, हलिर्वा निगडः नरं पुरुषं अवस्थानं करोति; तथा आयुःकर्म जीवस्य संसारे स्थितिकारकं भवतीत्यर्थः। छिद्रवद्दारुविशेषः हलिरित्युच्यते ॥११॥

**गा० १२**—एतस्य नामकर्मणः त्रिनवतिप्रकृतयो भवन्ति। इदं तात्पर्यम्-तासु विषयेषु काश्चन प्रकृतयो जीवविपाकिन्यो भवन्ति, काश्चन प्रकृतयः पुद्गलविपाकिन्यः क्षेत्रविपाकिन्यो भवन्ति। चशब्दात् भवविपाकिन्यो भवन्ति। याः जीवविपाकिन्यः प्रकृतयः सन्ति, ताः अनेकप्रकारगत्यादिजीवभेदान् कुर्वन्ति। [याः पुद्गलविपाकिन्यः] प्रकृतयः सन्ति, ता औदारिकादिशरीर-संस्थान-संहननादिकानेकभेदान् कुर्वन्ति। याः क्षेत्रविपाकिन्यस्ताः वर्यानुपूर्वगतेः [चतस्रः आनुपूर्व्यः गतेः] सकाशात् अन्यत्र गत्यर्थाः। जीव-पुद्गल-[भव-] क्षेत्रविपाकिनामिति कथितम् ॥१२॥

**गा० १३**—सन्तानक्रमेण अनुक्रमेण परम्पराक्रमेण आगतजीवस्याचरणं गोत्रमिति सण्णा संज्ञा स्यात्। यत्र उच्चं चरणं भवेत्, तत्र उच्चं गोत्रम्; यत्र नीचं च भवति [तन्नीचगोत्रम्] ॥१३॥

**गा० १४**—अक्षाणां इन्द्रियाणां यदनुभवनं [५]अनुभूतिः तद्वेदनीयम्। यदिन्द्रियाणां सुखस्वरूपं तत्सातम्, यद्दुःखस्वरूपं तदसातम्। तत् सुख-दुःखं वेदयतीति वेदनीयम् ॥१४॥

**गा० १५**—अयं संसारी जीवः अर्थं पदार्थं पूर्वं दृष्ट्वा जानाति, पश्चात्, सप्तभङ्गीभिः वाणीभिः श्रद्दधाति, इत्यनेन प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं सम्यक्त्वं च [जीव] गुणाः भवन्ति। चशब्दात् वीर्यमपि गृह्यते। स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादस्तिनास्ति ३ स्यादवक्तव्यं ४ स्यादस्ति-अवक्तव्यं ५ स्यान्नास्ति-अवक्तव्यं ६ स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्यं ७ इति सप्तभङ्गी वाणी भगवतः ॥१५॥

**गा० १६**—खु स्फुटं सप्तभङ्गं द्रव्यं सम्भवति। केन ? आदेशवशेन पूर्वसूरिकथनवशेन। ते सप्तभङ्गाः के इति चेदुच्यते-स्याच्छब्दः प्रत्येकं अभिसंबध्यते-स्यादस्ति १ स्यान्नास्ति २ स्यादस्तिनास्ति ३ स्यादवक्तव्यं ४ स्यादस्ति अवक्तव्यं ५ स्यान्नास्ति-अवक्तव्यं ६ स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यम् ७ एते सप्त भङ्गाः ज्ञातव्याः। स्यात्कथंचित्प्रकारेण विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति १। स्यान्नास्ति-स्यात्कथंचित्प्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्त्यर्थः २। स्यादस्तिनास्ति-स्यात्कथञ्चिद् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्तिनास्तीत्यर्थः ३। स्यादवक्तव्यम्-स्यात्कथञ्चिद् विवक्षितप्रकारेण

५. विषयावबोधम्। (गो० क० टी०)

युगपद् वक्तुमशक्यत्वात् 'क्रमप्रवर्त्तिनी भारती' इति वचनाद् युगपत् स्व-परद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया द्रव्यमवक्तव्यमित्यर्थः ४। स्यादस्त्यवक्तव्यम्-स्यात्कथञ्चिद्विवक्षितप्रकारेण [स्वद्रव्यादि-चतुष्टयापेक्षया] जीवोऽस्तीति अवक्तव्यं द्रव्यापेक्षया इति ५। स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्-स्यात्कथञ्चिद्विवक्षित-प्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपत् स्व-परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया वा द्रव्यं नास्त्यवक्तव्यम् ६। स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्-स्यात्कथञ्चिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्व परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया युगपद्द्रव्यमस्ति नास्त्यवक्तव्यमित्यर्थः ७ ॥१६॥

**गा० १७**—अभ्यर्हित्वात् पूज्यत्वात् पूर्वं ज्ञानं भणितम्। ततो दर्शनं भवति, अतः सम्यक्त्वं भवति। वीर्यन्तु जीवाजीवेषु प्राप्तमिति हेतोः चरमे अन्ते पठितम् ॥१७॥

**गा० १८**—[घात्यपि] अन्तरायकर्म [अ-] घातिवद् ज्ञातव्यम्। कुतः ? निःशेषजीवगुणघातने अशक्यत्वात्, नाम-गोत्र-वेदनीय-निमित्तात् नाम-गोत्र-वेदनीयान्येव निमित्तं कारणं यस्य अन्तरायस्य; तस्मादघातिनां चरमे अन्ते पठितम् ॥१८॥

**गा० १९**—भवस्य संसारस्य आयुःकर्मबलेन स्थितिः भवति, नामकर्म आयुःपूर्वकं भवति। आयुः-कर्मपूर्वस्य नामकर्मणः। तत् पुनः गतिलक्षणभवं आश्रित्य नीचत्वं उच्चत्वं च गोत्रकर्मणः नामकर्मपूर्वकं कथितं नामकर्म पूर्वं यस्य गोत्रस्य तत् ॥१९॥

**गा० २०**—वेदनीयकर्म [अ-] घात्यपि मोहस्य कर्मणः बलेन उदयेन घातिवत् जीवस्य [गुणं] घातयति पीडयति इति हेतोः कारणात् घातिकर्मणां मध्ये मोहनीयस्यादौ वेदनीयं पठितम् ॥२०॥

**गा० २१**—अनुक्रमात् पतिं (पठितम्) इति पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धं पठितं कथितं वा ॥२१॥

**गा० २२**—एकस्मिन्नेकस्मिन् जीवप्रदेशे कर्मप्रदेशाः हु स्फुटं अन्तपरिहीना इति अनन्ता भवन्ति। एतेषां आत्म-कर्मप्रदेशानां सम्यक् [बन्धो] सम्बन्धो भवति। किंलक्षणो ज्ञातव्यः ? घननिविडभूतः- घनवत् लोहमुद्गरवन्निविडभूतः दृढतर इत्यर्थः ॥२२॥

**गा० २३**—जीवस्य विविधकर्मणा सह अनादिभूतः बन्धोऽस्ति। तस्य द्रव्यकर्मबन्धस्य [उदयेन] पुनः राग-द्वेषमयः भावः परिणामः जायते उत्पद्यते ॥२३॥

**गा० २४**—पुनरपि तेन राग-द्वेषमयेन भावेन अन्ये बहवः कर्मपुद्गलाः आत्मनः लगन्ति बन्धं प्राप्नुवन्ति। यथा घृतलिप्तगात्रस्य निविडा रेणवो लगन्ति तथा रागद्वेष क्रोधादिपरिणाम-स्निग्धावलिप्तात्मनः निघट (निविड) रजवो (रजसः रेणवो वा) लगन्ति इत्यर्थः ॥२४॥

**गा० २५**—'जीवे' इति शेषः। एकसमयेन यत्कर्म [बद्धं] तत्कर्म आयुकर्म विना ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रान्तरायभेदैः सप्तप्रकारैः परिणमनं करोति बन्धं प्राप्नोति। च पुनः यद् बद्धं आयुकर्म तद्भुक्तायुःशेषेण भुज्यमानायुस्त्रिभाग-त्रिभागानुक्रमेण [बन्धं प्राप्नोति।] ॥२५॥

कर्मभूमितिर्यग्मनुष्यायुर्बन्धविधिः—

सुर-णिरया णर-तिरिये छमास [सिट्ठगे] सगाउस्स।
णर-तिरिया सव्वाउगतिभागसेसे तु कम्मस्स ॥१॥
संसारसभावाणं जीवाणं जीवियाउ वसुवारं।
६ ५ ६ १
गयदोभाग तिगेकं छप्पणछहइगि-तिभंगदलं ॥२॥
२ १ ८ ७ ७ २ ९ २ ४ ३
इगिवीससयसत्तासी सत्तसयगुणतीस वेसय तेदालं
८ १ २ ७ ९ ३ १
पुण इक्कासी कहियं सगवीसं णव तिण्णिमेगं च ॥३॥

२ ३ ४ ५ ६ ७ ८

६५६१÷३=, २१८७÷३=७२९÷३=२४३÷३=८१÷ =२७÷३=९÷३=३÷१।

अनेनानुक्रमेणायुः कर्म बन्धं याति–

**गा० २६**—स बन्धः सूत्रे अनादिनिधनद्वादशाङ्गवाण्यां निर्दिष्टः सूत्रनिर्दिष्टः भवति। स पूर्वोक्तः कर्मबन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति। स कथम्भूतः ? जिनागमे कथितः। ते चत्वारो भेदाः के ? प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशबन्धाः। अयं भेदः पुरा पूर्वोक्तगाथासु (?) कथितः।

प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणं।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः ॥२६॥

**गा० २७**—पटो वस्त्रम्! प्रतिहारो द्वारपालः। असिः खड्गम्। मद्यम् [मदिरा] हडिः काष्ठ-विशेषः निगडः। चित्रम् चित्र वस्त्रं वा चित्रकारी पुरुषः कुलालः कुम्भकारः। भाण्डागारी कोषनियुक्तः पुमान्। यथा एतेषां भावाः, तथाविधानि कर्माणि ज्ञातव्यानि ॥२७॥

**गा० २८**—ज्ञानावरणं कर्म सूत्रनिर्दिष्टं पञ्चविधं भवति। दृष्टान्तमाह–यथा प्रतिमाया उपरि क्षिप्तं क्षेपितं प्रतिमोपरि क्षिप्तं कर्प्पटकं वस्त्रं आच्छादकं भवति ॥२८॥

**गा० २९**—पुनः दर्शनावरणं कर्म किं स्वभावम् ? यथा नृपद्वारे प्रतीहारः राजदर्शननिषेधको भवति, तथा दर्शनावरण-कर्म वस्तुदर्शननिषेधको भवति। तद्दर्शनावरणीयं कर्म नवप्रकारं स्फुटार्थवादिभिर्गणधरदेवैः सूत्रे सिद्धान्ते प्रोक्तम् ॥२९॥

**गा० ३०**—पुनः वेदनीयं कर्म द्विविधं भवति। कथम्भूतम् ? मधुलिप्तखड्गसदृशम्। तत्सातासातभेदप्राप्तं सत् जीवस्य सुख-दुःखं ददाति ॥३०॥

**गा० ३१**—मोहनीयकर्म आत्मानं मोहयति, यथा मदिरा पुरुषं मोहयति। [यथा वा मदनकोद्रवा पुरुषं मोहयन्ति।] तन्मोहनीयं कर्म अष्टाविंशतिभेदेन विभिन्नं जिनोपदेशेन ज्ञातव्यम् ॥३१॥

**गा० ३२**—आयुःकर्म चतुःप्रकारम्। किं लक्षणं आयुःकर्म ? नारकश्च तिर्यक् मनुष्यश्च सुरश्च ये तेषां गतिर्गमन पर्यायदायकम्। गम्यते यया सा गतिः, तस्याः गम्यं रोचनं (?) नारक-तिर्यङ्मनुष्यसुरगतिगं प्राप्तम्। कीदृशं आयुः ? हडिक्षिप्तपुरुषसदृशम्। पुनः कीदृशम् ? जीवानां भवधारणे समर्थं भवति ॥३२॥

**गा० ३३**—नामकर्म गति-जाति-शरीरादिकं त्रिनवतिसंख्यागणितम्। पुनस्तत् किम्भूतं नाम ? चित्रपटवत् विचित्रं भवति। पुनः किम्भूतं नामकर्म ? नानानामनि- [वर्तकं] उत्पादकं भवति ॥३३॥

**गा० ३४**—गोत्रकर्म कुलालसदृशं कुम्भकारतुल्यं वर्तते। कीदृशम् ? नीचोच्चकुलेषु उत्पादने दक्षं प्रवीणम्। घटरज्जनादिकरणे यथा कुम्भकारो निपुणः ॥३४॥

**गा० ३५**—यथा भाण्डागारिकः पुरुषः राजदत्तं धनं निवारयति तथा अन्तरायपञ्चक लब्धीनां निवारकं भवति ॥३५॥

**गा० ३६**—पञ्च नव द्वौ अष्टविंशतिः चत्वारि कर्माणि अनुक्रमेण त्रिनवतिः त्र्युत्तरशतं वा द्वे पञ्चकं उत्तरप्रकृतयो भवन्ति ॥३६॥

**गा० ३७**—आभिमुख-नियमितबोधनं आभिनिबोधकं भवति [तत्] अनिन्द्रियजं इन्द्रियजं बह्वादिअवग्रहादिककृतषट्त्रिंशद्-भेदम्। किंभूतं आभिनिबोधकमतिज्ञानम् ? अनिन्द्रियजं [मनोनिष्पन्नं] इन्द्रियजं पञ्चस्पर्शनादिकोत्पन्नम्। अवग्रहादिभेदाश्चत्वारः। अवग्रहः वस्तुदर्शनम्। ईहा तद्वस्तुज्ञातुमिच्छा। अवायः तद्वस्तुनिश्चयः। धारणा तद्वस्तुनः पुनरविस्मरणम्। एते भेदाः बहु १ अबहु २ बहुविध ३ अबहुविध ४ क्षिप्र ५ अक्षिप्र ६ निःसृत ७ अनिःसृत ८ उक्त ९ अनुक्त १० ध्रुव ११ अध्रुव १२ एतैः द्वादशभिः भेदैः गुण्यन्ते, तदा ४८ भेदा भवन्ति। पुनरेते भेदा पञ्चेन्द्रियैः मनसा च गुण्यन्ते, तदा अर्थावग्रहस्य २८८ भेदा भवन्ति। व्यञ्जनावग्रहस्य ४८ भवन्ति चक्षुर्मनोभेदरहितचतुरिन्द्रियैर्गुणिताः ४८ भेदा भवन्ति। एवं (२८८+४८=)३३६ भेदाः मतिज्ञानस्य भवन्ति। मतिज्ञानमावृणोतीति मतिज्ञानावरणीयम् ॥३७॥

**गा० ३८**—अर्थादर्थान्तरं येन उपलभ्यते तदाऽऽचार्याः श्रुतज्ञानं कथयन्ति। कीदृशं श्रुतज्ञानम् ? आभिनिबोधकपूर्वं श्रुतज्ञानं नियमेन शास्त्रप्रमुखं प्रधानम्। श्रुतज्ञानमावृणोतीति श्रुतज्ञानावरणीयम् ॥३८॥

**गा० ३९**—अवधीयते मर्यादीक्रियते इति अवधिः, सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये सिद्धान्ते। एको भवप्रत्ययोऽवधिः, एकश्च गुणप्रत्ययः, इत्येतद्द्विविधमवधिज्ञानं यदवधिज्ञा इदं ब्रुवन्ति कथयन्ति। अवधिज्ञानमावृणोतीति अवधिज्ञानावरणीयम् ॥३९॥

**गा० ४०**—चिन्तितं अचिन्तितं वा अर्धं चिन्तितं वा अनेकभेदगतं [परमनसि स्थितमर्थं] यज्जानाति, तन्मनःपर्यय इति ज्ञानमुच्यते। तत्स्फुटं नरलोके मनुष्यक्षेत्रे सार्धद्वयद्वीपे एव [भवति] न तत्परमिति। मनःपर्ययज्ञानमावृणोतीति मनःपर्ययज्ञानावरणीयम् ॥४०॥

**गा० ४१**—सम्पूर्णं पुनः समग्रं केवलं असपत्नं शत्रुरहितं सर्वभावगतं लोकालोके वितिमिरं प्रकाशकं केवलज्ञानं मुणेयव्वं ज्ञातव्यम्। केवलज्ञानमावृणोतीति केवलज्ञानावरणीयम् ॥४१॥

**गा० ४२**—मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानानि एतेषां आवरणं मतिज्ञानावरणीयं १ श्रुत-ज्ञानावरणीयं २ अवधिज्ञानावरणीयं ३ मनःपर्ययज्ञानावरणीयं ४ केवलज्ञानावरणीयं ५ इति पञ्चविकल्पं

पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणीयं कर्म जिनभणितं हे शिष्य, त्वं जानीहि ॥४२॥

**गा० ४३**—भावानामाकारं नैव कृत्वा अर्थात् पदार्थान् अविशेषयित्वा यत्सामान्यं ग्रहणं तत् समये सिद्धान्ते दर्शनमिति भण्यते ॥४३॥

**गा० ४४**—चक्षुषा नेत्रेण यत् प्रकाश्यते दृश्यते तच्चक्षुर्दर्शनं ब्रुवन्ति। शेषेन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां प्रकाशः स अचक्षुर्दर्शनमिति ज्ञातव्यः। चक्षुर्दर्शनमावृणोतीति चक्षुर्दर्शनावरणीयम्। अचक्षुर्दर्शनमावृणोतीति अचक्षुर्दर्शनावरणीयम् ॥४४॥

**गा० ४५**—परमाण्वादि द्रव्यं अन्तिमस्कन्धं त्रैलोक्यस्कन्ध [पर्यन्तं] इति मूर्त्तिद्रव्याणि तानि यत्प्रत्यक्षं पश्यति तदवधिदर्शनमिति। अवधिदर्शनमावृणोतीति अवधिदर्शनावरणीयम् ॥४५॥

**गा० ४६**—बहुविध-बहुप्रकाराः उद्योताः चन्द्रसूर्याग्निरत्नप्रमुखाः परिमिते क्षेत्रे सार्धद्वयद्वीपे [भवन्ति]। यः केवलदर्शनोद्योतः स लोकालोकवितिमिरः। केवलदर्शनमावृणोतीति केवल-दर्शनावरणीयम् ॥४६॥

**गा० ४७**—एतेषां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलालोकानां आवरणं दर्शनावरणीयं कर्म। इतः पञ्चनिद्रादर्शनावरणं प्रभणिष्यामः ॥४७॥

**गा० ४८**—अथ १. स्त्यानगृद्धिः २. निद्रानिद्रा ३. तथैव प्रचलाप्रचला ४. निद्रा ५. प्रचला च। एवं नवभेदं दर्शनावरणीयम् ॥४८॥

**गा० ४९**—स्त्यानगृद्धिनिद्रोदयेन उत्थापिते सत्यपि स्वपिति कर्म करोति जल्पति च। निद्रानिद्रोदयेन दृष्टिमुद्घाटयितुं न शक्नोति ॥४९॥

**गा० ५०**—प्रचलाप्रचलोदयेन [मुखात्] लाला वहन्ति अङ्गानि चलन्ति। निद्रोदये सति गच्छन् सन् तिष्ठति पुनः उपविशति पतति च ॥५०॥

**गा० ५१**—प्रचलोदयेन च जीवः ईषन्नेत्रे मीलयित्वा (उन्मील्य) स्वपिति सुप्तः सन् ईषदीषज्जानाति मुहुर्मुहुः मन्दं मन्दं स्वपिति ॥५१॥

**गा० ५२**—द्विविधं स्फुटं वेदनीयं सातमसातं वेदनीयमिति। पुनः द्विविकल्पं मोहं दर्शनमोहं चारित्रमोहमिति ॥५२॥

**गा० ५३**—बन्धादेकं मिथ्यात्वम् उदयं सत्तां प्रतीत्य आश्रित्य त्रिविधं स्फुटं दर्शनमोहं मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वप्रकृतिः इति त्वं जानीहि ॥५३॥

**गा० ५४**—यन्त्रेण कोद्रवः त्रिधा भवति प्रथमोपशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण मिथ्यात्वद्रव्यं त्रिधा भवति। कीदृशं? मिथ्यात्वद्रव्यं द्रव्यकर्मणः असंख्यातगुणहीनम्। मिथ्यात्वादसंख्यातगुणहीनं सम्यग्मिथ्यात्वं भवति सम्यग्मिथ्यात्वादसंख्यातगुणहीनं सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वं भवति ॥५४॥

**गा० ५५**—द्विविधं चारित्रमोहं कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीयं चेति द्विविधम्। प्रथमं षोडशविकल्पम् द्वितीयं नवभेदं उद्दिष्टं कथितम् ॥५५॥

**गा० ५६**—अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानं तथैव संज्वलनं क्रोधः मानः कापट्यं लोभः षोडश कषाया एते ॥५६॥

**गा० ५७**—शिला-पृथ्वीभेद-धूलि-जलराजिरेखासमानः क्रोधः नारकतिर्यङ्-मनुष्यामरगतिषु क्रमशः क्रमेण उत्पादकः ॥५७॥

**गा० ५८**—शिलाऽस्थि-काष्ठ-वेत्ररूपनिजभेदेन अनुहरन् अनुसरन् मानः नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु क्रमशः उत्पादकः ॥५८॥

**गा० ५९**—वेणुमूल-वंशमूल-उरभ्रशृङ्ग गोमूत्र-क्षुरप्रसदृशी माया नारक-तिर्यङ्-नरामरगतिषु जीवं क्षिपति ॥५९॥

**गा० ६०**—कृमिराग-चक्रमल-तनुमल-हरिद्रारागेन सदृशः लोभः नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवेषु क्रमशः उत्पादकः ॥६०॥

**गा० ६१**—सम्यक्त्वं घातयति अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानं देशव्रतं घातयति प्रत्याख्यानं महाव्रतं घातयति संज्वलनं यथाख्यातचारित्रं घातयति। कषायाश्चत्वारः षोडश असंख्यात-लोक-परिमाणाः सन्ति ॥६१॥

**गा० ६२**—हास्यं रतिः अरतिः शोकः भयं जुगुप्सा घृणा स्त्रीवेदः पुंवेदः तथा षण्ढवेदः एते नव नोकषाया ईषत्कषायाः ॥६२॥

**गा० ६३**—छादयति स्वं आत्मानं दोषैः नियतो निश्चयात् छादयति परं अन्यं अपि दोषेण। छादनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्णिता कथिता स्त्री।

श्रोणिमार्दव-भीरुत्व-मुग्धत्व-क्लीवता-स्तनाः।
पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रीनिवेदने॥१॥ ॥६३॥

**गा० ६४**—पुरुगुण-पुरुभोगान् शेते स्वामित्वेन प्रवर्तते, लोके पुरुः श्रेष्ठः गुणो यस्मिन्, तत् ईदृशं कर्म करोति, पुरुः उत्तमः, उत्तमे परमेष्ठिपदे शेते तिष्ठतीति पुरूत्तमः वा पुरुषोत्तमः यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः।

खरत्व-मेहन-स्तब्ध-शौण्डीर्य-श्मश्रु-धृष्टताः।
स्त्रीकामेन समं सप्तम लिङ्गानि नरवेदने ॥६४॥

**गा० ६५**—नैव स्त्री नैव पुमान् नपुंसकः उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः रहितः इष्टाग्निसमानः वेदनागुरुः कलुषचित्तः।

यानि स्त्री-पुरुषलिङ्गानि पूर्वोक्तानि चतुर्दश।
सूक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने॥३॥ ॥६५॥

**गा० ६६**—नारक-तिर्यङ्-नरामरलक्षणं आयुःकर्म चतुर्विधं भवेत्। नामकर्म द्वाचत्वारिंशत्प्रभं

पिण्डापिण्डभेदेन ॥६६॥

**गा० ६७—**नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगति इति गतिनामपिण्डप्रकृतिश्चतुर्धा वर्तते। एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदेन जातिनामपिण्डप्रकृतिः पञ्चप्रकारा ॥६७॥

**गा० ६८—**औदारिक-वैक्रियिकाऽऽहारक-तैजस-कार्मणभेदेन शरीरनाम पञ्चविधम् [इति] तेषां शरीराणां विकल्पान् विजानीहि ॥६८॥

**गा० ६९—**त्रिके औदारिक-वैक्रियिकाऽऽहारके तैजसकार्मणाभ्यां कृतसंयोगे सति चतस्रः चतस्रः प्रकृतयो भवन्ति। तैजस-कार्मणेन कृतसंयोगे सति द्वे प्रकृती भवतः। कार्मणं कार्मणेन कृतसंयोगे सति एका प्रकृतिर्भवति। एवं शरीरस्य पञ्चदश भेदा भवन्ति। [तद्यथा—]

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| औ | औ औ | औ तै | औ का | औ तै का |
| वै | वै वै | वै तै | वै का | वै तै का |
| आ | आ आ | आ तै | आ का | आ तै का |
| तै | तै तै | तै का | | |
| का | का का | | | |

नामकर्मत्रिनवतिमध्ये पुनरुक्तशरीरपञ्चकं च विना शरीरदशकं मिलितं चेदेतानि [१०३] ॥६९॥

**गा० ७०—**पञ्च शरीरबन्धनं नामकर्म-औदारिकबन्धनं वैक्रियिकबन्धनं आहारकबन्धनं तैजस-बन्धनं कार्मणबन्धनं इति पञ्चविधं बन्धननामकर्म ॥७०॥

**गा० ७१—**पञ्चसंघातनामकर्म-औदारिकसंघातः वैक्रियिकसंघातः आहारकसंघातः तैजससंघातः कार्मणसंघातः इति पञ्च संघातनामकर्म ॥७१॥

**गा० ७२—**समचतुरस्रसंस्थानं न्यग्रोधसंस्थानं स्वातिकसंस्थानं कुब्जकसंस्थानं वामनसंस्थानं हुण्डकसंस्थानं इति संस्थानं षड्भेदं निर्दिष्टं जिनागमे जानीहि हे शिष्य ॥७२॥

**गा० ७३—**औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियिकाङ्गोपाङ्गं आहारकाङ्गोपाङ्गं इति भणितं अङ्गोपाङ्गं त्रिविधं परमागमकुशलसाधुभिः ॥७३॥

**गा० ७४—**पादयोर्नालिके २ बाहू २ तथा नितम्बः ५ पृष्ठी ६ उरः शीर्षः मस्तकं ८ अष्टौ अङ्गानि देहे [भवन्ति] शेषाः उपाङ्गानि ॥७४॥

**गा० ७५-७६—**द्विविधं विहायो नाम-प्रशस्तगमनं अप्रशस्तगमनमिति नियमान्निश्चयात्।

वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननं तथा अर्धनाराचसंहननं कीलकसंहननं असम्प्राप्ता-सृपाटिकासंहननमिति संहननं षड्विधं अनादिनिधनाऽऽर्षे भणितम् ॥७५-७६॥

**गा० ७७—**यस्य कर्मण उदये वज्रमयं अस्थि ऋषभं नाराचं तत् संहननं भणितं वज्रर्षभनाराचं नामेति ॥७७॥

**गा० ७८**—यस्योदये वज्रमयं अस्थि, नाराचं सामान्यं एव, तत्संहननं नाम्ना वज्रनाराचमिति ॥७८॥

**गा० ७९**—यस्योदये वज्रमयाः हड्डाः वज्ररहितं नाराचं ऋषभश्च तत् नाराचशरीरसंहननं भणितव्यम् ॥७९॥

**गा० ८०**—वज्रविशेषणरहितानि अस्थीनि अर्धनाराचं च यस्योदये [भवन्ति] तत् भणितं नाम्ना अर्धनाराचम् ॥८०॥

**गा० ८१**—यस्य कर्मण उदये वज्ररहितहड्डाः कीलिता इव दृढबन्धनाः भवन्ति, स्फुटं तत् कीलकनामसंहननम् ॥८१॥

**गा० ८२**—यस्य कर्मण उदये अन्योन्यासम्प्राप्तहड्डसन्धयः नरशिराबद्धाः भवन्ति, तत् स्फुटं असम्प्राप्तासृपाटिकसंहननं भवेत् ॥८२॥

**गा० ८३**—असृपाटिकेन गम्यते आदितश्चतुःकल्पयुगलान्तम्। ततः परं द्वियुगले द्वियुगले कीलकनाराचार्धनाराचान्ताः [गच्छन्ति] ॥८३॥

**गा० ८४**—ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरविमानवासिषु यान्ति ते नियमात् त्रिद्विकैकसंहननाः नाराचादिकाः क्रमशः ॥८४॥

तेषां स्वर्गादिगमनरचनेयम्—

| नाम | कल्पसंख्या | संह. | जी. |
|---|---|---|---|
| अनु. | ५ | १ | पु. |
| अनुदि. | ९ | २ | पु. |
| ग्रैवे. | ९ | ३ | पु. |
| १६ स्वर्गपटलानि | १ १ | ४ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ४ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ५ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ५ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ६ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ६ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ६ | स्त्री. पु. |
| | १ १ | ६ | स्त्री. पु. |

**गा० ८५**—संज्ञी षट्संहननयुक्तः व्रजति गच्छति मेघान्तम्। ततः परं चापि असृपाटिकारहिताः पञ्च पञ्च–चतुरेकसंहननाः व्रजन्ति ॥८५॥

**गा० ८६**—घम्मा वंशा मेघा अञ्जना अरिष्टा तथैव ज्ञातव्या षष्ठी मघवी पृथ्वी, सप्तमी माघवी नाम ॥८६॥

एतासु गमनरचनेयम्—

| पृ. | संह. |
|---|---|
| घम्मा | ६ |
| वंशा | ६ |
| मेघा | ६ |
| अंज. | ५ |
| अरि. | ५ |
| मघ. | ४ |
| माघ. | १ |

**गा० ८७**—मिथ्यात्वापूर्वद्विकादिषु सप्त-चतुः-पञ्चस्थानेषु नियमेन प्रथमादिषट्त्र्येकगुणस्थानेषु ओघे। [अयमर्थः—] मिथ्यात्वादिसप्तगुणस्थानेषु षट्संहननयुक्ताः जीवा यान्ति। चतुर्षु उपशमश्रेणिषु वज्रर्षभनाराच-वज्रनाराच-नाराचसंहननानि यान्ति। पञ्चक्षपकेषु एको वज्रर्षभनाराचसंहनन एव गच्छति।

गुणस्थानेषु रचनेयम्—

| | संह. | संह. | संह. |
|---|---|---|---|
| | ६ | ३ | १ |
| | गुण. | गुण. | गुण. |
| गुणस्थानानि | १ | ८ | ८ |
| | २ | ९ | ९ |
| | ३ | १० | १० |
| | ४ | ११ | १२ |
| | ५ | | |
| | ६ | | १३ |
| | ७ | | |

आदेशे [मार्गणास्थानेषु] विशेषतो ज्ञेयानि ॥८७॥

**गा० ८८**—विकलचतुष्के द्वीन्द्रिये त्रीन्द्रिये चतुरिन्द्रिये असंज्ञि पञ्चेन्द्रिये च षष्ठं संहननं भवति। असंख्यातायुर्युक्तेषु जीवेषु प्रथमं संहननं भवति। [अवसर्पिण्याः] चतुर्थकाले षट्संहननानि भवन्ति।

पञ्चमकाले त्रीणि संहननानि भवन्ति। षष्ठे काले एकं [सृपाटिकं] संहननं भवति ॥८८॥

**गा० ८९**—सर्वविदेहेषु तथा विद्याधर-म्लेच्छमनुष्य-तिर्यक्षु षट् संहननानि भणितानि। नागेन्द्र-पर्वतात्परतः तिर्यक्षु षट् संहनानि सन्ति ॥८९॥

**गा० ९०**—अन्तिमत्रिकसंहनननानां उदयः पुनः कर्मभूमिस्त्रीणाम्। आदिमत्रिकसंहननानि तत्स्त्रीणां न सन्तीति जिनैर्निर्दिष्टं कथितम् ॥९०॥

**गा० ९१**—पञ्च च वर्णाः-श्वेतं पीतं हरितं रक्तं कृष्णं वर्णमिति। गन्धं द्विविधं लोके सुगन्ध-दुर्गन्धमिति जानीहि ॥९१॥

**गा० ९२**—तिक्तं कटुकं कषायमाम्लं मधुरमिति एतानि पञ्च रसनामानि। मृदु-कोमल-कर्कश-गरिष्ठ-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाः एते अष्टौ स्पर्शाः ॥९२॥

**गा० ९३**—स्पर्शः अष्टविकल्पः। चतस्रः आनुपूर्व्यः अनुक्रमेण जानीहि-नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगत्यानुपूर्वी चेति ॥९३॥

**गा० ९४**—एताः चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः वर्णिताः कथिताः संक्षेपेण। अतोऽग्रे अपिण्डप्रकृतयः अष्टाविंशतिं वर्णयिष्यामि कथयिष्यामि ॥९४॥

**गा० ९५**—अगुरुलघुकं उपघातं परघातं पुनः जानीहि उच्छ्वासं आतपं उद्योतं षट् प्रकृतयः अगुरुषट्कमिति ॥९५॥

**गा० ९६**—मूलोष्णप्रभः अग्निः आतपः भवति उष्णसंयुक्तप्रभः। आदित्ये तिरिश्च उष्णप्रभा रहित उद्योतः ॥९६॥

**गा० ९७**—त्रस-स्थावरं पुनः बादर-सूक्ष्मं पर्याप्तं तथा अपर्याप्तं प्रत्येकशरीरं पुनः साधारणशरीरं स्थिरं अस्थिरम् ॥९७॥

**गा० ९८**—शुभनाम अशुभनाम सुभगनाम दुर्भगनाम सुस्वरनाम दुःस्वरनाम तथैव ज्ञातव्याः आदेयनाम अनादेयनाम यशःकीर्तिनाम अयशस्कीर्त्तिनाम निर्माणनाम तीर्थकरनाम ॥९८॥

**गा० ९९**—त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्त्ति-निर्माण-तीर्थ-करमिति एताः त्रसद्वादशप्रकृतयः ॥९९॥

**गा० १००**—स्थावरं सूक्ष्मं अपर्याप्तं साधारणशरीरं अस्थिरं अशुभं दुर्भगं दुःस्वरं अनादेयं अयशस्कीर्तिः इति स्थावरदशकम् ॥१००॥

**गा० १०१**—इति नामप्रकृतयः त्रिनवतिः। उच्चं नीचं इति द्विविधं गोत्रकर्म भणितं कथितम्। पञ्चविधं अन्तरायकर्म ॥१०१॥

**गा० १०२**—तथा दानं लाभः भोगः उपभोगः वीर्यम्, एतेषु अन्तरायमिति पञ्चविधं ज्ञेयम्। इति सर्वोत्तरप्रकृतयः अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमाः भवन्ति ॥१०२॥

**गा० १०३—**देहे अविनाभाविन्यः पञ्च बन्धनानि पञ्च संघाताः इति अबन्धोदयाः। वर्णचतुष्के अभिन्ने भेदरहिते गृहीते सति चतस्रः प्रकृतयो बन्धोदयाः सन्ति। यः येन विना न भवति स अविनाभावी इत्युच्यते। बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयौ, न बन्धोदयौ यासां ताः अबन्धोदयाः। अष्टाविंशतिः प्रकृतयः बन्धेऽपि न उदयेऽपि न सन्ति ॥१०३॥

**गा० १०४—**वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः चत्वारः चत्वारः एकः सप्त सम्यग्मिथ्यात्वं भवन्ति। एताः अबन्धाः बन्धनानि पञ्च पञ्च संघाताः सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वम् ॥१०४॥

**गा० १०५—**पञ्च नव द्वे षड्विंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः द्वे पञ्च च भणिता एता बन्धप्रकृतयः ॥१०५॥

**गा० १०६—**पञ्च नव द्वे अष्टाविंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः द्वे पञ्च च भणिता एता उदय-प्रकृतयः ॥१०६॥

**गा० १०७—**भेदबन्धे षट्चत्वारिंशदधिकं शतम् १४६। अभेदबन्धे विंशत्यधिकं शतम् १२०। भेदोदये सर्वाः १४८ उदयरूपाः प्रकृतयः। द्वाविंशत्यधिकं शतं १२२ अभेदोदये ॥१०७॥

**गा० १०८—**क्रमेण ५। ९। २। २८। ४। ९३। २। ५ एताः सत्ताप्रकृतयः भणिताः ॥१०८॥

**गा० १०९—**केवलज्ञानावरणं दर्शनषट्कं-पञ्च निद्रा केवलदर्शनं-कषायद्वादशकं-अनं० ४ अप्र० ४ प्रत्या० ४ मिथ्यात्वं च सर्वघाति। सम्यग्मिथ्यात्वं अबन्धे [सर्वघाति] ॥१०९॥

**गा० ११०—**ज्ञानावरणचतुष्कं-म० श्रु० अ० म०-त्रीणि दर्शनानि सम्यक्त्वप्रकृतिः संज्वलनं ४ नव नोकषायाः अन्तरायाः ५ [एताः] २६ देशघातिन्यः ॥११०॥

**गा० १११-११२—**साता त्रीण्यायूंषि उच्चगोत्रं मनुष्यगतिः मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगतिः तदानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियत्वं शरीराणि पञ्च बन्धनानि पञ्च संघाताः पञ्च अङ्गोपाङ्गानि [त्रीणि] वर्णचतुष्कं, समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचं उपघातोनागुरुषट्कं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसद्वादशकं (त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरादेय-यशःकीर्त्तिनिर्माण-तीर्थकराणि) [भेदत] अष्टषष्टिः ६८। द्वाचत्वारिंशत् अभेदतः प्रशस्ताः पुण्यप्रकृतयः ॥१११-११२॥

**गा० ११३-११४—**घातीनि सर्वाण्यप्रशस्तान्येवेति तानि सप्तचत्वारिंशत्। नीचैर्गोत्रं असातवेदनीयं नरकायुष्यं नरकगति-तदानुपूर्व्ये तिर्यग्गति-तदानुपूर्व्ये एकेन्द्रियादिचतुर्जातयः न्यग्रोधपरिमण्डलादिपञ्च-संस्थानानि वज्रनाराचादिपंचसंहननानि अशुभवर्णगन्धरसस्पर्शाः उपघातः अप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरदशकम् (स्थावर-सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणास्थिराशुभ-दुर्भग-दुःस्वरानादेयायशः कीर्त्तयः) इत्येताः अप्रशस्ताः बन्धोदयौ प्रति क्रमेण भेदविवक्षायामष्टनवतिः शतं च भवन्ति। अभेदविवक्षायां द्वयाशीतिश्चतुरशीतिश्च भवन्ति ॥११३-११४॥

**गा० ११५—**अनन्तानुबन्धिनः सम्यक्त्वं घातयन्ति अप्रत्याख्यानकषायाः देशचारित्रं घातयन्ति

प्रत्याख्यानकषाया: सकलचारित्रं घातयन्ति संज्वलनकषाया: यथाख्यातचारित्रं घातयन्ति तेन गुणनामानो भवन्ति। अनन्तसंसारकारणत्वात् मिथ्यात्वमनन्तं तद् बध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिन:। अप्रत्याख्यानं ईषत्संयम:, तं कषन्तीति अप्रत्याख्यानकषाया:। प्रत्याख्यानं सकलसंयम: तं कषन्तीति प्रत्याख्यानकषाया:। सम् एकीभूय ज्वलन्ति संयमेन सहावस्थानात् संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलना: त एव यथाख्यातं कषन्तीति संज्वलनकषाया:। एवं शेषनोकषायज्ञानावरणादीन्यप्यन्वर्थसंज्ञानि भवन्ति ॥११५॥

**गा० ११६—**उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकाल:। स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्त्त: प्रत्याख्यानावरणानामेकपक्ष: अप्रत्याख्यानावरणानां षण्मासा: अनन्तानुबन्धिनां संख्यातभवोऽसंख्यात-भवोऽनन्तभवो वा भवति नियमेन ॥११६॥

**गा० ११७—**देहादि-स्पर्शान्ता: ५० पञ्चशरीर-पञ्चबन्धन-पञ्चसंघात-षट्संस्थान-त्र्यङ्गोपाङ्ग-षट्संहनन-पञ्चवर्ण-द्विगन्ध-पञ्चरस-स्पर्शाष्टकमिति पञ्चाशत निर्माणं आतपोद्योतौ स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-प्रत्येकसाधारणानि अगुरुलघूपघातपरघाताश्चेति द्वाषष्टि: पुद्गलविपाकीनि भवन्ति पुद्गले एव एषां विपाकित्वात् ॥११७॥

**गा० ११८—**चत्वारि आयूंषि भवविपाकीनि चतस्र: आनुपूर्व्य: क्षेत्रविपाकिन्य: अवशिष्टा: अष्टसप्तति: जीवविपाकिन्य: नरकादि जीवपर्यायनिर्वर्तनहेतुत्वात् ॥११८॥

**गा० ११९—**वेदनीयद्वयं गोत्रद्वयं घातिसप्तचत्वारिंशत् नामसप्तविंशतिश्चेति अष्टसप्तति-र्जीवविपाकिन्य: प्रकृतय: ॥११९॥

**गा० १२०—**तीर्थङ्करं उच्छ्वास: बादर-सूक्ष्म-पर्याप्तापर्याप्त-सुस्वरदु:स्वरादेयानादेय-यश:कीर्त्य-यश:कीर्त्ति-त्रसस्थावर-प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति-सुभग-दुर्भग-चतुर्गतय: पञ्च जातयश्चेति सप्तविंशति: नामप्रकृतय: जीवविपाकिन्य: ॥१२०॥

**गा० १२१—**चतुर्गतय: पञ्चजातय: उच्छ्वास: विहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्तयुगलानि सुभग-सुस्वरादेय-यश:कीर्त्तियुगलानि तीर्थकरं चेत्यथवा नाम सप्तविंशति: ॥१२१॥

**गा० १२२—**उत्कृष्ट: स्थितिबन्ध: कोटीकोटिसागरोपमाणि ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायवेदनीयेषु त्रिंशत्। नाम-गोत्रयो: विंशति:। मोहनीये सप्तति:। आयुषि शुद्धानि कोटीकोटिविशेषणरहितानि सागरोपमाण्येव त्रयस्त्रिंशत्। अत्र शुद्धविशेषणं कोटीकोटिव्यवच्छेदार्थम् ॥१२२॥

**गा० १२३—**उत्कृष्टस्थितिबन्ध: असातवेदनीय-ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायविंशते: ओघ: मूलप्रकृतिवत्-त्रिंशत्कोटीकोटिसागरोपमाणि। सातावेदनीय-स्त्रीवेद-मनुष्यद्विकेषु तदर्धम्-पञ्चदश-कोटीकोटिसागरोपमाणि। दर्शनमोहे-मिथ्यात्वे बन्धे एकविधत्वात् तत्र सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमाणि। चारित्रमोहनीय-षोडशकषायेषु चत्वारिंशत्कोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२३॥

**गा० १२४—**संस्थान-संहननानां चरमसंस्थान-संहननस्य मूलप्रकृतिवद् विंशतिकोटि-

कोटिसागरोपमाणि। शेषसंस्थान-संहनननानां समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभनाराचसंहननपर्यन्तं द्वि-द्विकोटिसागरोपमविहीन ओघः। विकलत्रयाणां सूक्ष्मत्रयाणां चाष्टादशकोटिकोटिसागरोपमाणि ॥१२४॥

**गा॰ १२५-१२६—**अरति-शोक-षण्ढवेद-तिर्यग्द्विक-भयद्विक-नरकद्विक-तैजस-द्विकौदारिक-द्विक-वैक्रियिकद्विकातपद्विक-नीचैर्गोत्र-त्रसचतुष्क-वर्णचतुष्का-गुरुलघुचतुष्केकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-स्थावर-निर्माणासद्गमना-स्थिरषट्कानां विंशतिकोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२५॥

**गा॰ १२७—**हास्य-रत्युच्चैर्गोत्र-पुंवेद-स्थिरषट्क-प्रशस्तगमन-देवद्विकानां तस्यार्धं दश-कोटीकोटिसागरोपमाणि। आहारकद्वय-तीर्थकृतोः अन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणि ॥१२७॥

**गा॰ १२८—**सुर-नरकायुषोः ओघः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। तिर्यङ्मनुष्यायुषोः त्रीणि पल्योपमानि। अयमुत्कृष्टस्थितिबन्धः संज्ञिपर्याप्तस्यैव असंज्ञ्यन्तानामग्रे प्ररूपणात्। योग्ये इत्यनेन अयं संसार-कारणत्वादशुभत्वात् शुभाशुभकर्मणां चातुर्गतिकसंक्लिष्टैरेव बध्यत इत्यर्थः ॥१२८॥

**गा॰ १२९—**आयुस्त्रयवर्जितशुभाशुभप्रकृतीनां उत्कृष्टस्थितिकारणं संक्लेश एवेत्याह-तु पुनः तिर्यङ्मनुष्य-देवायुर्वर्जितसर्वप्रकृतिस्थितीनां उत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टसंक्लेशेन भवति। तु पुनः तासां जघन्यस्थितिबन्ध उत्कृष्टविशुद्धिपरिणामेन भवति। तत्त्रयस्य तु उत्कृष्टं उत्कृष्टविशुद्धिपरिणामेन जघन्यः तद्विपरीतेन भवति ॥१२९॥

**गा॰ १३०—**आहारकद्विकं तीर्थं देवायुश्चेति चत्वारि मुक्त्वा ११६ प्रकृतिसर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिरेव बन्धको भणितः। तच्चतुर्णां तु सम्यग्दृष्टिरेव ॥१३०॥ तत्रापि विशेषमाह—

**गा॰ १३१—**देवायुः उत्कृष्टस्थितिकं प्रमत्त एवाप्रमत्तगुणस्थानाभिमुखो बध्नाति अप्रमत्ते तद्व्युच्छित्तावपि तत्र सातिशये तीव्रविशुद्धत्वेन तदबन्धात्, निरतिशये च तदुत्कृष्टासम्भवात्। तु पुनः आहारकद्वयं उत्कृष्टस्थितिकं अप्रमत्तः प्रमत्तगुणस्थानाभिमुखः संक्लिष्ट एव बध्नाति, आयुस्त्रयवर्जितानां उत्कृष्टस्थितेः उत्कृष्टसंक्लेशेन इत्युक्तत्वात्। तीर्थकरं उत्कृष्टस्थितिकं नरकगतिगमनाभिमुखमनुष्यासंयत-सम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति ॥१३१॥

शेषाणां ११६ उत्कृष्टस्थितिबन्धकमिथ्यादृष्टीनां गाथाद्वयेनाह—

**गा॰ १३२-१३३—**नरक-तिर्यङ्-मनुष्यायूंषि वैक्रियिकषट्कं विकलत्रयं सूक्ष्मत्रयं चोत्कृष्ट-स्थितिकानि नराः तिर्यञ्चश्च बध्नन्ति, औदारिकद्वयं तिर्यग्द्वयोद्योतासम्प्राप्तासृपाटिकसंहनननानि सुर-नारका एव, एकेन्द्रियातप-स्थावराणि पुनः देवाः, शेषद्वानवति उत्कृष्टसंक्लिष्टा ईषन्मध्यमसंक्लिष्टाश्च चातुर्गतिकाः। उक्कस्सट्ठिदिबंधपाओग्ग-असंखेज्जलोगपरिणामाणं पलिदोवमस्स असंखेज्जभागमेत्ताणि खंडाणि कादूण तत्थ चरमखंडस्स उक्कस्ससंकिलेसो णाम, पढमखंडस्स ईसिसंकिलेसो णाम, दोण्हं विच्चालखंडाणं मज्झिमसंकिलेसो णामेत्ति उच्चदि ॥१३२-१३३॥

**गा॰ १३४—**जघन्यस्थितिबन्धो वेदनीये द्वादश मुहूर्त्ताः, नाम-गोत्रयोरष्टौ शेषपञ्चानां तु पुनः

एकैकोऽन्त-र्मुहूर्त्तः ॥१३४॥

**गा० १३५**—लोभस्य सूक्ष्मसाम्परायबन्धसप्तदशानां च जघन्यस्थितिबन्धः मूलप्रकृतिवद् भवति क्रोधस्य द्वौ मासौ मानस्य एकमासः मायाया अर्धमासः पुंवेदस्य अष्टवर्षाणि ॥१३५॥

**गा० १३६**—तीर्थकराहाकद्विकयोरन्तःकोटीकोटिसागरोपमाणि। अयं जघन्यस्थितिबन्धः सर्वोऽपि क्षपकेषु स्व-स्वबन्धव्युच्छित्तिकाले एव नियमाद् भवति। तद्यथा-आसां तीर्थकराहारक-शरीराहारकाङ्गोपाङ्गानां बन्धविच्छित्ति-स्थानं अष्टमगुणस्थानकषष्ठमभागः तत्र जघन्यस्थितिबन्धः। दशमगुणस्थाने लोभस्य जघन्यस्थितिबन्धः अन्तर्मुहूर्त-कालः। सूक्ष्मसाम्पराये ज्ञानावरणपञ्चकं ५ अन्तरायपञ्चकं ५ चक्षुरादिदर्शनचतुष्कं ४ एतासां चतुर्दशप्रकृतीनां अन्तर्मुहूर्त्तकालः जघन्यस्थितिबन्धः। तथा सूक्ष्मसाम्पराये यशस्कीर्त्तिरुच्चगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता जघन्यस्थितिबन्धः सातावेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः द्वादश मुहूर्ताः ॥१३६॥

**गा० १३७**—नर-तिर्यगायुषोर्जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तो भवति सुर-नारकायुषोः दशसहस्र-वर्षाणि ॥१३७॥

**गा० १३८**—उक्ताभ्यः २९ शेषप्रकृतीनां ९१ मध्ये वैक्रियिकषट्क-मिथ्यात्वरहितानां ८४ जघन्यस्थितिं बादरैकेन्द्रियपर्याप्तः तद्योग्यविशुद्ध एव बध्नाति स्व-स्वोत्कृष्टप्रतिभागेन त्रैराशिकविधाने नेत्यर्थः ॥१३८॥

**गा० १३९**—एकेन्द्रिया मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थितिमेकसागरोपमां बध्नन्ति द्वीन्द्रियाः पञ्चविंशति-सागरोपमाणि त्रीन्द्रियाः पञ्चाशत्सागरोपमाणि चतुरिन्द्रियाः शतसागरोपमाणि असंज्ञिनः सहस्रसागरोपमाणि, संज्ञिनः पर्याप्ता एव सप्ततिकोटीकोटिसागरोपमाणि। तज्जघन्यस्तु एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादीनां स्व-स्वोत्कृष्टात् पल्यासंख्येय-पल्यसंख्येयभागोनक्रमो भवति ॥१३९॥

**गा० १४०**—शुभप्रकृतीनां सातदीनां प्रशस्तानां विशुद्धिपरिणामेन असाताद्यप्रशस्तानां संक्लेशपरिणामेन च तीव्रानुभागबन्धो भवति। विपरीतेन संक्लेशपरिणामेन प्रशस्तानां विशुद्धिपरिणामेन च अप्रशस्तानां जघन्यानुभागबन्धो भवति ॥१४०॥

**गा०१४१**—घातिनां ज्ञान-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायाणां शक्तयः स्पर्धकानि लतादार्वस्थि-शैलोपम-चतुर्विभागेन तिष्ठन्ति खलु स्फुटम्। तत्र लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तं देशघातिन्यो भवन्ति। तत उपरि दार्वनन्तबहुभागमादिं कृत्वा अस्थि-शैलभागेषु सर्वत्र सर्वघातिन्यो भवन्ति ॥१४१॥

**गा० १४२**—लताभागमादिं कृत्वा दार्वनन्तैकभागपर्यन्तानि देशघातिस्पर्धकानि सर्वाणि सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवति शेषदार्वनन्तबहुभागेषु अनन्तखण्डीकृतेषु एकखण्डं जात्यन्तरसर्वघाति-मिश्रप्रकृतिर्भवति। शेषदार्वनन्तबहुभागभागाः अस्थि-शिलास्पर्धकानि च सर्वघातिमिथ्यात्व-प्रकृतिर्भवति ॥१४२॥

**गा० १४३**—अघातिनां प्रतिभागाः शक्तिविकल्पाः प्रशस्तानां गुड-खण्ड-शर्करामृतसदृशाः खलु स्फुटम्। अप्रशस्तानां निम्ब-काञ्जीर-विष-हालाहलसदृशाः खलु स्फुटम्। सर्वप्रकृतयः १२१। तासु घातिन्यः ४७ अघातिन्यः ७५। एतासु प्रशस्ताः ४२ अप्रशस्ताः ३३ अप्रशस्तवर्णचतुष्कमस्तीति तन्मिलिते ३७ भवन्ति ॥१४३॥

**गा० १४४**—श्रुत-तद्धरादिषु अविनयवृत्तिः प्रत्यनीकं प्रतिकूलतेत्यर्थः। ज्ञानविच्छेदकरणमन्तरायः। मनसा वाचा वा प्रशस्तज्ञानदूषणमध्येतृषु क्षुद्रबाधाकरणं वा उपघातः। तत्प्रदोषः तत्त्वज्ञाने हर्षाभावः। तस्य मोक्षसाधनस्य कीर्त्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरतोऽन्तःपैशुन्यं वा प्रदोषः। कुतश्चित्कारणात् जानन्नपि नास्ति, न वेद्मीति व्यपलपनमप्रसिद्धगुरून्नपलप्य प्रसिद्धगुरुकथनं वा निह्नवः। काय-वाग्भ्यामननुमननं कायेन वाचा वा परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनं वेत्यासादना। एतेषु षट्सु सत्सु जीवो ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं भूयो बध्नाति-प्रचुरवृत्या स्थित्यनुभागौ बध्नातीत्यर्थः। ते च षडपि तद्‌द्वयस्य युगपद् बन्धकारणानि तु तथा बन्धात्। अथवा विषयभेदादास्रवभेदः-ज्ञानविषयत्वेन ज्ञानावरणस्य दर्शनविषयत्वेन दर्शनावरणस्येति ॥१४४॥

**गा० १४५**—गतौ गतौ कर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूताः प्राणिनः तेष्वनुकम्पा। व्रतानि हिंसादिविरतिः। योगः समाधिः सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः। तैर्युक्तः। क्रोधादिनिवृत्तिलक्षणक्षान्त्या चतुर्विधदानेन पञ्चगुरुभक्त्या च सम्पन्नः स जीवः सातं तीव्रानुभागं भूयो बध्नाति। तद्विपरीतस्तादृगसातं बध्नाति ॥१४५॥

**गा० १४६**—दुःख-वध-शोक-तापाक्रन्दनं परिदेवनं च आत्मनि स्थितं अन्यस्थितं उभयस्थितमिति वा असाताया बन्धं करोति ॥१४६॥

**गा० १४७**—योऽर्हत्सिद्धचैत्य-तपो-गुरु-श्रुत-धर्म-संघप्रतिकूलः स तद्दर्शनमोहनीयं बध्नाति, येनोदयागतेन जीवोऽनन्तसंसारी स्यात् ॥१४७॥

**गा० १४८**—यः तीव्रकषाय-नोकषायोदययुतः बहुमोहपरिणतः राग-द्वेषसंसक्तः चारित्रगुण-विनाशनशीलः स जीवः कषाय-नोकषायभेदं द्विविधमपि चारित्रमोहनीयं बध्नाति ॥१४८॥

**गा० १४९**—यो जीवो मिथ्यात्वयुक्तः स्फुटं महारम्भः शीलरहितः तीव्रलोभसंयुक्तः रौद्रपरिणामः पापकारणबुद्धिः स नरकायुः निबध्नाति ॥१४९॥

**गा० १५०**—यो जीव उन्मार्गदेशकः सन्मार्गनाशकः गूढहृदयः मायी कपटी शठशीलः सशल्यः स तिर्यगायुः बध्नाति ॥१५०॥

**गा० १५१**—यो जीवः प्रकृत्या स्वभावेन तनुकषायः मन्दकषायोदयः दानरतिः दाने रतिः प्रीतिर्यस्य स एवम्भूतः शीलैः संयमेन च विहीनः मध्यमगुणैर्युक्तः स मनुष्यायुर्बध्नाति ॥१५१॥

**गा० १५२**—यः सम्यग्दृष्टिर्जीवः स केवलं सम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतैः महाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टिर्जीवः स उपचाराणुव्रत-महाव्रतैः बालतपसा अकामनिर्जरया च देवायुर्बध्नाति ॥१५२॥

**गा० १५३**—यो जीवो मनोवचनकायैर्वक्रः मायावी गारवत्रयप्रतिबद्धः स नरक-तिर्यग्गत्याद्यशुभं

नामकर्म बध्नाति। तत्प्रतिपक्षपरिणामैर्हि शुभं नामकर्म बध्नाति ॥१५३॥

**गा० १५४-१५७**—दर्शनविशुद्धिः विनयसम्पन्नता तथा शीलव्रतेष्वनतीचारः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः संवेगः शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिः तथैव ज्ञातव्यः। वैयावृत्यं क्रिया अर्हद्भक्तिराचार्यभक्तिः बहुश्रुतभक्तिः प्रवचने परमा भक्ति आवश्यकक्रियाऽपरिहाणिश्च मार्गप्रभावना प्रवचनवात्सल्यमिति जानीहि। एताभिः प्रशस्ताभिः षोडशभावनाभिः केवलिमूले समीपे तीर्थंकरनामकर्म कर्मभूमिजो मनुष्यः बध्नाति ॥१५४-१५७॥

**गा० १५८**—तीर्थंकरसत्कर्मा जीवः तृतीयभवे वा तद्भवे एव स्फुटं सिद्ध्यति। क्षायिकसम्यक्त्वी जीवः पुनः उत्कर्षेण चतुर्थभवे सिद्ध्यति ॥१५८॥

**गा० १५९**—योऽर्हदादिषु भक्तः सूत्रेषु गणधराद्युक्तागमेषु पठनानुमननगुरुदर्शी श्रद्धाध्ययनार्थविचार-विनयादिगुणदर्शी स जीव उच्चैर्गोत्रं बध्नाति। तद्विपरीतो नीचैर्गोत्रं बध्नाति ॥१५९॥

**गा० १६०**—परात्मनोः निन्दाप्रशंसे अन्येषां विद्यमानगुणानामाच्छानं स्वस्याविद्यमानगुणानां उद्भासनं प्रकटीकरणं च नीचगोत्रबन्धस्यास्रवहेतवः ॥१६०॥

**गा० १६१**—यः द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियादिप्राणिवधादिषु स्व-परकृतेषु प्रीतः जिनपूजाया रत्नत्रय-प्राप्तेश्च स्वान्ययोर्विघ्नकरः स जीवस्तदन्तरायकर्म अर्जयति येनोदयागतेन यदीप्सितं तन्न लभते ॥१६१॥
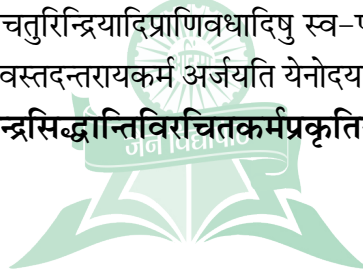
**इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिविरचितकर्मप्रकृतिग्रन्थः समाप्तः।**

## द्वितीयटीकागत-पद्यानुक्रमणी

**पण्डित श्री हेमराज विरचित हिन्दी टीकासहित**

# कर्मप्रकृति

**पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविहूसणं महावीरं।**
**सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं॥१॥**

अहं नेमिचन्द्राचार्यः प्रकृतीनां समुत्कीर्तनं वक्ष्ये–मैं जो हूँ नेमिचन्द्र आचार्य सो कर्मनिकी प्रकृतिनि वर्णन करूँगा। किं कृत्वा ? क्या करके ? नेमिं प्रणम्य नेमिनाथं तीर्थंकरं नमस्कृत्य–नेमिनाथ नाम के जो बाईसवें तीर्थंकर हैं, उन्हें प्रणाम करके। कथंभूतं नेमिं गुणरत्न–विभूषणं अनन्तज्ञानादिगुणास्तान्येव विभूषणानि यस्य–कैसे हैं नेमिनाथ ? अनन्तज्ञानादि जो गुण वे ही हैं आभूषण जिनके ऐसे हैं। पुनः किंभूतम् ? बहुरि कैसे हैं ? महावीरं महासुभटम्–महावीर कहिए महासुभट हैं। पुनः किंभूतम् ? बहुरि कैसे हैं ? सम्यक्त्वरत्ननिलयं स्थानम्–सम्यक्त्वरूप रत्न के निलय कहिए स्थान हैं।

प्रकृतिशब्देन किमिति प्रश्नः, तत्रोच्यते–प्रकृति कहा कहिए यह आगे की गाथा में दिखावे हैं–

**पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।**
**कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥२॥**

प्रकृतिः शीलः स्वभाव एते शब्दास्त्रय एकार्थवाचकाः सन्ति–प्रकृति शील अरु स्वभाव ये जो तीनों शब्द हैं सो एक ही अर्थकूं कहै हैं। स्वभावो हि स्वभाववन्तं अपेक्षते। स्वभावः प्रकृतिः स्वभाववन्तं जीवं इच्छति–स्वभाव जो है सो स्वभाववान की अपेक्षा करै है सो प्रकृतिनाम स्वभाव को है, वह स्वभाववान् जीव की अपेक्षा करै है। अत्र कश्चित्प्रश्नः करोति जीवः शुद्धश्चैतन्यः पुद्गलपिण्डस्तु जडः एतयोर्द्वयोः पृथक्–पृथक् लक्षणं वर्तते। एतौ द्वौ जीव–पुद्गलौ तस्मिन् कुतः मिलितौ ? यहाँ कोई शिष्य प्रश्न करे कि जीव तो शुद्धचैतन्यरूप है अरु पुद्गलपिण्ड जड अचेतन है। जब इन दोनों के लक्षण भिन्न–भिन्न हैं तब ये दोनों परस्पर कैसे मिलै हैं ? तत्र प्रश्नोत्तरमुच्यते–जीवाङ्गयोः सम्बन्धः अनादिः–ऊपर के प्रश्न का उत्तर कहिए है कि जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि है। एवं न वाच्यं जीव–पुद्गलौ प्रथमतः भिन्नौ भिन्नौ, पश्चात् मिलितौ। ऐसा नाहीं कि जीव अरु पुद्गल पहले भिन्न–भिन्न थे, पाछें आपस में मिले हैं। कस्मिन् कयोरिव ? कनकोपलयोर्मलवत्–यथा एकस्मिन् पाषाणे स्वर्णोपलौ सार्धमेवोत्पद्येते। पुनः सार्धमेव द्वयोर्मध्ये मलस्तिष्ठति। जैसे एक स्वर्णपाषाण में सोना अरु पाषाण दोनों साथ–साथ ही मिलि रहे हैं, ऐसा नाहिं कि सोना पहले खानिविषें था, पाछे आयकर पाषाण रूप मल मिली गया होय। अत्र कश्चिद् वदति–जीवकर्मणोऽस्तित्वं कथं ज्ञातम् ? तस्योत्तरं दीयते–इहाँ कोई प्रश्न करै है कि जीव अरु कर्म का अस्तित्व कैसे जानिए है, ताका उत्तर कहैं हैं–तयोरस्तित्वं स्वतः सिद्धम् ? केन ? दृष्टान्तेन–एकः दरिद्रः एकः श्रीमान् इति दृश्यते–जीव अरु कर्म

का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। किस दृष्टान्त करि ? जो कोई एक पुरुष दरिद्र देखिए है अरु कोई एक श्रीमान् देखिए है, तातें जीव अरु कर्म दोनों का अस्तित्व सिद्ध होय है। अहमिति प्रतीत्या आत्मनः अस्तित्वं प्रकटीभवति। यदि आत्मा पदार्थ एव न भवेत् तर्हि अहमिति ज्ञानमेव न स्यात्, तस्मादात्मनोऽस्तित्वं तिष्ठत्येव। अहं कहिए 'मैं हूँ' इस प्रतीति करि आत्मा का अस्तित्व प्रगट सिद्ध होय है। यदि आत्मा नाम का कोई पदार्थ ही न होय तो 'अहं' इस प्रकार का ज्ञान ही न होय। तातें आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

**देहोदएण सहिओ जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।**
**पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओ व्व जलं॥३॥**

देहोदयेन सहितः जीवः, देहः पञ्च औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणास्तेषामुदयेन प्रतिसमयं सर्वाङ्गैः कर्म नोकर्म आकर्षति। देह जो शरीरनामा नामकर्म सो पंच प्रकार है-औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, अरु कार्मण के भेद करि। सो तिनके उदय करि सहित जो यह जीव है सो प्रतिसमय अपने सर्व आत्म-प्रदेशनिकर कर्म अरु नोकर्म को ग्रहण करै है। किंवत् ? तप्तायःपिण्डं जलवत्। यथा तप्तलोहः सर्वाङ्गेण जलमाकर्षति तथा जीवः देहोदयेन कर्म आकर्षति। जैसे अगनिविषें खूब तपाया जो लोहे का पिण्ड सो सर्वांगकरि जल को खींचे है तैसे ही शरीर नामकर्म के उदय करि यह जीव सर्व आत्म-प्रदेशनिकरि कर्म को अपने भीतर आकर्षित करै है।

समये-समये जीवोऽयं [कियन्ति] कर्माण्याकर्षतीति प्रश्नः, तत्रोच्यते-समय-समय विषें यह जीव कितनेक कर्मनिकूं आकर्षित करै इस प्रश्न का उत्तर दीजिए है-

**सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।**
**समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं॥४॥**

सिद्धानन्तिमभागं सिद्धराशेरनन्तिमभागः-सिद्धजीवनिका जो प्रमाण है उनके अनन्तवें भागप्रमाण कर्मप्रदेशनिकूं यह जीव एक समयविषें बांधे है। पुनः अभव्य सिद्धादनन्तगुणमेव-अभव्यराशेरनन्तगुणम्। बहुरि अभव्य जीवनिका जो प्रमाण है, तिनतें अनन्तगुणें कर्मप्रदेशनिकूं एक समयविषें बांधे है। एतासां वर्गणानां समयप्रबद्धं बध्नाति-इतनी प्रमाण वर्गणानिके समुदायरूप समयप्रबद्ध को बांधे है। पुनः किंभूतं समयप्रबद्धम् ? विसदृशं आयुर्वर्जितसप्तकर्मजातिवर्गणासंयुक्तं बध्नाति। बहुरि कैसे समयप्रबद्ध को बांधे है ? विसदृश भी समयप्रबद्ध को बांधे है। जो समयप्रबद्ध बांधे है तिनि विषें आयुकर्म-रहित शेष जो सात कर्म-जातीय जो वर्गणा है तिनिकरि संयुक्त बांधे है। कस्मात् ? योगवशात् मनवचनकाय-योगात्-कैसे बांधे है ? योग जो मन वचन काय तिसके वशि करि यह जीव कर्मवर्गणानिकूं बांधे है।

**भावार्थ—**जितनी कछू संसार में अभव्यराशि है, तिसको जो अनन्तगुणा कीजे, तो सिद्धराशि को अनन्तमां भाग होय। अरु जो सिद्धराशि के अनन्तवें भाग को अनन्तमां भाग करिए तो अभव्य राशि

होय। तिसतें सिद्धराशि के अनन्तवें भाग अरु अभव्यसिद्धतें अनन्तगुणा ए दोऊ गिनती समान है। इस गिनती समान जो वर्गणा मिले तो एक समयप्रबद्ध कहिए। ऐसे समयप्रबद्ध को समय-समय विषें संसारी जीव निरन्तर बांधे है मन वचन काय इन तीनों योग के उदयतें।

इहां कोई प्रश्न करे है कै सिद्धराशि के अनन्तमें भाग अरु अभव्यराशि के अनन्तगुणें ए दोऊ गिनती समान है, तो दोनों बात गाथा में क्यों न कही ? ताको समाधान-संसारतें ज्यों-ज्यों जीव मुक्त होंय, त्यों-त्यों सिद्धराशि बढ़ती जाय हैं, त्यों ही सिद्धराशि को अनन्तमां भाग बढ़ै है, तातें सिद्धराशि को अनन्तमां भाग एक अनन्तता करि निश्चित नांही है, उत्कृष्ट होत जात है। अरु यह संसार में जो है अभव्यराशि सो ज्यों की त्यों रहै है। जातें इसमें कछू बढ़ती-घटती नाहीं हैं, तातें इसकी अनन्तगुणी अनन्तता निश्चित है, तातें यह ठीकता जाननी। अभव्यराशि को अनन्तगुणें करें तें जो अनन्तता होय, ताही प्रमाण वर्गणा को जघन्य समयप्रबद्ध जानना। या गिनती का अनन्ततातें समयप्रबद्ध की जघन्यता की मर्यादा है। या जघन्य समयप्रबद्धवर्गणा की अनन्ततातें आगे भूत भविष्यत् वर्तमानकाल की अपेक्षा करि सिद्ध के अनन्तवें भाग जितने अपने अनन्ते भेद लिये हैं जघन्य उत्कृष्ट मध्यम अनन्तता के भेदकरि तितने ही भेद समयप्रबद्ध के अनन्तता करि जानना। तातें अभव्यराशितें अनन्तगुणप्रमाण वर्गणानिको जघन्य समयप्रबद्ध, अरु भविष्यत् काल की अपेक्षा उत्कृष्ट सिद्ध राशि के अनन्तिम भागप्रमाण वर्गणानि को उत्कृष्ट समयप्रबद्ध है। मध्यम के अनन्ते भेदकरि मध्यम अनन्त जानना। समयप्रबद्ध की अनन्तता के दिखायवेकूँ ए दोऊ गिनती गाथा में कही।

समये समये कति निर्जरा भवति पुनः कति सत्ता तिष्ठति जीवस्य, तदेवोच्यते गाथया। जीव के प्रतिसमय कितनी निर्जरा होय और कितनी सत्ता रहे यह बात आगे की गाथा में दिखाइए है—

**जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेगसमयबद्धं वा।**
**गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं॥५॥**

अयं संसारी जीवः एकस्मिन् समये एकं समयप्रबद्धं सदा कालं निर्जरयति-यह जो है संसारी जीव सो एक-एक समयविषैं एक-एक समयप्रबद्ध सदा काल निर्जैरै है। प्रयोगतः एकस्मिन् समये अनेकसमयप्रबद्धं निर्जरयति-प्रयोग कहिए मन वचन काय की चंचलता की वृद्धितें उदीरणावश एक समय में अनेक समयप्रबद्धनिकूं निर्जैरै है। अग्रेऽर्धगाथायां कथयति—एवं सत्ता कियती तिष्ठति ? आगे आधी गाथा में कहै हैं कि इस प्रकार सत्ता कितनी रहै है ? तत्रोच्यते-द्व्यर्धगुणहानिमात्रं समयप्रबद्धं सत्त्वं भवेत्-द्व्यर्धगुणहानिमात्रसमयप्रबद्धस्य सत्तां जीवः करोति-यह जीव डेढ़ गुण हानिप्रमाण समयप्रबद्धनि की सत्ताकूं सदा धारण करै है।

औदारिक वैक्रियिक आहारक इनकी नाना गुणहानि को काल अन्तर्मुहूर्त है। तैजस कार्मणकी नाना गुणहानि का काल पल्य को असंख्यातमो भाग जानिबो। सबकी गुणहानि को काल एक समय

है। औदारिक शरीर की स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिक की तेतीस सागर, आहारक की अन्तर्मुहूर्त, तैजस की छयासठ सागर, कार्मण की उत्कृष्ट स्थिति सामान्यताकरि सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर। विशेषकरि ज्ञानावरणादिककी जुदी जानिबी। जिस कर्म की जितनी स्थिति है, तिस माफिक नाना गुणहानि अर्ध अरु गुणहानि हो है। द्व्यर्धगुणहानि को अर्थ कहियतु हैं–जो कर्म अनन्तवर्गणा के पुंजकरि समयप्रबद्धरूप बंध्यो, सो एक नानागुणहानिविषें आधो–आधो होय खिरे है। जितनी नाना गुणहानि हैं, ताहीतें इहको नाम द्व्यर्धगुणहानि कहिए। द्वि कहिए दोय, तिसको अर्धगुण कहिए आधा सो हानि कहिए ये घाटि होई। जितनी नाना–गुणहानि हैं तिनि विषें खिरे है, यह द्व्यर्धगुणहानि को अर्थ है। नाना गुणहानि को अर्थ कहिए है–[1]नाना कहिए अनेक प्रकार की है गुणहानि जा विषें, सो नाना गुणहानि कहिए है। गुणहानि कहा कहिए ? जो पहिले–पहिले समयहूतें अगले–अगले समयविषें कछू गिनतीकरि वर्गणा घाटि खिरें; सो गुणहानि कहिए। एक कर्मस्थिति की असंख्याती नानागुणहानि हैं, जातें नानागुणहानि को काल एक समय है। अन्तर्मुहूर्त अरु पल्य के असंख्यातवें भाग, इनके असंख्याते समय हैं तातें असंख्याती जाननी। आगे एही अर्थ अंकस्थापना की निसानी करि सिद्धान्तप्रमाण प्रकट लिखिए है–एक मोहनीयकर्म के उदयपर दृष्टान्तकरि दिखायतु हैं, तिसकी भाँति सब ऊपर जानियहु। मोहकर्म की स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है तिसकी स्थापना अबाधाकाल छोड़िके अड़तालीस ४८ समय कीजे। असंख्याती नानागुणहानि की छह ६ नानागुणहानि कल्पिए। एक–एक नानागुणहानिविषें आठ–आठ गुणहानि स्थापना कीजे। मोहनीयकर्म की अनन्तवर्गणा के समयप्रबद्ध की कल्पना त्रेसठिसै ६३०० वर्गणा कीजे ऐसी स्थापना कीजे समझने के वास्ते। पहिली गुणहानिविषें बत्तीससै ३२०० वर्गणा खिरैं। दूसरी–विषें १६०० तीसरेविषें ८०० चौथीविषें ४०० पाँचवींविषें २०० छठीविषें १००। इस भांति नानागुणहानि प्रति आधा–आधा कम होय खिरे है, यह द्व्यर्धगुणहानि है। पहिली नानागुणहानिविषें बत्तीससै वर्गणा किस भाँति खिरैं, यह बात कहिए है–

एक नाना गुणहानिविषें आठ गुणहानि हैं। तिनमें भिन्न–भिन्न किमी होय–होय खिरै हैं, तिन सबको जोड़ बत्तीससै हो है। सोई कहिए है–पहिली गुणहानिविषें ५१२ पाँचसै बारह खिरैं। आगे–आगे गुणहानिविषें बत्तीस–बत्तीस किमी होय खिरै हैं–४८०। ४४८। ४१६। ३८४। ३५२। ३२०। २८८। पहिली नानागुणहानिविषें इस भांति। गुणहानि–गुणहानिविषें आठ समयमें खिरे हैं। दूसरी गुणहानिविषें १६०० सोलहसै खिरै हैं। इसविषें पुनि आठ गुणहानि हैं। तहां पुनि भिन्न–भिन्न किमी होय खिरै हैं।

---

१. भाषा–वचनिकाकारने पाँचवीं गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि उन्हें गुणहानि और नानागुणहानि का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया था। परिणामस्वरूप उन्होंने निषेकको गुणहानि और एक गुणहानि को नानागुणहानि पद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्व्यर्धगुणहानि शब्द के अर्थ करने में विपर्यास हुआ है। इसलिए यह पूरा विवेचन विचारणीय हो गया है। इन दोनों गाथाओं का आगमानुकूल स्पष्टीकरण पाँचवीं गाथा के विशेषार्थ में संक्षेप से कर दिया गया है।

पहिली गुणहानिविषें २५६ खिरै हैं। आगे गुणहानिविषें सोलह-सोलह वर्गणा घटावणी। २४०। २२४। २०८। १९२। १७६। १६०। १४४। इस भाँतिसो अनुक्रम जानिबो। तीसरी नानागुणहानिविषें ८०० खिरै हैं। तिसकी आठ गुणहानिविषें पहिले १२८ एकसौ आठवीस खिरैं। पीछें आठ-आठ घटावने। १२०। ११२। १०४। ९६। ८८। ८०। ७२। इस भाँति चौथी नानागुणहानिविषें ४०० खिरैं। तिनकी आठगुणहानिविषें पहिले ६४ चौसठ खिरैं। पीछे चार-चार घटावने। ६०। ५६। ५२। ४८। ४४। ४०। ३६। पाँचवीं नानागुणहानिविषें २०० खिरैं। तिनकी आठ गुणहानिविषें पहिले ३२ खिरैं। पीछे दोय-दोय घटावने ३०। २८। २६। २४। २२। २०। १८। इस भाँति छठी नानागुणहानि में सौ १०० खिरे हैं। तिसकी आठ गुणहानिविषें पहिले सोलह १६ खिरें। आगे एक-एक घटावनें १५। १४। १३। १२। ११। १०। ९ इस भाँति सर्वकर्म की त्रेसठिसै वर्गणा छह स्थानकविषें आठ-आठ अन्तर भेद लिये अड़तालीस समयकी थितिनिविषें मोहनीयकर्म अबाधाकाल बिना पहिले समयतें लेकरि खिरै। इस ही भाँति और कर्म की भी वर्गणा निझैरै हैं। इस ही भाँति सिद्धान्तविषें कही है-जीव के समयप्रबद्ध की द्व्यर्धगुणहानि मात्र सत्ता सदाकाल है। जितनी वर्गणा अतीतकाल पहिली-पहिली नानागुणहानिविषें रस लेकरि तिनतें आधी-आधी वर्गणा वर्तमान की नानागुणहानिविषें रहे है इस वास्ते द्व्यर्धगुणहानिमात्रसत्ता सदा रहे है। आगे इसको सामान्य यन्त्र लिखिए है।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| २८८ | १४४ | ७२ | ३६ | १८ | ९ |
| ३२० | १६० | ८० | ४० | २० | १० |
| ३५२ | १७६ | ८८ | ४४ | २२ | ११ |
| ३८४ | १९२ | ९६ | ४८ | २४ | १२ |
| ४१६ | २०८ | १०४ | ५२ | २६ | १३ |
| ४४८ | २२४ | ११२ | ५६ | २८ | १४ |
| ४८० | २४० | १२० | ६० | ३० | १५ |
| ५१२ | २५६ | १२८ | ६४ | ३२ | १६ |

सो कर्म कै प्रकार है, आगे यह कहे हैं-

**कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावो त्ति होइ दुविहं खु।**
**पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु॥६॥**

तत्कर्म कर्मत्वेन एकम्। कया जात्यपेक्षया। पुनः तदेव कर्म द्रव्य-भावभेदेन द्विविधं भवेत्। बहूरि सोई कर्म द्रव्य-भाव भेद करि दोइ प्रकार है। द्रव्यकर्म कहा कहिए ? पुद्‌गलपिण्ड ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार कर्मजाति की वर्गणाओं का पिण्ड सो द्रव्यकर्म कहिए। भावकर्म कहा कहिए ? तु पुनः तच्छक्तिः भावकर्म। तस्य ज्ञानावरणादिकर्म की जु है शक्ति सुखदुःखादिक की देनवाली सो भावकर्म

कहिए। जैसे मिश्री तो द्रव्य है। ता मिश्रीविषें जु है मिश्रत्व मिष्ठशक्ति सो भाव है। अरु जैसे निम्ब द्रव्य है, ता निम्बविषें जु है कटुकता सो भाव है। तैसे जु है पुद्गलपिण्ड द्रव्यकर्म तिसका जु है शक्ति सुख-दु:ख की उपजावनहारी शक्ति सो भाव कहिए।

**तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।**
**ताणं पुण घादि त्ति य अघादि त्ति य होंति सण्णाओ॥७॥**

पुनः तत्कर्म अष्टविधम्। बहुरि सो कर्म आठ प्रकार है। वा अडदालसयं अष्टचत्वारिंशत्। अथवा सोई कर्म एक सौ अड़तालीस प्रकार है अथवा असंख्यात लोकप्रमाण है। तेषां मध्ये पुनः कानिचित् घातिसंज्ञा कानिचित् अघातिसंज्ञा भवन्ति। तिन कर्महुके मध्य केई कर्म घातिया है, केई अघातिया है।

आगे यद्यपि असंख्यातलोकमात्रं कहिए असंख्यातलोकप्रमाण कर्महु की जाति है, तथापि अष्ट मूलप्रकृति तावत् कहिए है–

**णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं।**
**आउगं णामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ॥८॥**

ज्ञानावरणी १ दर्शनावरणी २ वेदनी ३ मोहनी ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ अन्तराय ८ अष्ट मूलप्रकृति जानवी।

आगे इन मूल प्रकृतिहूमेंके कै घातिया के अघातिया हैं ते कहैं हैं–

**आवरण मोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो।**
**आउगं णामं गोदं वेदणीयं तह अघादि त्ति॥९॥**

आवरण-मोह-विघ्नानि घातिकर्माणि भवन्ति। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ए चारि कर्म घातिया जानने। काहे तें ? जीवगुणघातनत्वात्। जातें ए चारि कर्म जीव के गुणहूको घाते हैं, तातें घातिया कहिए है। तथा आयुर्नाम गोत्रं वेदनीयं अघातिकर्माणि भवन्ति। तैसे ही आयु नाम गोत्र वेदनी ए चारि प्रकृति अघातिया हैं।

इहां कोई वितर्क करै है-जीवगुणहूको तो आठों कर्म घाते हैं, इनमें चारि घातिया ऐसा भेद क्यों करो हो ? ताकौ उत्तर-कै जीव के अनन्तहूमें चारि गुण प्रधान हैं, अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख अनन्तवीर्य इन चारिहू गुणहु कौ जिसतें आदिके वे चारि कर्म आच्छादै हैं, तिसतें घातिया कहिए हैं। प्रधान गुण के घातनेंतें, जातें ए चारि गुण आत्मा के स्वरूपको प्रगट करि दिखावे हैं, तातें ए चारि गुण प्रधान हैं। अरु आयु नाम गोत्र वेदनी ए चारि कर्म वैसे प्रधानहूको नहीं आच्छादै हैं तातें अघातिया कहिए, जातें अनन्तचतुष्टयविराजमान शुद्ध सर्वज्ञ केवलीविषै ए चारि कर्म जली जेवरीवत् पाइए है, तातें प्रधान गुणहुको नाहीं आच्छादै है। अरु जो प्रधान गुणहुको आच्छादत होते तो केवलज्ञानी के अनन्तचतुष्टय

गुण प्रगट न होन देते। इस वास्ते आयु नाम गोत्र वेदनीय ए चारि कर्म अघातिया कहिए।

अथ घातिया कर्महुके अरु क्षयोपशमतें जे गुण प्रगट हो हैं ते कहें हैं—

**केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खइयसम्मं च।**
**खइयगुणे मदियादी खओवसमिये य घादी दु॥१०॥**

केवलज्ञानं केवलदर्शनं अनन्तवीर्यं क्षायिकसम्यक्त्वं च एते क्षायिकगुणाः। केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्तवीर्य क्षायिकसम्यक्त्व च शब्दतें क्षायिकचारित्र दानादि चारि इन [नौ] क्षायिक भाव के घात होए घातियाकर्म। इन चारि घातियाकर्म के क्षयतें केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्तवीर्य क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकचारित्र दानादि चारि ए गुण उपजै हैं। ज्ञानावरणकर्म के गयेतें अनन्तज्ञान, दर्शनावरणकर्म के गये तें अनन्तदर्शन, अन्तराय के गयेतें दानादि पंच [लब्धियां] मोहनीके गये तें क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकचारित्र प्रगट होहि यह वास्ते ए अनन्तज्ञानादि नव गुण क्षायिक कहे हैं। मत्यादयः क्षायोपशमिकगुणाः। अउर इन घातिकर्महुके क्षयोपशमतें मति आदिक गुण प्रगट होहि। काहे तै ? घातनत्वात्। जातैं सर्वांग ही निरावरण नाहीं, घातै भी हैं तातें क्षयोपशमगुण कहिए। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमतें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ए गुण प्रगटै हैं। दर्शनावरण-क्षयोपशमतें चक्षु अचक्षु अवधि दर्शन हो है। अन्तराय के क्षयोपशमतें किंचित् पंच दानादि हो है। मोहनीय के क्षयोपशमतें क्षायिक बिना अष्ट सम्यक्त्व चारित्रादि गुण होहि। ए मति आदिक गुण याहीतें क्षयोपशमरूप हैं।

अब चारि अघातिया कर्महूके मध्य आयुकर्म के स्वरूप क्यों कहै हैं—

**कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादि जुत्तम्हि।**
**जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं॥११॥**

कर्मकृतमोहवर्धितसंसारे आयुः जीवस्य अवस्थानं करोति। कर्महु करि कय कीयहु जो मोह तिस करि बढ्यौ जु संसार तिस विषै जीकी स्थिति को आयुकर्म करै है। कैसा है संसार ? अनादिजुत्तम्हि। अनादिकालथै चल्यौ आयौ है। आयुकर्म संसारविषै किस दृष्टान्तकरि स्थिति करै है ? यथा हलिः नरस्य अवस्थानं करोति। जैसे हडिविषै पाँव दिए संते हडि पुरुषकी स्थिति को करै है, तैसे ही आयुकर्म स्थिति करै है।

**भावार्थ—**यह जु है अनादि संसार, सो बढ़ै तो है मोहादिक कर्महु करि, परन्तु इस विषै स्थितिकौ कारण यह आयु ही कर्म जानना। जातें जिस गतिविषै यहु जीव जाय है तिस गति विषै जितनी आयुकर्म की स्थिति है, तितने कालताईं सुख-दुःख को भोक्ता है।

अथ नामकर्म के स्वरूप को कहैं हैं—

**गदिआदिजीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेयं च।**
**गदि-अंतरपरिणमणं करेदि णामं अणेयविहं॥१२॥**

इदं नामकर्म गत्यादिजीवभेदान् अनेकविधान् करोति। यह जु है नामकर्म सो अनेक प्रकार गति आदि जीव के पर्यायभेद करै है। तु पुनः देहादिपुद्गलभेदान् करोति। बहुरि यह नामकर्म अनेक प्रकार देहादिक जु है पुद्गलके भेद तिनकौं करै है। पुनः गत्यन्तरपरिणमनम्। बहुरि यह नामकर्म गतितै अउरी गति के परिणमनकौ करै।

**तात्पर्य**—यह इस नामकर्म की तिराणवै प्रकृति है, तिनमें केई एक प्रकृति जीवविपाकी हैं, केई एक पुद्गलविपाकी हैं, केई क्षेत्रविपाकी हैं। जे जीवविपाकी प्रकृति हैं, ते अनेक प्रकार गति आदिक जीव के भेद कौं करै हैं। अरु जे पुद्गलविपाकी है ते औदारिकादिशरीर संस्थान संहननादिक अनेक प्रकार करै है। अरु जे क्षेत्रविपाकी हैं चारि आनुपूर्वी ते गति के परिणामकौं करै हैं।

अथ गोत्रकर्म के स्वरूप कों कहै हैं—

**संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।**
**उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥१३॥**

सन्तानक्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रं इति संज्ञा। सन्तानक्रमकरिकै चलौ आयौ है जीवका आचरण, तिसकौ गोत्र जैसा नाम कहिए है। यदुच्चं चरणं भवेत् तदुच्चं गोत्रम्, यन्नीचं चरणं तच्च नीचं गोत्रम्।

अथ वेदनीयकर्म के स्वरूपकौं कहै हैं—

**अक्खाणं अणुभवणं वेयणीयं सुहसरूवयं सादं।**
**दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेयणीयं॥१४॥**

अक्षाणां यद् अनुभवनं तद् वेदनीयम्। समस्त इन्द्रियहुका जु है प्रत्यक्ष आस्वाद सो वेदनीय कहिए। सो दुविध प्रकार है। यद् इन्द्रियाणां सुखरूपं तत्सातं गुडादिचतुर्भेदम्। यत्तु दुःखरूपं तद् असातं निम्बादिवच्चतुर्भेदम्। सुख-दुःखे वेदयतीति वेदनीयम्। जो सुख-दुःखहु कौ जुवलि करि भुक्तावै है, सो वेदनीयकर्म कहिए।

**भावार्थ**—यह वेदनीयकर्म साता असाता के भेद करि दोय प्रकार है, सो आपणी विपाक अवस्थाविषें जीवकौ इन्द्रियद्वार करि बहुत बलकरि सुख-दुःख कौ देहै।

अथ सामान्यता करि जीव के दर्शनादि गुण कहै हैं—

**अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहिं।**
**इदि दंसणं च णाणं सम्मत्तं हुंति जीवगुणा॥१५॥**

अयं संसारी जीवः अर्थं दृष्ट्वा जानाति। यह जो है संसारी जीव प्रथम ही पदार्थ कौ देखै है, पाछै जाणे है कि यह अमुको पदार्थ है, अरु उसके गुणहुकौ जानै है। पश्चात् सप्तभङ्गीभिः श्रद्दधाति। पाछै सप्तभंगी वाणी करि उस पदार्थ की श्रद्धा करै है। इति कृत्वा दर्शनं ज्ञानं सम्यक्त्वं च जीवगुणा भवन्ति। इस करि यह जानिए है कि अर्थ का देखना तौ दर्शनगुण करि है, जानना ज्ञानगुणेन (ज्ञानगुणकरि)।

इसतै ए तीनौ जीव पदार्थ के गुण है।

अथ सप्तभंगी वाणी के नाम कहै हैं–

**सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो वि तत्तिदयं।**
**दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥१६॥**

खु द्रव्यं सप्तभङ्गं सम्भवति खु स्फुटम्, प्रगट द्रव्य जु है सो सप्तभङ्गम्–सप्त है भंग प्रकार जा विषैं ऐसा है। काहे करि ? आदेशवशेन आदेश जुहै पूर्वाचार्यनिका कथन ताके वशकरि जु द्रव्य है सो वचन–विलासकरि सात प्रकार साधिए है। जातैं सात प्रकार साधनतैं, द्रव्यका यथार्थ ज्ञान होई है। ते सप्तभंग कौन हैं ? स्यादस्ति नास्ति उभय अवक्तव्यं पुनरपि तत्त्रितयम्। स्यात् शब्द सात ही जगह लगाइ लेना। स्यात् अस्ति १ स्यात् नास्ति २ स्यादस्तिनास्ति ३ स्यादवक्तव्यम् ४ पुनरपि तत्त्रितयम्। बहुरि तेई पूर्वोक्त तीनौ अवक्तव्य संयुक्त जानने। स्यादस्ति–अवक्तव्यं ५ स्यान्नास्ति–अवक्तव्यं ६ स्यादस्ति नास्ति–अवक्तव्यम् ७। ए सप्त भंग जानने। आगे इन सप्त भंगनिकरि द्रव्य का स्वरूप साधिए है–स्यादस्ति–स्यात् कहिए कथंचित् प्रकार अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकरि अस्ति द्रव्य है जो वस्तु सो तौ द्रव्य कहिए १। जो द्रव्य–अवगाहना सो क्षेत्र २। जो द्रव्य–पर्याय की कालमर्यादा सो काल ३। जो द्रव्य का स्वरूप सो भाव ४। जो द्रव्य है सो अपने स्वरूप कौ इक चतुष्टयकरि धारै है, तातैं स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य का अस्तित्व कह्या। जैसे स्वचतुष्टयकरि घट का अस्तित्व है १। स्यात् नास्ति–कथंचित् प्रकार पर–चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति द्रव्य नाहीं। जैसे पट–चतुष्टयकरि घट नाहीं। जो पटस्वरूपकरि घट नास्ति घट न होइ, तो घट–पट एक ही वस्तु होइ। सो प्रत्यक्ष प्रमाणतें यो तौ नाहीं। तातें पर–स्वरूपकरि जु द्रव्यविषै नास्ति स्वभाव है सो परतैं द्रव्य के भिन्न–स्वरूपको साधै है। यातें कथंचित् प्रकार द्रव्य नास्ति कह्या२। स्यादस्ति–नास्ति–स्यात् काहू एक प्रकार अपने परके चतुष्टय की अपेक्षाकरि 'अस्तिनास्ति' द्रव्य है, नाहीं, ऐसा कहिए। यद्यपि द्रव्य एक ही काल अस्तिनास्ति है, तथापि जब वचनकरि अस्तिनास्ति ऐसा कहिए, तब क्रमसों कह्या जाइ है। जातें वचन–उच्चार क्रमतें, एक काल नाहीं। यातें कथंचित् प्रकार द्रव्य अस्ति–नास्ति कह्या ३। स्यादवक्तव्यम्–स्यात् कथंचित् प्रकार एक ही बार द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य–कह्या जात नाहीं। जब द्रव्यकौं अस्तिनास्ति ऐसा कहिए तब जिस काल अस्ति कहिए तब नास्ति उच्चार नाहीं। यातें वचन–विलास करि वस्तु–स्वरूप सिद्ध नाहीं, वस्तु एक ही काल अस्ति–नास्ति–स्वरूप है, तातें एक ही बार द्रव्य अस्ति ऐसा अवक्तव्य है ४। स्यादस्ति अवक्तव्यम्–स्यात् कथंचित् प्रकार अपने चतुष्टयकरि एक ही बार अपने परके चतुष्टयकी अस्तिनास्तिता अस्ति द्रव्य अस्तिवंत है, पर अवक्तव्यं–अवक्तव्य है। यद्यपि अपने चतुष्टयकरि द्रव्य अस्ति है, तथापि जब द्रव्य अस्ति ऐसा कहिए, तब 'अस्ति' इस एकान्त वचनकरि 'नास्ति' का अभाव होई है। द्रव्यका अस्तिनास्तिस्वरूप है, यातें द्रव्य अस्ति ऐसा अवक्तव्य है। अरु यद्यपि एक ही काल अपने परके

चतुष्टयकी अस्तिनास्तिकरि अस्तिवन्त है, तथापि एक ही बार अस्तिनास्तिकरि अस्तिवन्त है द्रव्य जैसा अवक्तव्य है, जातें वचन-विलास क्रमवान् है। जु कोई पूछै कि अपनी अस्तिताकरि तो द्रव्य अस्तिवन्त है, पर की नास्तिता करि अस्तिवन्त क्यों संभवै ? उत्तर-जैसे पट की नास्तिताकरि घटको अस्तित्व है, जो घटविषैं पटरूप नाहीं, तो घटका अस्तित्व है। जो पटविषैं घट होई तो घट-पट एक ही वस्तु होई ? यातैं परकी नास्तिताकरि अस्तिवन्त द्रव्य कहा। इस ही तैं करि अगलैं व्याख्यान में भी परचतुष्टयकरि द्रव्य अस्ति जानना। तातैं अपने चतुष्टयकरि अपेक्षा एकान्तताकरि अरु एक ही बार अपने परके अस्तिनास्तित्वकरि द्रव्य अस्ति ऐसा वक्तव्य है, स्यात् नास्ति अवक्तव्यं स्यात् कथंचित् प्रकार परके चतुष्टयकरि अरु एक ही अपने परके चतुष्टयकी अस्तिताकरि नास्ति द्रव्यं-द्रव्य नास्तिवन्त है, पर अवक्तव्यं-अवक्तव्य है। यद्यपि परस्वरूपकरि द्रव्य नास्ति है, तथापि जब नास्ति ऐसा कहिए, तब वचन एकान्तता करि अस्तिस्वभाव का अभाव हो है। तातैं द्रव्य नास्ति ऐसा अवक्तव्य है। अरु यद्यपि एक ही काल अपने परके स्वरूपकी अस्ति-नास्तिताकरि द्रव्य नास्तिवन्त है, तथापि एक ही बार अस्तिनास्तिता करि नास्ति ऐसा अवक्तव्य है। यहाँ कोई पूछै कि परकी नास्तिताकरि तो नास्ति द्रव्य है, अपने अस्तिताकरि नास्तिवन्त क्यों बनै ? जैसे घट अपनी अस्तिताकरि नास्ति है जो घट विषैं अपने स्वरूपका अस्तित्व है तो घटविषैंपटका अभाव है। अरु जो घटविषैं अस्तित्व न होय तो पटस्वरूपकरि घट नास्ति ऐसा न होय। यातैं अपनी अस्तिताकरि द्रव्य नास्ति जानना। इस ही नयकरि अगले व्याख्यान में भी अपने चतुष्टयकरि द्रव्य नास्ति जानना, तातैं परचतुष्टय की अपेक्षा एकान्तताकरि अरु एक ही बार अपने परके चतुष्टय की अस्ति-नास्तिताकरि द्रव्य नास्ति ऐसा अवक्तव्य है ६। स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्यं-स्यात् कथंचित् प्रकार अपने चतुष्टयकरि अरु परके चतुष्टयकरि अरु एक ही बार अपने परके चतुष्टयकी अस्ति नास्तिताकरि अस्तिताकरि अस्ति, नास्तिताकरि नास्ति द्रव्य अस्तिनास्तिवन्त है। पर अवक्तव्यं अवक्तव्य है। यद्यपि अपने स्वरूपकरि द्रव्य अस्तिनास्ति है, तथापि जब अपने स्वरूपकरि अस्तिनास्ति ऐसा कहिए तब एकान्त वचनतें पर स्वरूपकरि अस्तिनास्ति का अभाव है। यातें अपने स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। अरु यद्यपि पर स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति नास्ति है, तथापि जब पर स्वरूपकरि द्रव्य अस्ति-नास्ति ऐसा कहिए है ते एकान्त वचनतें पर स्वरूपकरि अस्तिनास्ति का अभाव है। यातें पर स्वरूपकरि द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य है। अरु यद्यपि एक ही काल अपने परके स्वरूपकी अस्तिनास्तिताकरि द्रव्य अस्तिनास्ति है, तथापि जब अपने परके स्वरूपतें अस्तिनास्ति ऐसा कहिए, तब एक ही बार अपने परके स्वरूपकी अस्तिनास्तिता करि द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य है। तातें अपने स्वरूपकी अपेक्षा एकान्तता करि अरु पर स्वरूपकी अपेक्षा एकान्तता करि, अरु एक ही बार अपने पर स्वरूप की अस्तिनास्तिता करि द्रव्य अस्तिनास्ति ऐसा अवक्तव्य है ७। यह सप्तभंगी वाणीका व्याख्यान परद्रव्यकी अपेक्षा जानना। अरु एई सप्तभंग द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा एक द्रव्यमें साधै हैं-जैसे सुवर्ण

अपने पर्यायकी अपेक्षा सप्तभंगरूप है। जो समय सुवर्ण कंकणपर्याय धार्यौ है तब कंकण द्रव्य है, यावत् प्रमाण कंकण है सो क्षेत्र है, कंकणकी जु काल-मर्यादा सो काल है, जो कंकणका स्वरूप सो भाव है। इस कंकणपर्यायके चतुष्टयकी अपेक्षा सुवर्ण अस्ति है। अरु वही सुवर्ण कुण्डलपर्यायके चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति है। या ही भाँति पूर्वोक्त प्रकार की नाईं सप्तभंग सुवर्णविषैं अपने पर्यायकी अपेक्षा जानना। यों ही अपने-अपने पर्यायकी अपेक्षा सप्तभंगात्मक सब द्रव्य सधैं हैं। जातें द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त है, तातें सप्तभंग पर्याय की अपेक्षा है। आगैं एई सप्तभंग संक्षेपता करि कहिए है-है १। नाहीं २। है नाहीं ३। है नाहीं अवक्तव्य ४। है करि है, है नाहीं करि है पर अवक्तव्य है ५। नाहीं करि नाहीं है, नाही करि नाहीं, पर अवक्तव्य है ६। है करि है, नाहीं करि नाहीं है, है नाही करि है नाही, पर अवक्तव्य है ७। द्रव्य ऐसा जानना। जैसे एक ही पुरुष पिताकी अपेक्षा पुत्र है, पुत्रकी अपेक्षा पिता है। अरु वही पुरुष मामाकी अपेक्षा भानिजा है, भानिजा की अपेक्षा मामा है, बहिन की अपेक्षा भाई है, स्त्रीकी अपेक्षा भर्त्ता है इत्यादि अनेक अपेक्षाकरि वही पुरुष अनेक रूप है, तैसे ही द्रव्य सप्तभंगात्मक जानना।

अथ शिष्य प्रश्न करै है-कै ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र अन्तराय ऐसा जु है पिछली गाथामें पाठक्रम करो सु काहेकों, और ही भाँति सो आगे-पीछे ए कर्म कहे होते ताकौ गुरु उत्तर कर यौ आगिली गाथामें-

**अब्भरिहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो दु दंसणं होदि।**
**सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे॥१७॥**

अस्यार्थः-अभ्यर्हितात् पूर्वं ज्ञानं जीव के समस्त गुणहु में ज्ञानगुण बड़ा है, पूज्य है, तिसतें पूर्व ही कह्या। ततः दर्शनं भवति तिसतें उत्तरि दर्शन गुण प्रधान है, तातें ज्ञानके पीछे दर्शनगुण कह्या। अतः सम्यक्त्वं तिसतें उतरि सम्यक्त्व गुण प्रधान है, तिसतें दर्शन के आगे सम्यक्त्वगुण कह्या। चरमें जीवाजीवगतं वीर्यं पठितम् जातें वीर्यगुण जीवमें भी पाइए है अरु अजीव में भी पाइए, तातें वीर्यगुण सबतें अन्तमें कह्या। जिस भाँति यहु अनन्त चतुष्टय को पाठक्रम कह्या, तिस ही भाँति घातियहु को पाठक्रम जानना। जातें अनन्त चतुष्टय को ए चारि घातियाकर्म घातै है। जैसे प्रधान गुणहु को जो-जो घातियाकर्म घातै है तैसा-तैसा प्रधानत्व घातियाकर्महु में जानना। सबमें ज्ञानगुण प्रधान है तिसके आच्छादनतें प्रथम ही ज्ञानावरणी कर्म कह्या। तिसतें दर्शनावरणी, तिसतें मोहनीय, तिसतें अन्तराय। इन चारि घातियहु को पाठक्रम जानना।

अथ शिष्य कहे है कि अन्तरायकर्म आठहु कर्म के विषें अघातियाहु के अन्तराख्या, सु किस वास्ते ? चाहिए तो घातियहु को अन्त ? ताको उत्तर आचार्य कहै हैं-

**घादिंवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।**
**णामतियणिमित्तादो विग्घं पठिदं अघादिचरिमम्हि॥१८॥**

अन्तरायकर्म घात्यपि अघातिवद् ज्ञातव्यम्, अन्तरायकर्म यद्यपि घातिया है, तथापि अघातिया सो है। काहे तें ? निःशेषजीवगुणघातने अशक्यत्वात्। समस्त ही जीव के गुणको घातने को असमर्थ है। जातें याकी पंचप्रकृति देशघाति हैं। पुनः नामत्रिकनिमित्ततः बहुरि नाम गोत्र वेदनीय इन तीन्यों कर्महु को निमित्त पायकरि उदय होय है। अतः विघ्नं अघातिचरमें पठितम् इसतें अन्तरायकर्म अघातिकर्महुके अन्त पढ़िए है।

**भावार्थ**—यह जु है अन्तरायकर्म सो नाम गोत्र वेदनीय इनके अनुसारे बल अरु हीनता को धरै है। जैसे कुछ साता-असाता को उदय होय तिस माफिक अन्तरायकर्म अपने बलको करै है। इसतें अन्तरायकर्म हीन है तिसतें अन्तरायकर्म नाम गोत्र के अन्त कह्यौ।

अथ नामकर्म के पूर्व आयुकर्म कह्यो, अरु गोत्रकर्मके पूर्व नामकर्म कह्यो, सु किस वास्ते ? सु इसका समाधान कहे हैं—

**आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु।**
**भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु॥१९॥**

आयुर्बलेन भवस्य अवस्थितिः नामकर्म के उदयतें उत्पन्न भये जु हैं गति इन्द्रिय शरीरादि पर्याय तिनकी स्थितिको कारण है एक आयुकर्म इति कृत्वा आयुःपूर्वकं नाम इस वास्ते नामकर्म के पूर्व आयुकर्म कह्यौ। जातें नामकर्म की स्थिति आयुकर्म के बलकरि है। तु पुनः भवमाश्रित्य नीचत्वम् उच्चत्वं गोत्रम् इति हेतोः नामकर्मपूर्वकं गोत्रकर्म भवति। बहुरि नाम के उदय उत्पन्न भई जु है गति तिसको आश्रय लेकरि नीच-ऊँच गोत्र होय है। जो नीचगति होय तो नीचगोत्र होइ, अरु जो ऊँचगति देवगत्यादिक की होय तो ऊँच ही गोत्र होइ है। इस कारणतें गोत्रकर्म के पूर्व नामकर्म कह्यौ।

अथ घातियाकर्महु के मध्य मोहनीयकर्म के ऊपर वेदनीय अघातिया कह्यो, सु किस वास्ते ? इसको समाधान कहै हैं—

**घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।**
**इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदं तु॥२०॥**

घातिवद्वेदनीयं-घातिया सो वेदनीयकर्म है, यद्यपि अघातिया है। काहेतें ? मोहस्य बलेन जीवं घातयति-जिसतें मोहनीयकर्म के बलकरि जीव को साता-असाताके निमित्त इन्द्रिय-विषयके बलकरि जीव को घातै है। इति हेतोः घातिकर्मणां मध्ये मोहस्य आदौ पठितम्-इस कारणतें वेदनीयकर्म घातियाकर्मनि के मध्य मोहनीय की आदि पढ़िये है।

**भावार्थ**—यह जु बताई इस मोहकर्म को उदय हेतु बताई साता-असातारूप वेदनीयकर्म बल करै है, जातें रति-अरति के उदय सुख-दुःख यह जीव मानै है; तातें मोह के अधीन है तिसतें घातियासा कहिए है। इस वास्ते घातियहु के मध्य मोहनीय के पूर्व यो वेदनीयकर्म कह्यो।

अथ गाथा के ऊपर इन आठ कर्म को पाठक्रम कहैं हैं—

**णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।**
**आउग णामं गोदंतरायमिदि पठिदमिदि सिद्धं॥२१॥**

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र अन्तराय यह पूर्व ही पढ्या था जो पाठक्रम सो पूर्वोक्त प्रकार करि सिद्ध हुआ।

अथ बन्ध को स्वरूप कहै हैं—

**जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा।**
**होंति घणनिविडभूओ संबंधो होइ णायव्वो॥२२॥**

एकैकस्मिन् जीवप्रदेशे कर्मप्रदेशाः अन्तपरिहीना भवन्ति। एक-एक जीवके प्रदेशविषैं कर्महु के प्रदेश अन्ततें रहित है।

**भावार्थ**—यह संसारविषैं जीव अनन्त हैं। एक-एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं, तिन एक-एक प्रदेशविषैं अनन्त-अनन्त कर्महु के प्रदेश जानने। तेषां जीवकर्मप्रदेशानां घननिविडभूतः सम्बन्धः ज्ञातव्यः। तिन जीव-पुद्गल के प्रदेशहु का जु घन अत्यन्त सघन निविड अति दृढ़ लोह के मुद्गर सा जु सम्यक् प्रकारकरि बन्ध तिसको नामबन्ध जानिवो।

अथ यहु बन्ध कहातें है अरु इस बन्ध के उदय होत संते क्या हो है सो कहै हैं—

**अत्थि अणाईभूवो बंधो जीवस्स विविहकम्मेण।**
**तस्सोदएण जायइ भावो पुण राय-दोसमओ॥२३॥**

अस्य जीवस्य विधिकर्मणा सह अनादिभूतः बन्धः अस्ति-इस संसारी जीवके आठ प्रकार कर्महुतैं अनादिकालविषैं उत्पन्न हुआ यह पूर्व ही कह्या जो बन्ध सो यावत्काल है। पुनस्तस्योदयेन रागद्वेषमयः भाव उत्पद्यते—बहुरि तिस बन्ध के उदयकरि राग-द्वेषमय भाव परिणाम उपजै हैं।

**भावार्थ**—यहु इस जीवकै अनादि सन्तानवर्त्ती आठ कर्महु का जो बन्ध है तिसका जब उदय हो है तब यह जीव संसार के समस्त इष्ट अनिष्ट पदार्थहु कों मानता संता राग-द्वेषरूप परिणामको करै है। ऐसे परिणाम भावकर्म कहिए।

अथ इनि राग-द्वेष परिणामके होत संते जो हो है सो कहै हैं—

**भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहु पुग्गला हु लग्गंति।**
**जह तुप्पियगत्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति॥२४॥**

पुनरपि तेन भावेन अन्ये बहवः पुद्‌गलाः लगन्ति–बहुरि तिस राग–द्वेषमय परिणामकरि और बहुत कार्मण वर्गणा लागै हैं जीवकों सर्वांग ही। किस दृष्टान्तकरि लागै हैं ? यथा तुप्पियगात्रस्य निविडा रेणवः लगन्ति। जैसे घृतलेपि गात्रस्यों निविड सघन धूलि लागै है।

**भावार्थ—**यहु जब यह जीव इष्ट–अनिष्ट संसारीक भावहोंविषें राग–द्वेषरूप परिणमै है तब इस जीवकै सर्वांग प्रदेशहुविषें अनेक वर्गणा लागै हैं। जैसे स्निग्ध गात्र को धूलि अति सघन लागै है तैसे राग–द्वेषरूप स्निग्ध परिणामकरि विलिप्त आत्मा के अत्यन्त सघन कर्मरूप धूलि लागै है।

इहाँ कोई प्रश्न करै है कि जब यह आत्मा राग–द्वेषरूप परिणमै है; तब इसके कहाँतें कर्म आइ लगैं हैं ? ताकों उत्तर – कि इस तीन्यों लोकविषें सर्वप्रदेशविषें कार्मणवर्गणा अनन्तानन्त हैं। जिस जागै यह आत्मा जैसे गठास लिए राग–द्वेषरूप परिणमै है ताहीतें तिस गठासमाफिक आत्मा के कर्मधूलि लागै है।

अथ एक समयविषें जीवके बन्ध हुआ संता कै प्रकार होइ परिणमै है, यह कहै हैं—

**एक्क समएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेएहिं।**
**परिणमइ आउकम्मं बंधं भूयाउसेसेहिं॥२५॥**

जीवेन एकस्मिन् समये यत् कर्म प्रबद्धं तत्सप्तभेदैः परिणमति–इस जीवने एक समयविषें जु कर्म बाँधा है सो सात प्रकार होय परिणमै है।

**भावार्थ—**यहु जीव जब एक बन्ध करै एक समयविषें तब एक ही समय प्रबद्ध का बन्ध करै। परन्तु वही समयप्रबद्ध जीवकै प्रदेशहु सेती बन्धा सात कर्मरूप परिणमै है। जातै इस जीवकै संसारविषें समय–समय सात कर्म बन्ध–योग्य परिणाम सदा रहै हैं, तातैं सात जातिका बन्ध करै है। जैसे एक अन्न आहारया संतै रस रुधिर मास चर्वी अस्थि मज्जा शुक्र इन सात धातुरूप होइ परिणमै है। जातें पंचेन्द्रिय औदारिक शरीरमें सात धातु परिणमन की योग्यता है, तातैं परिणमै है। तैसे यह कर्म सात जाति होइ परिणमै है ज्ञानावरणी आदि सप्त आयुकर्म बिना।

पुनः यत् आयुःकर्म तत् भुक्तायुः शेषेण। बहुरि जो आयुकर्म को बन्ध है सो भुज्यमान जु है आयु तिसके त्रिभागकरिके जानना।

**भावार्थ—**यह जु जितनी जिस जीव के वर्तमान एक पर्यायमिश्रित आयु है तिस आयुके तीसरे भागविषें आयुबन्ध जानना। अरु जो तीसरे भागविषें न होइ तो तीसरेके तीसरे भागमें होइ। अरु जो इहाँ भी न होइ तो इसके तीन भाग करिए। इस ही भाँति नव बार तीन–तीन भाग करि अन्त मरणसमय अवश्य आयुबन्ध होइ।

अथ बन्ध कै प्रकार है सो कहै हैं—

**सो बंधो चउभेओ णायव्वो होदि सुत्तणिद्दिट्ठो।**
**पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पएसबंधो पुरा कहिओ॥२६॥**

चतुर्भेदः बन्धः पुरा कथितः सूत्रनिर्दिष्टाः। पूर्व ही जो बन्ध सो चार प्रकार कह्या। कौन-कौन? प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेशबन्ध यहु चार प्रकार बन्ध जानना।

**प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम्।**
**अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसञ्चयः॥**

प्रकृति कहिए स्वभाव परिणाम जिस कर्म का जु स्वभाव सु प्रकृति कहिए। जु ज्ञान का आच्छादनत्व सु ज्ञानावरणकर्म का स्वभाव है। दर्शन का आच्छादन सु दर्शनावरण का स्वभाव है इस भाँति सब कर्महुका स्वभाव जानना। योगनि की तीव्रता-मन्दताकरि जु तीव्र-मन्द स्वभाव लिए कर्म का बन्ध सो प्रकृतिबन्ध कहिए। कषाय की तीव्र-मन्दताकरि उत्कृष्ट मध्यम जघन्यरूप काल की मर्यादा लिए बन्ध होइ सु स्थिति कहिए। कषाय की तीव्र-मन्दता अनेक भेद लिए जु अपने रस लिए बन्ध होइ सो अनुभागबन्ध कहिए। योगनि के अनुसारे तीव्र-मन्दता रूप करि तीव्र मन्दरूप होइ आत्मा के प्रदेशनिसों एकमेक होइ जु-जु कर्म ही की पुंज बन्धे सो प्रदेशबन्ध कहिए। एक-एक बन्ध के असंख्याते-असंख्याते भेद हैं तीव्र-मन्दताकरि, जातें कषाय योगनि का भी असंख्यात जाति का परिणमन है।



अथ इन आठ कर्महुका दृष्टान्त है–

**पडपडिहारसिमज्जाहडिचित्तकुलालभंडयारीणं।**
**जह एदेसिं भावा तह विह कम्मा मुणेयव्वा॥२७॥**

यथा पट-प्रतीहार-असि-मद्य-हलि-[चित्रक-] कुलाल-भाण्डारिकाणां एतेषां भावाः तथैव कर्माणि ज्ञातव्यानि यथाक्रमस्। जैसे पट-वस्त्र, प्रतीहार-दरवान, असि-खड्ग, मद्य-सुरा, हलि-खेड़ो, चित्रक-चितेरा, कुलाल-कुम्हार, भाण्डागारी-भंडारी इन आठों का जैसा परिणमन है तैसा ही अनुक्रम आठ कर्महु का परिणमन जानना।

**भावार्थ–**ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्-ज्ञानको जो आच्छादै सो ज्ञानावरणीय कर्म कहिए। तिसका स्वभाव ज्ञान-आच्छादनत्व है। किस दृष्टान्तकरि? जैसे देवता के मुख ऊपरि वस्त्र डारैतें प्रतिमा आच्छादिए है तैसे ज्ञानावरणकर्म ज्ञानगुण को आच्छादै है। दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयम्-जो दर्शनगुण को आच्छादै सो दर्शनावरणीयकर्म कहिए। तिसकी प्रकृति दर्शन आच्छादनता। किस दृष्टान्तकरि? जैसा द्वारि बैठा प्रतीहार राजा के दर्शन को न होन देह, तैसे दर्शनावरणीयकर्म दर्शनगुण को प्रकट होन नहीं देइ है। वेदयतीति वेदनीयम्-जो सुख दुःखको जणावै सो वेदनीय कहिए। तिसका स्वभाव सुख-दुःख उत्पादक। कैसे ? जैसे शहद लपेटी खाँड़े की धार चाटेतें प्रथम ही मिष्ट है अरु पाछै जीभ को काटै

है, तैसे वेदनीयकर्म जानना। मोहयतीति मोहनीयम्-जो जीव को मोहै सो मोहनीयकर्म कहिए। तिसका स्वभाव मोहोत्पादक है। जैसे-मद्य-धत्तूर-मदनकोद्रववत् जैसे मद्य पीए संते अरु धत्तूरा माचन कोदों के खाए संते जीव अत्यन्त विकल हो है, तैसे मोहनीयकर्म का उदय जानना। भवधारणाय एति गच्छतीत्यायु:-पर्याय स्थिति को जो प्राप्त होइ है सो आयुकर्म कहिए। तिसका स्वभाव जीव पर्याय की स्थिति करै है। कैसे ? जैसे सांकल सापराध पुरुषकी स्थिति को करै है, तैसे आयुकर्म जानना। नाना मिनोतीति नाम-अनेक प्रकार गत्यादि रचना को जो करै सो नामकर्म कहिए। तिसका स्वभाव अनेक प्रकार करणत्व। कैसे ? चित्रकारवत्। जैसे चितेरा अनेक प्रकार रचना रचै तैसे नामकर्म जानना। उच्चं नीचं गमयतीति गोत्रम्-ऊँचे-नीचे गोत्रविषें जो जीव को लै जाहै सो गोत्रकर्म कहिए। तिसका स्वभाव ऊँच नीच प्रापकत्व। कैसे? जैसे कुम्हार घट-हंडादि करणविषें समर्थ तैसे गोत्रकर्म जानना। दातृ-पात्र-योरन्तरमेतीत्यन्तराय:। दाताके देते संते अरु पात्रके लेते जो विघ्न करै तैसे अन्तराय कर्म जानना।

अथ इन आठ कर्मप्रकृतिहू की जु है उत्तरप्रकृति तिनकी संख्या कहै हैं अरु मूलप्रकृति हू का स्वभाव—

**णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं।**
**जह पडिमोवरि खित्तं कप्पडयं छादयं होइ॥२८॥**

ज्ञानावरणं कर्म सूत्रनिर्दिष्टं पञ्चविधं भवति-ज्ञानावरणकर्म सूत्रविषें कह्या पंच प्रकार सो किस दृष्टान्तकरि है ? यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं कर्पटकं छादकं भवति। जैसे प्रतिमा ऊपर डारा हुआ वस्त्र आच्छादक है तैसे ज्ञानावरणीय कर्म जानना।

**दंसण-आवरणं पुण जह पडिहारो हु णिवदुवारम्मि।**
**तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाईहि सुत्तम्मि॥२९॥**

यथा नृपद्वारे प्रतीहार: तथा दर्शनावरणीयं कर्म [वस्तुदर्शननिषेधको भवति] जैसे राजाके द्वार पर बैठा प्रतीहार राजा के दर्शन नाहीं करण देहै तैसे दर्शनावरणीयकर्म पदार्थदर्शन का निषेधक जानना। तत् नवविधं स्फुटार्थवाग्भि: सूत्रे प्रोक्तम् सोई दर्शनावरणीयकर्म सिद्धान्तविषें गणधरदेवहू ने नव प्रकार कह्या है।

**महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु।**
**सायासायविभिण्णं सुह दुक्खं देइ जीवस्स॥३०॥**

पुन: वेदनीयं द्विविधम् बहुरि वेदनीयकर्म दोय प्रकार है। कैसा है वेदनीयकर्म ? मधुलिप्तखङ्गसदृशम् शहदकरि लपेटा जैसा खङ्ग तैसा है। बहुरि कैसा है ? सातासातविभिन्नम् साताअसाता ऐसे हैं दो भेद जिसके। तु तद्वेदनीयं कर्म जीवस्य सुख-दु:खं ददाति बहुरि वह वेदनीयकर्म जीव को सुख-दु:ख देइ है।

**मोहेइ मोहणीयं जह मयिरा अहव कोद्दवा पुरिसं।**
**तं अडवीसविभिण्णं णायव्वं जिणुवदेसेण॥३१॥**

यथा मदिरा पुरुषं मोहयति तथा मोहनीयं कर्म पुरुषं मोहयति जैसे मदिरा पुरुषको मोहित करै, तैसे ही मोहनीयकर्म पुरुष को मोहे है। तथा जैसे मदनकोद्रवा पुरुषं मोहयन्ति माचन कोदों मूर्च्छित करै हैं, उसी प्रकार मोहनीयकर्म जीव को मूर्च्छित करै है। तत् मोहनीयं कर्म अष्टाविंशांतिभेदभिन्नं जिनोपदेशेन ज्ञातव्यम्–वह मोहनीयकर्म जिन भगवान् के उपदेशतें अट्ठाईस भेद रूप जानना।

**आऊ चउप्पयारं णारय-तिरिञ्छ-मणुय-सुरगइगं।**
**हडिखित्त पुरिससरिसं जीवे भवधारणसमत्थं॥३२॥**

नारक–तिर्यङ्–मनुष्य–सुरगतिकं आयुःकर्म चतुःप्रकारम्। नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति देवगति इनको प्राप्तवारो जो है आयुकर्म जानना। सो आयुकर्म कैसा है ? हलिक्षिप्तपुरुषसदृशम् जैसे हलि खेड़ा हो पुरुष तैसा है। बहुरि कैसा है ? जीवानां भवधारणे समर्थम् जीवहु की पर्याय स्थिति करने को समर्थ है।

**चित्तपडं व विचित्तं णाणाणामे णिवत्तणं णामं।**
**तेयाणवदी गणियं गइ-जाइ-सरीर-आईयं॥३३॥**

गति–जाति–शरीरादिकं त्रिनवतिगणितं नामकर्म विचित्रं भवति। मति जाति शरीरादि प्रकृतिहु करिके तिरानवै प्रकार गिना जु है नामकर्म सो नाना प्रकार जानना। किंवत् ? चित्रपटवत्। जैसे अनेक चित्रहूकरि मण्डितवस्त्र तैसा है नामकर्म। नाना नामनिवतर्कं पूर्ण...

**गोदं कुलालसरिसं णीचुच्चकुलेसुपायणे दच्छं।**
**घडरंजणाइकरणे कुंभायारो जहा णिउणो॥३४॥**

गोत्रं कर्म कुलालसदृशं वर्तते गोत्रकर्म कुम्हारसरीखा है। पुनः कथम्भूतम् ? नीचोच्चकुलेषु उत्पादने दक्षम् नीच ऊँच कुलविषैं उपजावनेको दक्ष प्रवीण है। घटरञ्जनादिकरणेषु यथा कुम्भकारः घट अरु कूल्हाड़ी आदिलेय करिवेविषैं जैसे कुंभकार निपुण है, तैसे गोत्रकर्म नीचोच्चेषु निपुणः नीच ऊँच कुलविषैं उपजानवनेको निपुण है।

**जह भंडयारि पुरुसो धणं णिवारेइ राइणा दिण्णं।**
**तह अंतरायपणगं णिवारयं होइ लद्धीणं॥३५॥**

यथा भाण्डागारिकः पुरुषः राज्ञा दत्तं धनं निवारयति तथा अन्तरायपञ्चकं लब्धीनां निवारकं भवति। जैसे भंडारी पुरुष राजानै दिया जो द्रव्य तिसको नाहीं दे है, तथा तैसे अन्तरायपंचक दानादि पाँच लब्धियोंका निवारण करै है।

अथ उत्तरप्रकृतिहुका ठीक कहै हैं–

**पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी।**
**ते उत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति॥३६॥**

ज्ञानावरण की ५ दर्शनावरण की ९ वेदनीय की २ मोहनीय की २८ आयु की ४ नाम की ९३ वै हैं अरु एकसौ तीन १०३ भी जाननी। गोत्र की २ अन्तराय की ५ इतनी सब उत्तरप्रकृति हैं आठ कर्महु की।

अथ पाँच प्रकार ज्ञानावरण के कहने के वास्ते प्रथम ही पंच प्रकार ज्ञान के स्वरूप को आचार्य कहे हैं। जातें पंच प्रकार ज्ञानके कहे बिना ज्ञानावरणीयका स्वरूप नाहीं जाना जाय है तातें ताहि कहिए है–

**अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं।**
**बहुआदि-ओग्गहादिय कयछत्तीसतिसयभेयं॥३७॥**

अभिमुखनियमितबोधनं आभिनिबोधकं भवति, जो पदार्थ स्थूल है अरु वर्त्तमान है, अरु इन्द्रियग्रहणयोग्य प्रदेशविषें प्रवृत्तें है सो पदार्थ अभिमुख कहिए। अरु जो पदार्थ निश्चित है इस इन्द्रियग्रहणयोग्य यह है इस भांति ठीक किया है जो पदार्थ तिसका नाम नियमित कहिए। इस अभिमुख अरु नियमित पदार्थ का जाननेवाला तिसका नाम आभिनिबोधक मतिज्ञान कहिए है। यह मतिज्ञान स्थूल वर्त्तमान योग्य प्रदेशविषें स्थित निश्चित पदार्थ को जानै है जातें यह मतिज्ञान अनिन्द्रियेन्द्रियजं अनिन्द्रिय कहिए मन अरु पंच स्पर्शनादि इन्द्रिय तिनकरि उत्पन्न है पदार्थ स्पर्शनादि इन्द्रियहुकरि स्थूल पदार्थ जानिए है। परन्तु स्थूल पदार्थ भी तब जानिए है जो वर्तमान होइ है। यो नाहीं कि भूत भविष्यत् काल के स्थूलपदार्थ प्रत्यक्ष जानिए है। अरु स्थूल वर्तमान भी पदार्थ तब जानिए है जो इन्द्रियग्रहण योग्य स्थूलविषै होहि। यो नाहीं कि स्थूल वर्तमान मेरु पर्वतादिक दूर तिष्ठहि है यो पदार्थ अरु पटलहुकरि आच्छादित नरक पदार्थ ते प्रत्यक्ष जानिए है। अरु स्थूल वर्तमान इन्द्रिय-ग्रहणयोग्य स्थूलविषें भी तब पदार्थ जानै जाइ है जो पदार्थ निश्चित हो है कि इस इन्द्रिय के ग्रहण को योग्य यह अर्थ है। यो नाहीं कि श्रवण इन्द्रिय ग्रहणयोग्य शब्दको नेत्र इन्द्रिय ग्रहै है, अरु जिह्वा इन्द्रिय ग्रहणयोग्य रसको श्रवण ग्रहै है। जो जिस इन्द्रिय ग्रहणयोग्य पदार्थ होइ तिस ही इन्द्रियकरि ग्रहिए तो स्पर्शनादि इन्द्रियहुकरि पदार्थ जाने जाय हैं। तातें यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कै इन्द्रियाधीन मतिज्ञान है। बहुरि मतिज्ञान कैसा है ? बह्वादि-अवग्रहादिककृत षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम्-बहुआदिक बारह १२ जु भेद अरु अवग्रहादि चार ४ तिनकरि किए है तीन सै छत्तीस भेद जिसके।

**भावार्थ–**इस मतिज्ञानके तीन सै छत्तीस भेद हैं, ते समस्त प्रगट आगे कहिए है–अवग्रह १ ईहा २ अवाय ३ धारणा ४। अवग्रह कहा कहिए ? पदार्थ अरु इन्द्रिय इन दोनों के संयोग हुए संते पदार्थ-दर्शन हो है। तिसके पीछे जो पदार्थ को कछूक ग्रहण तिसको नाम अवग्रह कहिए। जैसे-दूरतें

नेत्रकरि ग्रहिए के यह जु कछु पदार्थ देखिए है सो श्वेत है ऐसा जु ग्रहण सो अवग्रह है। ईहा कहा कहिए? जो पदार्थ अवग्रहकरि जान्यो है तिसकी जु विशेष जानिवे की इच्छा सो ईहा कहिए। जैसे यह श्वेतरूप कहा है ? वकहुकी पंकति है कि धुजा है ऐसा जो ग्रहण सो ईहा। अवाय कहा कहिए ? जो पदार्थ को यथावत् स्वरूप विशेषकरि जानना तिसका नाम अवाय कहिए। कै यह वकपंक्ति ही है, पताका नाहीं। जातें उड़ि ऊंचे जाय है अरु नीचे आवे है, अरु पांख हलावती देखिए है, तातें वकपंक्ति है ऐसा जु है ठीक ग्रहण सो कहिए। धारणा कहा कहिए ? जो पदार्थ यथार्थ ग्रहीत है कालान्तरविषें भी न भूलै तिसका नाम धारणा कहिए। ए चारि अवग्रहादिक भेद जानने। आगे बहु आदिक भेद कहिए है–बहु अबहु बहुविध अबहुविध क्षिप्र अक्षिप्र निसृत अनिसृत उक्त अनुक्त ध्रुव अध्रुव। बहु बहुत वस्तु को नाम जानना। अबहु स्तोक का नाम जानना। बहुविध बहुप्रकारकरि जाने। अबहुविध एक प्रकारकरि जाने। क्षिप्र शीघ्र ही जाने। अक्षिप्र विलम्बकरि जाने। निसृत निकसे पुद्गलको जाने। अनिसृत अनिकसे पुद्गल को जाने। उक्त कहने का नाम जानना। अनुक्त अनुक्त अभिप्राय कहिए। ध्रुव यथार्थ ग्रहणशक्ति। अध्रुव अयथार्थ ग्रहणनाम। इन बारहसों अवग्रहादिकके जो भेद जोड़िए तो ४८ भेद होय हैं। बहुत वस्तुको जो किंचित् ज्ञान सो बहु–अवग्रह। बहुत को सन्देहरूप जानना सो बहु–ईहा। बहुत को निश्चित जानना सो बहु–अवाय। जो बहुत को भूले नहीं सो बहु–धारणा। इस ही भांति ए चारों अवग्रहादिक बहु–अबहु आदि भेद १२ सो लगाएतें भेद ४८ जानने। अथ एई अड़तालीस पंच इन्द्रिय छठे मनसों लगावने सो दो सै अठासी २८८ भेद जानने। पूर्व ही कह्या जो अवग्रह तिनके दोय भेद जानने–एक अर्थ–अवग्रह एक व्यंजन–अवग्रह। जो प्रगट अवग्रह होइ कै यह कछू वस्तु है सो अर्थ अर्थ–अवग्रह कहिए। अरु जो अप्रगट अवग्रह होय कै यह कछू वस्तु है ऐसा भी ज्ञान न होय सो व्यंजनावग्रह कहिए। जैसे कोरे सरवाके ऊपर दोइ बूंद डारें मालूम नाहीं हो है। अरु सरवा आला नाहीं हो है। अरु वही सरवा बारम्बार पानीके सीचिए तो आला हो है, तैसे स्पर्श जिह्वा नासिका कान इन चारयों इन्द्रियविषें स्पर्श रस गन्ध शब्दरूप परिणमै है तब अर्थ–अवग्रहकरि प्रगट हो है। व्यंजन–अवग्रह के पीछे अर्थावग्रह जानना। व्यंजनावग्रह मन अरु नेत्र बिना चार इन्द्रियहु को है। मन अरु नेत्रको अर्थावग्रह है। उन चारयों इन्द्रियहु को व्यंजनावग्रह अरु अर्थावग्रह दोऊ है जातें मन अरु नेत्रकरि अर्थ के बिना ही स्पर्शे दूरतें ज्ञात हो है। अरु वे जो हैं चार इन्द्रिय तिनकरि पदार्थ के स्पर्शे बिना ज्ञान नाहीं हो है, तातें स्पर्शन जिह्वा नासिका कर्णविषें प्रथम ही जब स्पर्श रस गन्ध शब्दरूप पुद्गल स्पर्शे है तब दोय तीन समय व्यंजनावग्रह हो है, पीछै बारम्बार स्पर्शतें अर्थावग्रह हो है। नेत्र अरु मनकरि पदार्थ के स्पर्शे बिना जातें ज्ञान है तातें इन दोनों को प्रथम ही अवग्रह है। तातें यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ कै चार इन्द्रियहुकौ अर्थावग्रह है। आगें इन चार इन्द्रियहु के व्यंजनावग्रहसों बहु आदिक १२ भेद लगाइए तो अड़तालीस ४८ भेद हो है। पूर्व ही कहे जे २८८ भेद अरु अड़तालीस व्यंजनावग्रहके ते सब मिलायकरि ३३६ भेद मतिज्ञान के भये।

अथ श्रुतज्ञान को स्वरूप कहै हैं–

**अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं।**
**आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सत्थजप्पमुहं॥३८॥**

अर्थात् अर्थान्तरं येन उपलभ्यं तत् आचार्याः श्रुतज्ञानं भणन्ति मतिज्ञानकरि ठीक किया है जो पदार्थ तिसतें और पदार्थ जिस ज्ञानकरि जानिए विशेषरूप तिसका नाम आचार्य श्रुत कहै हैं।

**भावार्थ–**जिस ज्ञानकरि एक पदार्थ के जाने संते अनेक पदार्थ जानिए सो श्रुतज्ञान कहिए। सो श्रुतज्ञान कैसा है ? आभिनिबोधिकपूर्वम्। भावार्थ–मतिज्ञान बिना श्रुतज्ञान न होय। जो पहिले मतिज्ञानकरि पदार्थ जान्यो होय तो तिसके पीछे श्रुतज्ञानकरि विशेष जानिए है। बहुरि कैसा है श्रुतज्ञान ? नियमेन–शास्त्रजप्रमुखम् निश्चयकरि शास्त्र–जनित श्रुतज्ञान है प्रधान जिसविषें। भावार्थ–यह श्रुतज्ञान दोय प्रकार है–एक शब्दज है, एक लिंगज है। जो शब्दतें उत्पन्न है अक्षर स्वर पद वाक्यरूप है सो शब्दज श्रुतज्ञान कहिए। जो श्रुतज्ञान अनक्षररूप है, एकेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवहुके विषें प्रवर्ते है सो लिंगज है। इन दोनों में शब्दज श्रुतज्ञान प्रधान है, जातें शास्त्र–पठन–पाठन उपदेशादिक समस्त व्यवहार का यह मूल है।

अब अवधिज्ञान के स्वरूप कहिए है–

**अवधीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।**
**भव–गुणपच्चयविहियं जमोहिणाणेत्ति णं वंति॥३९॥**

अवधीयते इति अवधिः द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारों करि मर्यादा करिए है जिसकी, सो अवधिज्ञान कहिए। इदं समये सीमाज्ञानं वर्णितम् यही अवधिज्ञान परमागमविषें मर्यादी कह्या है। भावार्थ–मति श्रुत केवल ये तीन्यों अमर्यादिक ज्ञान हैं जातें इन विषें अपरमान है। मति श्रुतज्ञान परोक्ष समस्त जाने। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष जाने है, तातें ये तीन्यों अमर्यादिक ज्ञान कहिए। इस अवधिज्ञान का जु है विषय सो मर्यादा लिए है, तातें अवधिज्ञान सीमाज्ञान कह्यो है। यद् भवगुणप्रत्ययविहितं तद् अवधिज्ञानं इति वदन्ति। जो यह ज्ञान भवप्रत्यय अरु गुणप्रत्यय के भेदकरि दोयप्रकार कह्यो है। तिसहि अवधिज्ञान ऐसो नाम आचार्य कहे हैं।

**भावार्थ–**अवधिज्ञान दोय प्रकार है–भवप्रत्यय अरु गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय सो कहा कहिए ? जो पर्याय को निमित्त पायकरि उपजे सो भवप्रत्यय कहिए। सो भवप्रत्यय देवनारकी के अरु तीर्थंकर के पर्यायविषें अवश्य होय। इहां कोई प्रश्न करे कै अवधिज्ञान तो अवधिज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशमतें उपजे है, तुमने इहां कह्यो के भवप्रत्यय अवधि पर्याय को निमित्त पाय उपजै है सो यह क्यों संभवे है ? ताको उत्तर–कै जब देव नारक पर्याय की उत्पत्ति होय है तब ही अवश्यकरि अवधिज्ञानावरणीयकर्मको क्षयोपशम हो है जातें देव–नारकी की पर्यायविषें वह सबको है तातें भवप्रत्यय अवधि को पर्याय निमित्त

कारण कहिए है। जैसे पक्षी पर्यायविषें उड़ने को गुण सबके है, कोई शिक्षा देयकरि उड़ना सिखावता नाहीं; स्वाभाविक पर्याय अवलंबिकरि उड़ना जानै हैं तैसो पर्याय अवलंबिकरि भवप्रत्यय अवधि जाननी। जो अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमतें मनुष्य अरु तिर्यंचविषें होइ सो गुणप्रत्यय अवधि कहिए। मनुष्य अरु तिर्यंचविषें भी तब होइ जो सैनी पर्याय में होहि। अरु जो सम्यग्दर्शनादिक को निमित्त होइ।

अथ मनःपर्ययज्ञान को स्वरूप कहिए है—

**चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।**
**मणपज्जवं ति वुच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए॥४०॥**

चिन्तितं अचिन्तितं वा [अर्धचिन्तितं] अनेकभेदगतं परमनसि स्थितं अर्थं यत् जानाति तत् मनःपर्ययज्ञानं उच्यते। चिन्तितं पूर्व ही चिन्तयो होय, अचिन्तितं आगें चिन्तइगा, अर्धं चिन्तितं वा अथवा आधा चिंतया होय ऐसा जो अनेक प्रकार संयुक्त परमनसिस्थितं अर्थं पराये मनकेविषें तिष्ठै है जु पदार्थ तिसकों जो जाने सो मनःपर्ययज्ञान कहिए। तत् खलु नरलोके सो मनःपर्ययज्ञान मनुष्यलोकविषें उपजै है।

**भावार्थ—**अढ़ाई द्वीपविषें सब जीवहु को भूत भविष्यत् वर्तमानरूप जु है अनेक प्रकार मन के परिणामनि सूक्ष्म स्थूलरूप सो मनःपर्ययज्ञानकरि सब जानिए है। सो मनःपर्ययज्ञान दोय प्रकार है—एक ऋजुमति एक विपुलमति। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कालाश्रित जघन्यताकरि अपने अरु और के आगिले पीछिले दोय-तीन पर्याय जाने। अरु उत्कृष्ट योजन ९ नव के मध्य जीवनि के मन की बात जाने। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जघन्य कालस्थिति सात-आठ पर्याय जाने। उत्कृष्ट असंख्यात आगिले पीछिलै पर्याय जाने। क्षेत्राश्रित जघन्यताकरि योजन ९ नव के मध्य जीवनि के मन की बात जाने। उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके भीतर जानें, बाहिर नाहीं। यह ऋजुमति विपुलमतिका भेद जानना।

अथ केवलज्ञान को स्वरूप कहिए है—

**संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।**
**लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं॥४१॥**

एतादृशं केवलज्ञानं मन्तव्यम्। कीदृशम् ? सम्पूर्णं अखण्डम्। पुनः किंविशिष्टम् ? समग्रम्। अनन्तज्ञानादिशक्तिकरि समस्त है। पुनः कीदृशम् ? सर्वपदार्थ के जाननेतें निर्मल है। पुनः किम् ? असपत्नम् सर्वघातिया कर्महु के क्षयतें बन्ध-रहित है। पुनः किम् ? सर्वभावगतम् समस्त जु है लोकालोकविषें पदार्थ तिनिविषैं एक समयमांहि गया है। पुनः किम् ? लोकालोकवितिमिरम् लोकालोकप्रकाशक है ऐसो केवलज्ञान जानना।

**मदि-सुद-ओही-मणपज्जव-केवलणाण-आवरणमेवं।**
**पंचवियप्पं णाणावरणीयं जाण जिणभणियं॥४२॥**

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानानां आवरणं एवं पञ्चविकल्पं ज्ञानावरणीयं जानीहि जिनभणितम्।.... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... .... ....

अथ दर्शनावरणकर्म के स्वरूप कहनेको प्रथम ही दर्शन को स्वरूप कहिए है–

**जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।**
**अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥**

यद्भावानां सामान्यग्रहणं तत् समये दर्शनं इति भण्यते जो पदार्थकौ सामान्यग्रहण सो दर्शन ऐसो समये शास्त्रविषें कहिए है। कहा करि ? आकारं नैव कृत्वा भेद नाहीं करिके कै यह घट है कै पट है ऐसो भेद के बिना ही करे अर्थात् अविशेष्य पदार्थनि की जाति क्रिया गुणकरि विशेषता बिना ही करै।

**भावार्थ**–जो पदार्थ को सामान्य वस्तुमात्र ग्रहे, विशेष भेदकरि न ग्रहे सो दर्शन जानना। ज्ञान सर्वांग पदार्थ को ग्राहक है। संसारविषें जे छद्मस्थ हैं तिनके दर्शन पहिले है, पाछे ज्ञान है। केवलीके युगपत् एक ही बार होय हैं।

अथ चतुर्भेद दर्शन के कथ्यते–

**चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति।**
**सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति॥४४॥**

चक्षुषा यत् प्रकाश्यते दृश्यते तद् आचार्याः चक्षुर्दर्शनं ब्रुवन्ति।

आत्मा के अनन्तगुणमें एक दर्शन गुण है तिस दर्शन गुणकरि संसारी जीव चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशमतें नेत्रद्वारकरि रूपवन्त पदार्थ दृष्टिगोचर देखे है, तिसका नाम चक्षुदर्शन कहिए। वा शेषेन्द्रियप्रकाशः जो पाँच इन्द्रियहु का प्रकाश है सो अचक्षुः इति ज्ञातव्यः।

**भावार्थ**–नेत्र बिना स्पर्शन रसन घ्राण श्रोत मन इन करि संसारी जीव अचक्षुदर्शनावरणकर्म के क्षयोपशमतें पदार्थहु को प्रकट करै सामान्य रूप सो अचक्षुदर्शन कहिए।

इहां कोई प्रश्न करे है–दर्शन तो वस्तु को नेत्रहुकरि हो है, इहां दर्शन स्पर्शनादि पंच इन्द्रियहु करि भी कह्यो सु काहेतें ? ताको उत्तर कै जैनविषें दर्शन सामान्यज्ञान को कहै हैं यातें इन पंच इन्द्रियहु को सामान्य ज्ञानकों दर्शन कहे हैं।

अथ अवधिदर्शन के स्वरूप को कहै हैं–

**परमाणुआदिआइं अंतिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं।**
**तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं॥४५॥**

परमाणु आदि लेकरि अन्तिम स्कन्ध पर्यन्तं अन्तके महास्कन्ध मेरु आदिक पर्यन्त यानि मूर्तिद्रव्याणि तानि प्रत्यक्षं पश्यति तद् आचार्याः अवधिदर्शनं ब्रुवन्ति।

**भावार्थ–**अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशमतें संसारी जीव के अवधिदर्शन हो है, सो परमाणु तें लेकरि द्व्यणुक त्र्यणुक चतुरणुक इस भांति महास्कन्ध पर्यन्त लोक के विषें समस्त मूर्त्तद्रव्यको प्रत्यक्ष देखे है।

अथ केवलदर्शन के स्वरूप को कहै हैं–

**बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि।**
**लोयालोयवितिमिरो जो कवेलदंसणुज्जोवो॥४६॥**

बहुविध–बहुप्रकारा उद्योताः बहुविध तीव्र मन्द आद्यन्त मध्य इत्यादि भेद बहुप्रकार चन्द्रमा सूर्य रत्न अग्नि आदि भेदकरि ऐसे जु है उद्योत इस जगतविषें ते परमिते क्षेत्रे सन्ति मर्यादिका भवन्ति।

चन्द्रमा सूर्यादिक को उद्योत प्रमाण लिए है। यः केवलदर्शनोद्योतः स लोकालोकवितिमिरः अरु जो लोकालोकप्रकाशक है स केवलदर्शनोद्योतः सो केवलदर्शनको उद्योत जानना।

**भावार्थ–**केवलदर्शन समस्त लोकालोक प्रकाशक है एक समयविषें एक ही बार।

अथ दर्शनावरणकर्म की नव प्रकृति कहिए है–

**चक्खु-अचक्खू-ओही-केवलआलोयणाणमावरणं।**
**तत्तो पभणिस्सामो पण णिद्दा दंसणावरणं॥४७॥**

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलालोकानां आवरणं चक्षुदर्शनावरण १ अचक्षुदर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ केवलदर्शनावरण ४ पूर्व ही कह्यो जो चार प्रकार दर्शन तिसके आवरणतें चार प्रकार दर्शनावरणीयकर्म जानना। ततः पञ्च निद्रादर्शनावरणं प्रभणिष्यामः तिसतें आगे हम जु हैं नेमिचन्द्राचार्य ते पंचप्रकार दर्शनावरणीयकर्म कहेंगे।

**भावार्थ–**दर्शनावरणकर्म नव प्रकार है। तामें चार प्रकार कह्या, पंच प्रकार निद्रादर्शनावरण अब कहैं हैं।

**अह थीणगिद्धि णिद्दाणिद्दा य पयलपयला य।**
**णिद्दा पयला एवं णवभेयं दंसणावरणं॥४८॥**

अथ स्त्यानगृद्धिः निद्रानिद्रा तथैव प्रचलाप्रचला निद्रा प्रचला च एवं नवभेदं दर्शनावरणं

ज्ञेयम्। स्त्यानगृद्धि निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला निद्रा अरु प्रचला ये पंच प्रकार निद्रा है। इनहिं मिलाये दर्शनावरणीयकर्म नव प्रकार जानना। स्त्याने स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः जिसके उदयतें स्वप्नविषें विशेष बल प्रगट होय है सो स्त्यानगृद्धि निद्रा जाननी। यदुदयान्निद्राया उपरि उपरि प्रवृत्तिः सा निद्रानिद्रा, जिसके उदयतें-निद्रा के ऊपर फेर भी निद्रा आवे सो निद्रानिद्रा कहिए। यदुदयादात्मा पुनः पुनः प्रचलयति सा प्रचला-प्रचला, जिसके उदयतें आत्मा बारंबार चले सो प्रचलाप्रचला जाननी। यदुदयान्मदखेदक्लमविनाशार्थं शयनं तन्निद्रा, जिसके उदयतें मद खेद थकान आदिके दूर करने को सोइए सो निद्रा जाननी। या आत्मानं प्रचलयति सा प्रचला, जिसके उदयतें जीव बैठ्या बैठ्या ऊँघै, हालै सो प्रचला जाननी। ऐसे नव प्रकार दर्शनावरणकर्म पंच निद्रा मिलि करि भया।

अथ स्त्यानगृद्धि आदिकहु कालविशेषकरि कहै हैं—

**थीणुदएणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जंपदि वा।**
**णिद्दाणिद्दुदएण य ण दिट्ठिमुग्घाडिदुं सक्को॥४९॥**

स्त्यानगृद्ध्युदयेन उत्थापिते सत्यपि स्वपिति कर्म करोति जल्पति च स्त्यानगृद्धि के उदयतें उठावते संते भी सोवे अरु काम करे अरु बोले। स्त्यानगृद्धिनिद्रा के उदय सोवते संते बहुल बल होय, अरु दारूण कर्म करे १। निद्रानिद्रोदयेन दृष्टिं उद्घाटयितुं न शक्नोति, निद्रानिद्राकर्म के उदय दृष्टिको उघाडि न सके। जिस जीव को निद्रानिद्रा कर्म का आवरण है सो भी बहुत प्रकारकरि जगाइए तो भी नेत्रनिको खोलि न सके २।

**पयलापयलुदएण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।**
**णिद्दुदए गच्छंतो ठाइ पुणो वइसदि पडेदि॥५०॥**

प्रचलाप्रचलोदयेन लाला वहन्ति, पुनः अङ्गानि चलन्ति प्रचलाप्रचला निद्रा के उदयतें मुखतें लाल बहे अरु सोवते अंग हाथ पांव चल्या करे ३। निद्रोदयेन गच्छन् तिष्ठति, स्थितः उपविशति पतति च, निद्राकर्म के उदय है जो सो जगाइ करि ले चलिए तो भी खड़ा होय रहे, बहुरि बैठे अरु पड़ि जाय है।

**पयलुदएण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेदि सुत्तो वि।**
**ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं॥५१॥**

प्रचलोदयेन जीवः ईषदुन्मील्य स्वपिति, प्रचलाकर्मके उदयतें जीव थोड़ी-सी आँखि खोलि सोवै। सुप्तोऽपि ईषदीषज्जानाति सोवते संते भी थोड़ी-थोड़ी जानै, मुहुर्मुहः मन्दं स्वपिति बारंबार थोड़ा सोवै।

**भावार्थ—**जिस जीव के प्रचला को उदय है सो कछू आंखि खोले सोवै, जो कोई बात करै तिसे हू जानै, अरु थोड़ा सोवै बारंबार।

इहां कोई पूछै—दर्शनावरणकर्म तो सो कहावै जो दर्शनको आच्छादै। निद्राकर्म दर्शनावरण में

गिण्या सु किस वास्ते ? ताको उत्तर-कै जब पांचों को उदय है तब दर्शनगुण आवरण हो है, तिस वास्ते दर्शनावरणीय में गिण्या।

अथ आधी गाथा में वेदनीयकर्म को स्वरूप कहे हैं, आधी गाथा में मोहनीयकर्म को स्वरूप कहे हैं–

**दुविहं खु वेयणीयं सादमसादं च वेयणीयमिदि।**
**पुण दुवियप्पं मोहं दंसण-चारित्तमोहमिदि॥५२॥**

द्विविधं खलु वेदनीयम् दोय प्रकार वेदनीयकर्म जानना। सातं असातं वेदनीयमिति सातावेदनीय और असातावेदनीय। पुनः द्विविकल्पं मोहनीयम्-दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयमिति। बहुरि दोय प्रकार मोहनीयकर्म जानना-दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इस भेदकरि। तिनमें दर्शनमोहनीय तीन प्रकार है अरु चारित्रमोहनीय पच्चीस प्रकार है।

अथ त्रिप्रकार दर्शनमोह के स्वरूप को कहें हैं–

**बंधादेगं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच्च तिविहं खु।**
**दंसणमोहं मिच्छं मिस्सं सम्मत्तमिदि-जाणे॥५३॥**

बन्धादेकं मिथ्यात्वम् बन्धकी अपेक्षातें दर्शनमोह अकेला मिथ्यात्वस्वरूप होई। उदयं सत्त्वं प्रतीत्य त्रिविधं खु, उदय अरु सत्ता की प्रतीति करि तीन प्रकार है निश्चय करि। तद्दर्शनमोहं मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यक्त्वं इति त्रिविधं जानीहि। सो दर्शनमोह मिथ्यात्व १ मिश्र २ सम्यक्त्व ३ इन भेदकरि तीन प्रकार जानहु।

**भावार्थ—**जब दर्शनमोह बन्धे, तब एक मिथ्यात्वरूप होय बन्धे है। जब उदय हो है तब तीन प्रकार होइ परिणमै है। अरु सत्ता की अपेक्षा तीन प्रकार है। जिस कर्म के उदय वीतराग-प्रणीत मार्गतें विमुहे, अरु सप्त तत्त्व की श्रद्धा नहीं करे है, अरु हिताहित विचारने को असमर्थ है सो मिथ्यात्व कहिए। अरु जिसके उदय मिथ्यात्व अरु सम्यक्त्वरूप परिणाम समकाल वेदै सो मिश्रमिथ्यात्व कहिए। जिसके उदय वीतराग-प्रणीत तत्त्व को तो यथावत् श्रद्धा करे, परन्तु कछू भेद राखे कै पार्श्वनाथ की पूजातें संकट टलै हैं, शान्तिनाथ की पूजातें शान्ति हो है; इस जाति का कहुं कहुं भेद राखै तिसका नाम सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व कहिए है।

अर्थ दृष्टान्त कहिए है–

**जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।**
**मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीणदव्वकमा॥५४॥**

यन्त्रेण कोद्रवं वा जैसे चाकी करि कोदों दल्या संता तीनि प्रकार हो है, तथा प्रथमोपशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण मिथ्यात्वद्रव्यं त्रिधा भवति तैसे ही प्रथम उपशमसम्यक्त्वरूप जु है भाव सोई भया यंत्र तिसकरि मिथ्यात्वद्रव्य तीन प्रकार है। भावार्थ–जब प्रथम उपशम-सम्यक्त्व हो है

तब *मिथ्यात्वद्रव्य तीन प्रकाररूप होय परिणमै है-मिथ्यात्व १ मिश्रमिथ्यात्व २ सम्यक्त्वमिथ्यात्व ३ इन तीन रूप होय परिणमै है। कीदृशं त्रयम् ? असंख्यातगुणहीनद्रव्यक्रमात्। असंख्यातगुणहीन है द्रव्यकर्म जिनके। भावार्थ–मिथ्यात्व द्रव्यतें असंख्यातगुणहीन मिश्रमिथ्यात्व है, मिश्रतें असंख्यातगुणहीन सम्यक्त्वमिथ्यात्व जानना। इस भाँति इन तीन्यों में परस्पर भेद है।

अथ चारित्र मोहनीय को स्वरूप कहै हैं–

**दुविधं चरित्तमोहं कसायवेयणीय णोकसायमिदि।**
**पढमं सोलवियप्पं विदियं णवभेयमुद्दिट्ठं॥५५॥**

द्विविधं चारित्रमोहं दोय प्रकार चारित्रमोह जानना। कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीयम् एक कषायवेदनीय अरु दूजा नोकषायवेदनीय। जिस मोहकर्म के उदय सोलह कषाय वेदिए सो कषायवेदनीय कहिए। अरु जिसके उदय नोकषाय वेदइ सो नोकषायवेदनीय कहिए। प्रथमं षोडशविकल्पम् चारित्रमोहनीय सोलह प्रकार है। द्वितीयं नवभेदमुद्दिष्टम् दूसरी जु है नोकषायवेदनीय सो नव प्रकार है।

अथ सोलह प्रकार कहिए है–

**अणमप्पच्चक्खाणं पच्चक्खाणं तहेव संजलणं।**
**कोहो माणो माया लोहो सोलस कसायेदे॥५६॥**

अनन्तानुबन्धी क्रोध अनन्तानुबन्धी मान अनन्तानुबन्धी माया अनन्तानुबन्धी लोभ तथैव अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभाश्चत्वार:। तथैव प्रत्याख्यानक्रोधमानमाया-लोभाश्चत्वार:। तथैव संज्वलनचतुष्क जानना। इस ही भांति सोलह प्रकार जानना।

आगे चार प्रकार क्रोध के स्वरूप को कहै हैं–

**सिल-पुढविभेद-धूली-जलराइसमाणओ हवे कोहो।**
**णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥५७॥**

शिला-पृथ्वीभेद-धूलि-जलराजिसमान: क्रोध: शिलाभेद भूमिभेद धूलिरेखा जलरेखा समान जु क्रोध सो क्रमश: नारकतिर्यक्नरामरगतिषु उत्पादको भवति।

**भावार्थ–**पाषाणरेखासमान उत्कृष्टशक्तिसंयुक्त अनन्तानुबन्धी क्रोध जीवको नरकविषें उपजावै है। हलकरि कुवा जु है भूमिभेद तिस समान मध्यम शक्तिसंयुक्त अप्रत्याख्यान क्रोध तिर्यंचगतिको उपजावै है। धूलिरेखासमान अजघन्य शक्तिसंयुक्त प्रत्याख्यान क्रोध जीवको मनुष्यगति उपजावै है। जलरेखासमान जघन्य शक्तिसंयुक्त संज्वलन क्रोध देवगतिविषें उपजावै है।

अथ मान के स्वरूप को कहै हैं–

---

* चूँकि मिथ्यात्व ही तीन प्रकार का हो जाता है इसलिए प्रत्येक प्रकृति के साथ मिथ्यात्व जोड़कर लिखा है।

**सिल-अट्ठि-कट्ठ-वेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।**
**णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥५८॥**

शिलास्थिकाष्ठवेत्रसमानिकभेदैः अनुहरन् मानः पाषाणस्तम्भ अस्थिस्तम्भ काष्ठस्तम्भ वेत्रस्तम्भ इन समान जु है अपने भेद तिनहु करि उपमीयमान जु है अपने भेद सो जीव नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु उत्पादयति।

**भावार्थ—**पाषाणस्तम्भसमान उत्कृष्ट शक्तिसंयुक्त अनन्तानुबन्धी मान जीवको नरक-गतिविषें उपजावै है। अस्थिस्तम्भ समान मध्यमशक्ति संयुक्त अप्रत्याख्यान मान जीवको तिर्यंचगतिविषें उपजावै है। काष्ठस्तम्भसमान अजघन्य शक्तिसंयुक्त प्रत्याख्यान मान जीवको मनुष्यगतिविषें उपजावे है। वेंतसमान जघन्य शक्तिसंयुक्त संज्वलन मान जीवको देवगतिविषें उपजावे है।

अथ चार प्रकार माया के स्वरूप को कहै हैं—

**वेणुवमूलरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरुप्पे।**
**सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं॥५९॥**

वेणूपमूलोरभ्रकशृङ्गगोमूत्रक्षुरप्रसदृशी माया वांसविडा समान उत्कृष्टशक्तिसंयुक्त अनन्तानुबन्धीमाया जीव को नरकगतिविषें उपजावै है। अजाशृंगसमान मध्यमशक्तिसंयुक्त अप्रत्याख्यानमाया जीव को तिर्यंचगतिविषें उपजावै है। गोमूत्रसमान अजघन्यशक्तिसंयुक्त प्रत्याख्यानमाया जीव को मनुष्यगतिविषें उपजावे है। क्षुरप्रसमान जघन्यशक्तिसंयुक्त संज्वलनमाया जीव को देवगतिविषें उपजावे है।

अथ चार प्रकार लोभ के स्वरूपको कहै हैं—

**किमिराय-चक्क -तणुमल-हलिद्दराएण सरिसओ लोहो।**
**णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥६०॥**

कृमिराग-चक्र-तनुमल-हरिद्रारागैः सदृशः लोभः कृमिराग किरमजीरंग, चक्रमल गाडीका पइएका मल, तनुमल शरीरमल, हरिद्राराग हलदरंग इन समान जु है लोभ सो जीवको चतुर्गत्युत्पादकः क्रमतः।

**भावार्थ—**अनन्तानुबन्धी लोभ किरमजी रंग समान जीव को नरकगतिविषें उपजावे है। अप्रत्याख्यान लोभ चक्रके मल समान तिर्यंचगतिविषें उपजावे है। प्रत्याख्यान लोभ शरीरमल समान जीवको मनुष्यगतिविषें उपजावे है। संज्वलनलोभ हलदरंगसमान जीवको देवगतिविषें उपजावे है।

अथ निरुक्तिपूर्वक कषायको अर्थ कहै हैं—

**सम्मत्त-देस-सयलचरित्त-जहखादचरणपरिणामे।**
**घादंति वा कसाया चउ-सोल-असंखलोगमिदा॥६१॥**

सम्यक्त्व-देश-सकलचारित्र-यथाख्यातचरणपरिणामान् कषन्ति घ्नन्ति वा कषायाः। सम्यक्त्वपरिणाम देशसंयमपरिणाम सकलसंयमपरिणाम यथाख्यातपरिणाम इस चार प्रकार

चारित्रपरिणामहुको आच्छादै हैं तातें कषाय कहिए है। सम्यक्त्व के परिणामहु को अनन्तानुबन्धी आच्छादै, अप्रत्याख्यान अणुव्रतको आच्छादै, प्रत्याख्यान महाव्रत को आच्छादै, संज्वलन यथाख्यात को आच्छादै। जातें जीवके गुणको विनाशें, तातें ए कषाय कहिए। एते चतुः-षोडश-असंख्यातलोकमिताः, ए कषाय चार प्रकार है-१. अनन्तानुबन्धी, २. अप्रत्याख्यान, ३. प्रत्याख्यान, ४. संज्वलन इन भेद करि। बहुरि सोलह प्रकार है-अनन्तानुबन्धी आदिसों क्रोध मान माया लोभके लगाएतें। बहुरि एई कषाय असंख्यात लोकप्रमाण हैं-जातें एक-एक कषाय असंख्याते असंख्याते प्रकार है-तीव्र तीव्रतर, मध्यम मध्यमतर, मन्द मन्दतर इत्यादि भेदहु करि। अरु तो अनन्त जीवहुकी अपेक्षा देखिए तो अनन्तानन्त प्रकार है एई कषाय जातें किस ही जीवके परिणाम किस ही जीवको सर्वथा प्रकार नहीं मिले हैं, तातें परिणाम-भेदतें कषाय-भेद अनन्तानन्त भए।

अथ नव नोकषाय कहे हैं-

**हस्स रदि अरदि सोयं भयं जुगुंच्छा य इत्थि-पुंवेयं।**
**संढं वेयं च तहा णव एदे णोकसाया य॥६२॥**

हास्यं रतिः अरतिः शोकं भयं जुगुप्सा स्त्रीवेदं पुंवेदं नपुंसकवेदं च तथा नव एते नोकषाया ज्ञेयाः।

**भावार्थ—**जिसके उदय हास्य प्रगटे सो हास्य कहिए। जाके उदय इष्टविषें प्रीति सो रति। जो इष्टविषें अप्रीति सो अरति। जिसके उदय उदासीनता सो शोक। अरु जाके उदय अपने दोष आच्छादे पर-दोष प्रगट करे सो जुगुप्सा। जाके उदय स्त्रीके भाव परिणमै सो स्त्रीवेद। जाके उदय पुरुषभाव परिणमै सो पुरुषवेद। जाके उदय नपुंसक भाव परिणमै सो नपुंसकवेद।

आगे तीन वेदके लक्षण हैं-

**छादयदि सयं दोसे णियदो छाददि परं पि दोसेण।**
**छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिदा इत्थी॥६३॥**

यस्मात् या स्वयं दोषैः आच्छादयति जिस कारणतें जो जीव आपको मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, क्रोध मान माया लोभ इत्यादि सूक्ष्म स्थूल परिणामहु करि आच्छादे स्वयं, बहुरि नियतः परं अपि दोषैः छादयति निश्चयकरि और जीवको भी कोमल स्नेह दृष्टि इत्यादि कुटिल अवस्थाकरि वशि करिके हिंसा असत्य स्तेय कुशील परिग्रहादिक पापहुविषै लगायकरि दोषहु करि आवरे, तस्मात् सा छादनशीला स्त्री वर्णिता। तातें सो आच्छादन स्वभाव धारे सो स्त्रीवेद है।

**भावार्थ—**जो आपको दोषनिकरि आच्छादे, अरु और को भी; सो द्रव्यपुरुष वा द्रव्य-नपुंसक वा द्रव्यस्त्री होय। लिंग दोय प्रकार है-एक द्रव्यलिंग, एक भावलिंग। द्रव्यलिंग सो कहावे जिस बाह्य लक्षणकरि पुरुषलिंग-संस्कार नपुंसक मिश्रत्व संस्कार इति द्रव्यलिंग। भावलिंग जु है परिणामहुकरि जिसके जैसे परिणाम होय, तिसको तैसे वेद कहिए। तिसतें जाको आच्छादन स्वभाव होय सो भाव

स्त्रीवेद कहिए।

आगे भावपुरुष कहिए है–

**पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं।**
**पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो॥६४॥**

यस्मात् पुरुगुणभोगान् शेते जिसतें पुरुगुण जु हैं बड़े-बड़े गुण ज्ञान दर्शन चारित्रादि, अरु बड़े ही भोग जिन विषें प्रवर्ते हैं, लोके पुरुगुणं कर्म करोति अरु जिसतें लोकविषें बड़े गुण-संयुक्त क्रिया को करे है, पुरु उत्तमः, औरनिते बड़ा है उत्तम है, तस्मात् स पुरुषः वर्णितः, तिसते सो पुरुष कहिए है।

**भावार्थ–**जो बड़े गुण बड़े भोग-प्रधान क्रियाविषें प्रवर्ते सो द्रव्यलिंग होय, वा स्त्री वा पुमान् वा नपुंसक होय सो भावपुरुषवेद कहिए।

आगे भावनपुंसक कहिए है–

**णेवित्थी णेव पुमं णउंसवो उहयलिंगवदिरित्तो।**
**इट्ठावग्गिसमाणयवेयणगरुओ कलुसचित्तो॥६५॥**

यः नैव स्त्री नैव पुमान् स नपुंसकः, जो नाहीं स्त्री नाहीं पुरुष सो नपुंसक कहिए। कैसा है नपुंसक ? उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः, पूर्व ही कहे स्त्री-पुरुषके दोय प्रकार लक्षण तिनतें रहित है। पुनः कीदृशः ? इष्टकाग्निसमानः पंजाएकी आगि-समान है, सदा उस्वासादि करि हृदय-मध्य जला करे है। पुनः वेदनागुरुकः, काम की पीड़ा करि पूर्ण है। पुनः किम् ? कलुषितचित्तः कलंकित मन है।

**भावार्थ–**जो इन लक्षण-संयुक्त है सो पुरुष होय, वा स्त्री वा संढ द्रव्य, नपुंसकवेदी कहिए।

आगे आयुकर्म चार प्रकार है–

**णारयतिरियणरामर-आउगमिदि चउविहो हवे आऊ।**
**णामं वादालीसं पिंडापिंडप्पभेएण॥६६॥**

नारकतिर्यङ्नरामरायुष्यमिति चतुर्विधं आयुर्भवेत्, नरक-आयु, तिर्यंच-आयु, मनुष्य-आयु, देवायु इस प्रकार करि आयुकर्म चार प्रकार है। पिण्डापिण्डप्रभेदेन नामकर्म द्वाचत्वारिंशद्विधम्, पिण्ड-अपिण्ड प्रकृतिनिके भेदकरि नामकर्म बयालीस प्रकार है।

**भावार्थ–**नामकर्म में कई एक पिण्डप्रकृति है, तिनके भेदकरि बयालीस प्रकार है। अरु जुदी-जुदी जो गणिए तो तेराणवै होइ।

आगे प्रथम ही पिण्डप्रकृति कहिए है–

**णेरइय-तिरिय-माणुस-देवगइ त्ति हवे गई चदुधा।**
**इगि-वि-ति-चउ-पंचक्खा जाई पंचप्पयारेदे॥६७॥**

नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिः इति गतिः चतुर्धा भवेत्, जिस कर्म के उदय चार गतिनिकी

प्राप्ति होय सो गतिनामकर्म कहिए। एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चाक्षा इति जातिः पञ्चप्रकारा भवेत्। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार करि जातिनामकर्म पंच प्रकार है।

**भावार्थ—**जिस कर्म के उदय एकेन्द्रियादि पञ्चेन्द्रिय प्रकार जीव होहि, सो पंच प्रकार जातिनामकर्म कहिए।

**ओरालिय-वेगुव्विय-आहारय-तेज-कम्मण सरीरं।**
**इदि पंच सरीरा खलु ताण वियप्पं वियाणाहि॥६८॥**

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजसकार्मणशरीराणि इति खलु पञ्च शरीराणि भवन्ति।

**भावार्थ—**जिस कर्म के उदय पंच प्रकार शरीर होय सो शरीरनामकर्म कहिए। तेषां विकल्पं जानीहि। तिनि पंच प्रकार शरीरनि के भेद अगली गाथा में जानना।

**तेजा-कम्मेहि तिए तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं।**
**कयसंजोगे चदुचदु चदुदुग एक्कं च पयडीओ॥६९॥**

तैजस-कार्मणाभ्यां त्रये संयोगे कृते सति चतस्रः चतस्रः प्रकृतयः, औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरविषें तैजस-कार्मणकरि संयोग किये संते चार-चार प्रकृति होय हैं।

**भावार्थ—**औदारिक वैक्रियिक आहारक इन शरीरनिको तैजस-कार्मणसों लगाइए तो बारह शरीर के भेद होइ हैं-औदारिक-औदारिक १ औदारिक-तैजस २ औदारिक-कार्मण ३ औदारिक-तैजस-कार्मण ४। वैक्रियिक-वैक्रियिक १। वैक्रियिक-तैजस २। वैक्रियिक-कार्मण ३। वैक्रियिक-तैजस-कार्मण ४। आहारक-आहारक १। आहारक-तैजस २। आहरक-कार्मण ३। आहारक-तैजस-कार्मण ४।

तैजस-कार्मणेन संयोगे कृते सति द्वे प्रकृती। तैजस कार्मणके साथ संयोग करनेपर दोय प्रकृति होय हैं-तैजस-तैजस १। तैजस-कार्मण २। कार्मणेन संयोगे कृते सति एका प्रकृतिः कार्मण-कार्मण १। एवं शरीरस्य पञ्चदश भेदा भवन्ति। इस प्रकार शरीरनि के पंचदश भेद जानहु। औदारिक-औदारिक, वैक्रियिक-वैक्रियिक, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण इनपंच भेदनि को छांडि दश भेद तिरानवै प्रकृतिमें मिलाइए तो एक सौ तीन भेद होय। जातें तिरानवे प्रकृति में औदारिकादि पुनरुक्त ते न गिण्या, यातें एक सौ तीन नामकर्म के भेद जानने।

**भावार्थ—**जो चक्रवर्ती भोग-निमित्त और औदारिकशरीर को करै सो औदारिक-औदारिकशरीर कहिए १। औदारिकशरीर-संयुक्त मुनि जब तैजस पुतला निकासे तहाँ औदारिक-तैजस कहिए २। जब मरण-समय आत्मप्रदेश निकासे और गति स्पर्शनेको अपने औदारिकशरीरके ग्रहे संते जब औदारिक-कार्मण कहिए ३। औदारिक-संयुक्त मुनिके तैजस-शरीरको निकासनेको अपर शरीर साथ ही कार्मण शरीर जब निकसै, तहाँ औदारिक-तैजस-कार्मण कहिए ४। देव-नारकीके अपने वैक्रियिकशरीरतें

और विकुर्वणा जु करे क्रीड़ानिमित्त, शत्रुमारण-निमित्त सो वैक्रियिक-वैक्रियिक कहिए ५। देव वा नारकी बहुत क्रोधके वशतें तैजसरूप आत्म-प्रदेशनिको बाहिरै निकासे, तहां वैक्रियिक-तैजस कहिए ६। देव वा नारकी मरण-समय और गति स्पर्शनेको आत्म-प्रदेश निकासे अपने वैक्रियिकशरीरको ग्रहे संते, तहां वैक्रियिक-कार्मण कहिए ७। देव वा नारकी बहुत क्रोध-वशतें जब तैजसरूप आत्मप्रदेश कार्मणरूप आत्म-प्रदेशसंयुक्त निकसै, तहां वैक्रियिक-तैजस-कार्मण कहिए ८। मुनीश्वरको पदार्थ-सन्देह दूर करण-निमित्त जु आहारक पुतला निकसै है सो जहां जाय, तहां जो केवली न पावे, तब ओही आहारक और आहारकपुतला को निकासे केवलीके दर्शनको; तहां आहारक-आहारक कहिए ९। संदेह दूर करण-निमित्त निकस्यो जु आहारक सु मार्गमें उपसर्गवन्त मुनि को देखिके तिसके सुखीकरण-निमित्त शुभतैजस करै; तहां आहारक-तैजस कहिए १०। जहां मुनिके आहारकरूप आत्माके प्रदेश साथि कार्मणरूप प्रदेशनिकसें, तहाँ आहारक-कार्मण कहिए ११। जहाँ मुनिके शरीरतें निकसो जु आहारक सु किस ही एकको दुःखी देखिके तिसके सुखीकरण-निमित्त तैजस करे तिस तैजसके साथ ही कार्मणरूप आत्म-प्रदेश निकसे, तहां आहारकतैजस-कार्मण कहिए १२। शत्रु मित्र न पावे तब ही तैजस और तैजस करे तहां तैजस-तैजस कहिए १३। मुनिशरीरतें निकसे जु कार्मणप्रदेश संयुक्त आहारक तैजस-शरीरतें आहारकतें और आहारक तैजसतें और तैजस जब करे तहां तैजस-कार्मण कहिए १४। अरु कार्मण कहिए……………। एवं पंचदस प्रकार शरीरनिके भेद जानने।

आगे पंचबन्धन कहे हैं—

**पंच य सरीर बंधणणामं ओराल तह य वेउव्वं।**
**आहार तेज कम्मण सरीरबंधण सुणाममिदि॥७०॥**

पञ्चैव शरीरबन्धनम् बन्धननामकर्म पंच प्रकार जानहु। सो कौन-कौन ? औदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणबन्धनमिति नामकर्मणः।

**भावार्थ—**जिस नामकर्मके उदयतें पंच प्रकार शरीर-योग्य वर्गणाहु को परस्पर जीवसों बन्ध होय सो बन्धन कहिए। सो पंच प्रकार शरीरबन्धन जानहु।

आगे पंच प्रकार संघातनामकर्म कहे हैं—

**पंच संघादणामं ओरालिय तह य जाण वेउव्वं।**
**आहार तेज कम्मणसरीरसंघादणाममिदि॥७१॥**

पंचप्रकारं संघातनामकर्म जानीहि, पंच प्रकार संघातनामकर्म जानहु। औदारिकं तथैव वैक्रियिकं आहारकं तैजसं कार्मणं शरीरसंघातनामकर्मेति। औदारिकसंघात वैक्रियिकसंघात आहारकसंघात तैजससंघात कार्मणसंघात यहु पंचप्रकार नामकर्म जानहु।

**भावार्थ—**जिस नामकर्मके उदयकरि पंचप्रकार शरीर-योग्य वर्गणा परस्पर जीवसों अत्यन्त

सघन, विवर-रहित एकमेक होहि बैठें सो संघात नामकर्म पंचप्रकार कहिए। जो कोई पूछे कै बन्धन-संघातमें भेद कहा ? ताको उत्तर-कै बन्धन तो सो जु औदारिकादि शरीरनि वर्गणाहु को अत्यन्त सघन होय करि बन्ध नाहीं होय। अरु अत्यन्त सघन विवर-रहित औदारिकादि वर्गणाहुको जो बन्ध होहि सो संघात कहिए। बन्धन-संघातमें यह भेद है।

आगे षट्प्रकार संस्थाननामकर्म कहिए है—

**समचउरं णिग्गोहं सादी कुज्जं च वामणं हुंडं।**
**संठाणं छब्भेयं इदि णिद्दिट्ठं जिणागमे जाण॥७२॥**

जिनागमे इति निर्दिष्ट षट्भेदं संस्थानं जानीहि, सिद्धान्तविषें यह छह प्रकार संस्थान-नामकर्म दिखाया है। सु कौन-कौन ? समचतुरस्रं न्यग्रोधं स्वातिकं कुब्जं वामनं हुण्डकमिति। समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिकसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, हुण्डकसंस्थान यह छह प्रकार संस्थानकर्म जानहु।

**भावार्थ—**जिस नामकर्मके उदयकरि औदारिकादिशरीरहुकी आकृति होय सो षट्प्रकार संस्थान कहिए। सर्वांग शुभलक्षणसंयुक्त अरु सुन्दर जो होय सो समचतुरस्रसंस्थान कहिए १। जो शरीर ऊपरतें विस्तीर्ण होय, तलेतें संकुचित होय सो न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहिए २। जो शरीर तलेतें विस्तीर्ण होय, अरु ऊपरतें संकुचित होय सो स्वातिक संस्थान कहिए ३। वामइ कैसी आकृति होय सो इस शरीर को नाम बाल्मीकि कहिए। जो शरीर सब जांगेतें छोटा होय सो वामन कहिए ४। जिस शरीरमें हाथ पाँव शिर दीर्घ होय अरु पिण्ड छोटा होय सो कुब्जकसंस्थान कहिए ५। जो शरीर सब जांगा गठीला होय पत्थरहु की भरी गौण कीसी नाई सो हुण्डकसंस्थान कहिए ६।

अथ तीन प्रकार आङ्गोपाङ्ग कहे हैं—

**ओरालिय वेगुव्विय आहारय अंगुवंगमिदि भणिदं।**
**अंगोवंगं तिविहं परमागमकुसलसाहूहिं॥७३॥**

परमागम कुशलसाधुभिः अङ्गोपाङ्गं त्रिविधं भणितम् परमागम जु है द्वादशाङ्ग सिद्धान्त तिस विषें प्रवीण जु हैं मुनि तिनहुते अङ्गोपाङ्गनामकर्म तीन प्रकार कहो है सो औदारिकवैक्रियिकाहारका-ङ्गोपाङ्गमिति।

**भावार्थ—**जिस कर्म के उदय करि दोय चरण, दोय हाथ, नितम्ब, पीठ, उर अरु शिर ये अष्ट अंग होंय, अरु अंगुलि कर्ण नासिका नेत्रादि उपांग होय, सो अंगोपांग नामकर्म कहिए। जातें तीन शरीरमें अंग अरु उपांग पाइए। तैजस अरु कार्मण इन दोनोंको अंग अरु उपांग नाहीं, तातें तीन प्रकार होइ।

आगे गाथा में अंगोपांग कहे हैं—

**णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसो य।**
**अट्ठे व दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं॥७४॥**

देहे अष्टौ एव अङ्गानि सन्ति। शरीर में आठ ही अंग होते हैं। ते कवन ? नलकौ तथा बाहू नितम्बः पृष्ठः उरः शीर्षः दोनों पांव, दोनों हस्त, नितम्ब, पीठ, छाती, अरु शिर से आठ अंग जानहु। तु देहे शेषाणि उपाङ्गानि। बहुरि इन अष्टांगनिते जु शेष अवर ते अंगुलि, कर्ण, नासिका, नेत्रादि ते उपांग कहिए।

आगे दोय प्रकार विहाय नामकर्म कहे हैं–

**दुविहं विहायणामं पसत्थ अपसत्थगमणमिदि णियमा।**
**वज्जरिसहणारायं वज्जं णाराय णारायं॥७५॥**

द्विविधं विहायोगतिनामकर्म। विहायोगतिनामकर्म दोय प्रकार है। ते सु कौन-कौन ? प्रशस्ताप्रशस्तगमनमिति नियमात्। प्रशस्तगमन और अप्रशस्तगमन ये दोय प्रकार निश्चयतें जानहु।

**भावार्थ–**जिस कर्म के उदय जीव विहाय कहिए आकाश तिसविषें गमनकरे सो विहायोगतिनामकर्म कहिए। जो भली चालि होय सो प्रशस्तगति कहिए। जो बुरी चालि होय सो अप्रशस्तगति कहिए। अथ अर्धगाथामें षट् संहनन कथ्यते-वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच नाराच।

अगली गाथामें और तीन संहनन कहे हैं–

**तह अद्धं णारायं कीलिय संपत्तपुव्वसेवट्टं।**
**इदि संहडणं छव्विहमणाइणिहणारिसे भणिदं॥७६॥**

तथैव अर्धनाराचं कीलकं असम्प्राप्तासृपाटिकासंहननं इति षड्विधं संहननं अनादि-निधनार्षे भणितम्। तथा अर्धनाराच, कीलक और असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन। यह छह प्रकार संहनन अनादि अनन्त जु है द्वादशाङ्ग सिद्धान्त तिसविषें कहा है।

**भावार्थ–**जिस कर्म के उदय से छह संहनन होंय सो संहनन नामकर्म कहिए है।

आगे इन षट्संहनन को स्वरूप छह गाथा में कहे हैं–

**जस्स कम्मस्स उदए वज्जमयं अट्ठि रिसह णारायं।**
**तं संहडणं भणियं वज्जरिसहणारायणाममिदि॥७७॥**

यस्य कर्मण उदये वज्रमयानि अस्थि-ऋषभ-नाराचानि भवन्ति जिस कर्मके उदय होते संते वज्रमय अतिदुर्भेद्य अस्थि कहिए हाड, ऋषभ कहिए वेष्टन, नाराच कहिए कीले ए होहिं, तत्संहननं वज्रर्षभनाराचनाम इति भणितम्। सो वज्रर्षभनाराच संहनन कहिए है।

**भावार्थ–**जिस कर्मके उदय वज्रमय अस्थि होय, अरु उन ही अस्थिनि ऊपर वज्रमय वेष्टन होय, अरु उन ही हाडनिविषें वज्रमय कीले होय सो वज्रर्षभनाराचसंहनन जानना।

अथ वज्रनाराचसंहनन कहे हैं–

**जस्सुदये वज्जमयं अट्ठी णारायमेव सामण्णं।**
**रिसहो तस्संहडणं णामेण य वज्जणारायं॥७८॥**

यस्योदये वज्रमयं अस्थि, नाराचं सामान्यः ऋषभः जिस कर्मके उदय संते वज्रमई हाड अरु कील होइ अरु ऋषभ सामान्य होय, वज्रमई न होय, तत्संहननं नाम्ना वज्रनाराचम् वह संहनन वज्रनाराच कहिए।

**भावार्थ—**जिस कर्मके उदय वज्रमई हाड होय, अरु हाडनिविषें वज्रमई कील है; हाडनिके ऊपर वज्रमई वेष्टन न होइ सो वज्रनाराच कहिए।

आगे नाराचसंहनन कहिए हैं—

**जस्सुदये वज्जमया हड्डा वो वज्जरहिदणारायं।**
**रिसहो तं भणियव्वं णारायसरीरसंहडणं॥७९॥**

यस्योदये वज्रमया हड्डाः वज्ररहितौ नाराच-ऋषभौ जिस कर्मके उदय वज्रमई हाड होय, नाराच अरु ऋषभ ये वज्रतें रहित होय; तत् नाराचसंहननं भणितव्यम् वह नाराच-संहनन कहना चाहिए।

आगे अर्धनाराचसंहनन कहिए हैं—

**वज्जविसेसणरहिदा अट्ठीओ अद्धविद्धणारायं।**
**जस्सुदये तं भणियं णामेण य अद्धणारायं॥८०॥**

यस्योदये वज्रविशेषणरहितानि अर्धनाराचानि अस्थीनि भवन्ति जिस कर्मके उदय वज्रविशेषणतें रहित अरु अर्ध है नाराच कील जिन विषें ऐसे हाड होहिं तन्नाम्ना अर्धनाराचं भणितम् उसका नाम अर्धनाराच कहिए है।

**भावार्थ—**जिस कर्मके उदय शरीर विषें वज्रतें रहित हाड होय, कील भी वज्रतें रहित होय; परन्तु कील-हाडहुकी सन्धि विषें आधी वेधी होहिं सो अर्धनाराचसंहनन कहिए।

अथ कीलकसंहनन कहै हैं—

**जस्स कम्मस्स उदये अवज्जहड्डाइं खीलियाइं व।**
**दिढबंधाणि हवंति हु तं कीलियणामसंहडणं॥८१॥**

यस्य कर्मण उदये दृढबन्धानि कीलितानि इव अवज्रास्थीनि भवन्ति जिस कर्म के उदय दृढ़ है बन्ध जिन विषें ऐसे कीले सो वज्रतें रहित हाड होहि तत् कीलकनामसंहननम् वह कीलकनाम संहनन कहावे है।

**भावार्थ—**जिस शरीर विषें हाडकी सन्धिहु विषें कील तो न हो, परन्तु कील दईसी होय, अतिदृढ़ होय सो कीलकनाम संहनन कहिए है।

आगे फाटकसंहनन कहे हैं–

**जस्स कम्मस्स उदये अण्णोण्णमसंपत्तहड्डुसंधीओ।**
**णरसिरबंधाणि हवे तं खु असंपत्तसेवट्टं॥८२॥**

यस्य कर्मण उदये अन्योन्यं असम्प्राप्तहड्डुसन्धयो भवन्ति जिस कर्मके उदय परस्पर आनि मिली हाडहुकी सन्धि होय नर-शिराबद्धाः नर कहिए नले सिरा कहिए नाडी तिनकरि बंधो होय हाडकी सन्धि तत् खु असम्प्राप्तासृपाटिकम् सो प्रकट असम्प्राप्तासृपाटिक कहिए।

**भावार्थ–**जिस शरीर विषें हाडहुकी सन्धि ते मिली न होय, सब हाड जुदे-जुदे होहि, अरु नले नाडी इनकरि दृढ़ बंधे होंय सो फाटकशरीरसंहनन कहिए।

आगे इन शरीरहुतें कौन-कौन गति होय सो कहै हैं–

**सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलो त्ति।**
**तत्तो दुजुगलजुगले कीलियणारायणद्धो त्ति॥८३॥**

सृपाटिकेन आदितः चतुःकल्पयुगलपर्यन्तं गम्यते फाटकसंहननकरि आदितें लेकरि चार स्वर्गहुके युगपर्यन्त जाइए हैं। ततस्तु द्वियुगले कीलकनाराचाभ्याम् तिसतें ऊपर दोय युगल अरु दोय युगलपर्यन्त कीलक अरु अर्धनाराचकरि जाइए यही क्रमकरि।

**भावार्थ–**फाटाकसंहननवालो जो बहुत शुभ क्रिया करे तो पहलेतें लेकर आठवें स्वर्गताईं जाय। कीलकसंहननवालो पहलेतें बारहवें स्वर्गताईं जाय। अरु अर्धनाराचवालो पहलेतें लेकरि सोलहवें स्वर्गताईं जाये।

**गेविज्जाणुदिसाणुत्तरवासीसु जंति ते णियमा।**
**तिदुगेगे संहडणे णारायणमादिगे कमसो॥८४॥**

नाराचादिकाः त्रिद्विकैकसंहननाः जो नाराचादिक तीन दोय एक संहनन हैं ते क्रमतः ग्रैवेयकानुदिशानुत्तरवासिषु नियमात् यान्ति ते अनुक्रमतें नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंच अनुत्तरविमानहु विषें निश्चयकरि जाय हैं।

**भावार्थ–**नाराच, वज्रनाराच अरु वज्रर्षभनाराच इन तीनों संहननवाले जीव शुभ क्रियातें पहले स्वर्गतें लेकर नव ग्रैवेयक ताईं जाय। वज्रनाराच अरु वज्रर्षभनाराच इन दोनों संहननवालो जीव नव अनुदिश विमानताईं जाय। वज्रवृषभनाराचसंहननवालो जीव पंच अनुत्तरविमान अरु मोक्षपर्यन्त ताईं जाय है।

**सण्णी छस्संहडणो वच्चइ मेघं तदो परं चावि।**
**सेवट्टादीरहिदो पण-पण-चदुरेगसंहडणो॥८५॥**

षट्संहननः संज्ञी मेघां व्रजति, छह संहननसंयुक्त जु है सैनी जीव सो मेघा जु है तीसरो नरक

तहाँ ताईं जाय। ततः परं चापि, तिसतें आगे सृपाटिकादिरहिताः पञ्च-पञ्च-चतुरेक-संहननाः स्फाटिकादिसंहननतें रहित जु है पंच पंच चार एक संहननतें क्रमतें क्रमतें अगले नरग ताईं जाहि। फाटकसंहनन वाले जीव पापक्रियातें तीसरे नरक ताईं जाहि। बहुरि फाटक बिना पाँच संहननवाले जीव पंचमें नरकताईं जाहि। फाटक-कीलक बिना चार संहननवाले जीव छठे नरकताईं जाहि। पंचसंहननबिना वज्रवृषभनाराचवालो जीव सातवें नरकताईं जाहि।

**घम्मा वंसा मेघा अंजण रिट्ठा तहेव अणिवज्झा।**
**छट्ठी मघवी पुढवी सत्तमिया माघवी णाम॥८६॥**

घम्मा, वंशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्टा तथैव अणिवज्झा अनुबन्ध्या षष्ठी मघवी पृथ्वी सप्तमी माघवी नाम। पहले नरक को नाम घम्मा, दूसरे नरक को नाम वंशा, तीसरे नरक को नाम मेघा, चौथे को नाम अंजना, पंचमी अरिष्ठा तैसे ही अनादि कालतें लेकरि रूढ़ि नाम छठी नरकपृथ्वी का नाम मघवी कहिए, सातवीं पृथ्वी को नाम माघवी कहिए।

**भावार्थ**—नाम जु है सु दोय प्रकार होय-एक तो नाम सार्थक है, दूसरो रूढ़ नाम है। तिसतें इन सातहु नरकको नाम रूढ़ कहे है। जो कोई पूछै कै घम्मा नाम पहले नरक का काहेतें कहा ? ताको उत्तर-कै रूढ़ नाम है इनको अर्थ नरकहु को नाहीं मिले है। ए ऐसे ही अनादिकालतें रूढ़ि नाम सिद्धान्तविषें कहे हैं।

**मिच्छापुव्वदुगादिसु सग-चदु-पणठाणगेसु णियमेण।**
**पढमादियाइ छत्तिगि ओघेण विसेसदो णेया॥८७॥**

मिथ्यात्वापूर्वद्विकादिषु सप्त-चतुः-पञ्चस्थानेषु मिथ्यात्व आदिक सात गुणस्थानविषें अरु अपूर्वकरण की दोय श्रेणी तिनविषें उपशमश्रेणीके चार गुणस्थानविषें क्षपकश्रेणीके पंच गुणस्थानविषें, नियमेन प्रथमादिकाः षट्त्र्येकाः संहननाः भवन्ति निश्चय करि अरु क्रमतें प्रथमादिक संहनन छह तीन एक होहि। ओघेन विशेषतश्च ज्ञेया सामान्यताकरि अरु विशेषता करि। इस भाँति गुणस्थानविषें छहों संहनन जानने।

**भावार्थ**—पहले गुणस्थानतें लेकरि सातवें गुणस्थानताईं छहों संहनन पाइए। अपूर्वकरणविषें, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय इन विषें वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच ये तीन संहनन पाइए। क्षपकश्रेणी में पंच गुणस्थान-अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणकषाय सयोगिकेवली इनविषें एक वज्रवृषभनाराच ही संहनन पाइए। इस भाँति सामान्यता करि कहे, विशेषकरि जानने।

ए छह संहनन कहाँ-कहाँ पाइए यह कहै हैं—

**वियलचउक्के छट्ठं पढमं तु असंखआउजीवेसु।**
**चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो विय छत्तिगेक्कसंहडणी॥८८॥**

विकलचतुष्के षष्ठम्, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असेनी पंचेन्द्रिय इस विकलचतुष्कविषें स्फाटक संहनन होय। प्रथमं तु असंख्येयायुर्जीवितेषु पहलो जु है वज्रवृषभनाराचसंहनन सो जिन जीवहुकी असंख्यात वरसकी आयु है। **भावार्थ—**भोगभूमियां कुभोगभूमियां मनुष्य-तिर्यंच अरु मानुषोत्तर पर्वततें आगे नागेन्द्रपर्वतपर्यन्त असंख्यातद्वीपनिविषें जे तिर्यंच तिनकी असंख्यात वर्षनिकी आयु है तिसतें इनके वज्रवृषभनाराच प्रथम संहनन होई। चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठेषु षट्-त्र्येकसंहननानि भवन्ति चतुर्थकालविषें छहों संहनन होय। पंचमकालविषें अर्धनाराच, कीलक, स्फाटक ए तीन्यों संहनन होय। छठे कालविषें स्फाटिक ही एक संहनन होय।

**सव्वविदेहेसु तहा विज्जाहर-मिलिच्छ मणुय-तिरिएसु।**
**छस्संहडणा भणिया णगिंदपरदो य तिरिएसु॥८९॥**

सर्वविदेहेषु तथा विद्याधर-म्लेच्छमनुष्य-तिर्यक्षु षट्संहनना भणिताः समस्त ही विदेहक्षेत्रविषें, तैसे ही विद्याधरनिविषें, म्लेच्छखंडके मनुष्य-तिर्यंचहु विषें छहों संहनन कहे हैं। नागेन्द्रपर्वतपरतः तिर्यक्षु च नागेन्द्रपर्वततें परे तिर्यंचनिविषें भी छहों संहनन होय।

**भावार्थ—**मानुषोत्तरपर्वततें आगे नागेन्द्रपर्वततें उरें जितने द्वीप समुद्र हैं तिनविषें तो वज्रवृषभनाराचसंहनन होय। परन्तु नागेन्द्र पर्वततें परें स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्त छहों संहनन जानने।

**अंतिमतिगसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।**
**आदिमतियसंहडणं णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥९०॥**

कर्मभूमिमहिलानां अन्तिमत्रिक संहननानां उदयोऽस्ति कर्मभूमिके जु हैं स्त्री तिनके अन्तके तीन संहननको उदय है।

**भावार्थ—**अर्धनाराच, कीलक, स्फाटिक ए तीन संहनन कर्मभूमिकी स्त्रीनिके हो हैं। पुनः तासां आदिमत्रिकसंहननं नास्ति इति जिनैर्निर्द्दिष्टम्। भावार्थ—कर्मभूमिकी स्त्रीनिके आदिके तीन संहनन न होय, यह वार्ता श्री वृषभनाथने दिखाई है।

आगे नामकर्मकी और प्रकृतिनिको कहे हैं—

**पंच य वण्णा सेदं पीदं हरिदरुणकिण्णवण्णमिदि।**
**गंधं दुविहं लोए सुगंधदुग्गंधमिदि जाणे॥९१॥**

श्वेतं पीतं हरितं अरुणं कृष्णवर्णं इति पञ्च वर्णा भवन्ति। भावार्थ—जिस कर्मके उदय शरीरनिको श्वेतादिक पंच वर्ण होहि, ते पंच वर्ण प्रकृति जाननी, लोके गन्धो द्विविधः सुगन्धः दुर्गन्ध इति जानीहि।

**भावार्थ**—जिस कर्मके उदय शरीरविषें गन्ध होय सो दोय प्रकार गन्धकर्म कहिए।

**तित्तं कडुय कसायं अंबिल महुरमिदि पंचरसणामं।**
**मउगं कक्कस गुरुलघु सीदुण्हं णिद्ध रुक्खमिदि॥९२॥**

तिक्तं कटुकं कषायं आम्लं मधुरं इति पञ्चप्रकारं रसनामकर्म भवति तिक्त कहिए चिरपड़ा - मिरचादि, कटुक-निम्बादि, कषाय-कसैला आमलादि, आम्ल-खट्टा अरु सलोनां यह पंच प्रकार रसनामकर्म जानना।

**भावार्थ**—जिस कर्मके उदय पंच प्रकार रस होय सो रसनामकर्म कहिए। मृदु कर्कशं गुरु लघु शीतोष्णं स्निग्ध-रूक्षमिति स्पर्शनाम अष्टविकल्पं भवति मृदु कहिए कोमल, कर्कश-कठोर, गुरु-भारी, लघु-हलका, शीत-उष्ण, स्निग्ध-चिकना और रूक्ष-रूखा यह आठ प्रकार स्पर्शकर्म जानना। जिस कर्मके उदय कोमलादिक ए आठ प्रकार स्पर्श होहि, सो स्पर्शनाम कहिए।

**फासं अट्ठवियप्पं चत्तारि आणुपुव्वि अणुकमसो।**
**णिरयाणू तिरियाणू णराणु देवाणुपुव्वि त्ति॥९३॥**

स्पर्शनाम अष्टविकल्पम् पहिली गाथामें कह्या जु स्पर्श सो आठ प्रकार है। आगै आनुपूर्वी कहिए है-नारकानुपूर्वी तिर्यंचानुपूर्वी नरानुपूर्वी देवानुपूर्वी इति चतस्रः आनुपूर्व्यः भवन्ति।

**भावार्थ**—जिस कर्मके उदयतें जिस गतिविषें जाने वाला जीव होय, तिस गतिविषें ले जाहि सो आनुपूर्वी नाम कहिए।

**एदा चउदस पिंडा पयडीओ वण्णिदा समासेण।**
**एत्तो अपिंडपयडी अडवीसं वण्णइस्सामि॥९४॥**

एताः चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः समासेन वर्णिताः ए चउदह पिंडप्रकृति संक्षेपताकरि कहीं। अतः अष्टाविंशतिः अपिण्डप्रकृतीः वर्णयिष्यामि।

**भावार्थ**—चउदह प्रकृतिके कहे अनन्तर अट्ठाईस प्रकार अपिंडप्रकृति आगे हम नेमिचन्द्र कहेंगे।

**अगुरुलहुग उवघादं परघादं च जाण उस्सासं।**
**आदावं उज्जोवं छप्पयडी अगुरुछक्क मिदि॥९५॥**

अगुरुलघुकं उपघातं परघातं उच्छ्वासं आतपं उद्योतं च एताः षट् प्रकृतयः अगुरुषट्कं इति जानीहि। **भावार्थ**—जिस कर्मके उदय लोहके पिंडकी नाईं न तो तले ही गिरे, और अर्कतूलकी नाईं ऊपरको जाय नाहीं सो अगुरुलघु नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय आत्मघातको करे ऐसे बड़े सींग, बड़े स्तन, भारी उदर इत्यादि दुःखदाई अंग होहि सो उपघातकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय और जीवको

घात करे ऐसे श्रृंग, नख, डाढ इत्यादि अंग होहि सो परघात नामकर्म कहिए। जिस कर्म के उदय उच्छ्वास होय तो उच्छ्वासनामकर्म कहिए। आतप अरु उद्योत इन दोनों का अर्थ आगिली गाथामें कहेगा। इन छह प्रकृतिको नाम अगुरुषट्क जानना सिद्धान्तविषें।

**मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा।**
**आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोवो॥९६॥**

मूलोष्णप्रभः अग्निः, मूल उष्ण होत संते प्रभा उष्ण है जिसकी सो अग्नि कहिए। भावार्थ—मूल जिस विषें उष्णता है, अरु प्रकाश करे है, सो तो अग्नि कहिए। उष्णसहितप्रभः आतपः भवति, उष्णतासहित है प्रभा जिसकी सो आतप है।

**भावार्थ—**जाको मूल तो उष्ण न होय, पर प्रभा गरम होय सो आतप कहिए। स आदित्यादिषु भवति, सो आतपनामकर्मको उदय सूर्यके बिम्बविषें है। भावार्थ—जिस कर्मका उदय मूल [शीतल] सो आतपनामकर्म सूर्य के बिम्ब में जो एकेन्द्रिय पर्याप्त पृथ्वीकाय तिर्यंच हैं, तिन विषें उदयरूप पाइए है। जातें सूर्यबिम्ब मूलतें उष्ण नहीं, उष्णप्रभासंयुक्त है। इहाँ कोई प्रश्न करे है कै आतपनामकर्मके उदय तो सूर्य बिम्बविषें कह्यो तुमने, अग्निविषें उष्णता अरु प्रकाश यह किस कर्मके उदय है ? ताको उत्तर—कै थावरनामकर्म जु है सो पंच प्रकार है पृथ्वीकायादिभेदकरि। तिनमें अग्निकाय नामकर्म है, तिस कर्मके उदयकरि अग्निविषें उष्णता अरु प्रकाश है। उष्णरहितप्रभ उद्योतः, उष्णतारहित प्रभा जिसकी सो उद्योत कहिए।

**भावार्थ—**जिसकर्मके उदय गरम-रहित प्रभा होय, सो उद्योतनाम प्रकृति कहिए। सो उद्योत चन्द्रबिम्ब के पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय तिर्यंचनिविषें पाइए, अरु जुगणूविषें पाइए।

**तस थावरं च बादर सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं।**
**पत्तेयसरीरं पुण साहारणसरीर थिरमथिरं॥९७॥**
**सुह असुह सुहग दुब्भग सुस्सर दुस्सर तहेव णायव्वा।**
**आदिज्जमणादिज्जं जसा अजसकित्ति णिमिण तित्थयरं॥९८॥**

त्रसप्रकृति १ थावरप्रकृति २ बादरप्रकृति ३ सूक्ष्म ४ पर्याप्त ५ अपर्याप्त ६ प्रत्येकशरीर प्रकृति ७ साधारणशरीरप्रकृति ८ स्थिर ९ अस्थिर १० शुभ ११ अशुभ १२ सुभग १३ दुर्भग १४ सुस्वर १५ दुःस्वर १६ आदेय १७ अनादेय १८ यशःकीर्त्ति १९ अयशःकीर्त्ति २० निर्माण २१ तीर्थंकर २२ ए बाईस प्रकृति जानना। आगे इनको अर्थ कहे हैं-जिस कर्मके उदय द्वीन्द्रियादि जातिविषें जन्म होय सो त्रसनामकर्म कहिए। जिसके उदय एकेन्द्रियजातिविषें जन्म होय सो थावरनामकर्म कहिए। जिस कर्म के उदय और करि घात्या जाय ऐसा थूल शरीर होय सो बादरनामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय और करि घात्या न जाय सो सूक्ष्म नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वास-निःश्वास

भाषा मन ये छह पर्याप्ति होय सो पर्याप्त नामकर्म कहिए। जिस कर्मके उदय कोई पर्याप्ति पूर्ण न कर पावे, अन्तर्मुहूर्तकाल ताईं रहे पाछे मरे सो अपर्याप्तनामकर्म कहिए। इहाँ कोई पूछै है कै पर्याप्त, अपर्याप्त, अलब्धिपर्याप्त इनके भेदकरि जीव तीन प्रकार है। अपर्याप्तनामकर्मके उदय अलब्धपर्याप्त कहिए। अपर्याप्त जीव कौन कर्मके उदय कहावे है ? यहु कहो। ताको उत्तर–कै पर्याप्तजीव भी पर्याप्त नामकर्मके उदयतें कहावैं। कोई जीव पर्याप्त होना है जब ताईं उस जीवकी सब पर्याप्ति पूरी नहीं हो है तब ताईं वह जीव अपर्याप्त कहिए है। जब सब पर्याप्ति पूरी करे तब वही जीव पर्याप्त कहिए। तिसतें अपर्याप्त जीव पर्याप्त नामकर्म के उदयतें कहिए। अपर्याप्तनामकर्म के उदयतें अलब्धपर्याप्त होय है। जिसकर्मके उदयतें एक जीवके भोगको कारण एक शरीर होय सो प्रत्येकशरीरनामकर्म कहिए। जिसकर्म के उदयतें अनेक जीवहुके भोगको कारण एक शरीर होय सो साधारणनामकर्म कहिए। जिसकर्म के उदय सात धातु उपधातु अपने–अपने स्थानके विषें स्थिरताको करें सो स्थिरनामकर्म कहिए। जिसके उदय धातु–उपधातु स्थिरता को न करें सो अस्थिर नामकर्म कहिए। जाके उदय सुन्दर मनोज्ञ मस्तकादि भले अंग होय सो शुभनामकर्म कहिए। जाके उदय बुरे अंग होय सो अशुभ नामकर्म कहिए। जाके उदय सबको प्रीति उपजै, सुखवंत होय सो सुभगनामकर्म कहिए। जाके उदय सबको बुरा लागै, दुःखी–दरिद्री होय सो दुर्भगनामकर्म कहिए। जा कर्मके उदय भला स्वर होय सो सुस्वरनामकर्म कहिए। जाके उदय बुरा स्वर होय सो दुःस्वर–नामकर्म कहिए। जाके उदय प्रभासंयुक्त शरीर होय सो आदेयनामकर्म कहिए। जाके उदय प्रभारहित शरीर होय सो अनादेयकर्म कहिए। जाके उदय यश होय सो यशनामकर्म कहिए जाके उदय अपकीर्त्ति होय सो अयशनामकर्म कहिए। जा कर्म के उदय जागे की जागे प्रमाण लिए इन्द्रियादिकहुकी सिद्धि होय सो निर्माणनामकर्म कहिए। सो निर्माणनामकर्म दोय प्रकार होय–एक स्थाननिर्माण एक प्रमाणनिर्माण। जो चक्षुरादिक इन्द्रियहुके स्थान निर्माये सो स्थाननिर्माण कहिए। जो इन्द्रियहुके प्रमाण करे सो प्रमाणनिर्माण कहिए। जा कर्मके उदय तीर्थंकरपदकी विभूति होय सो तीर्थंकरनामप्रकृति कहिए।

आगे त्रसद्वादशक कहे हैं–

**तस बादर पज्जत्तं पत्तेयसरीर थिर सुहं सुभगं।**
**सुस्सर आदिज्जं पुण जसकित्ति णिमिण तित्थयरं॥९९॥**

त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्त्ति, निर्माण, तीर्थंकर इन बारह प्रकृतिको नाम त्रसद्वादशक सिद्धान्तविषें कह्यो है। जहाँ कहीं 'त्रस बारस' ऐसा कहें, तहाँ ए बारहु प्रकृति जाननी।

आगे स्थावरदशक कहे हैं–

**थावर सुहुममपज्जत्तं साहारणसरीरमथिरं च।**
**असुहं दुब्भग दुस्सर णादिज्जं अजसकित्ति त्ति॥१००॥**

स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्त्ति सिद्धान्तविषें इतनी प्रकृतिको नाम 'स्थावरदशक' कहिए है।

**इदि णामप्पयडीओ तेणवदी उच्चणीचमिदि दुविहं।**
**गोदं कम्मं भणिदं पंचविहं अंतरायं तु॥१०१॥**

इति नामप्रकृतयः त्रिनवतिरुक्ताः पिण्डके भेदकरि ए नामप्रकृति तेराणवै कही। गोत्रकर्म द्विविधं भणितम्-उच्चगोत्रं नीचगोत्रमिति, एक ऊँच गोत्र, एक नीच गोत्र इस भाँति दोय प्रकार गोत्रकर्म कह्यो। जिस कर्मके उदय लोकपूज्य ऊँच कुलविषें जन्म होय सो ऊँच-गोत्र कहिए। जा कर्म के उदय लोक-निन्दनीय कुलविषें जन्म होय सो नीच गोत्र कहिए। यह दोय प्रकार गोत्रकर्म कह्यो। अन्तरायकर्म पंचप्रकार है ताहि कहिए है—

**तह दाण लाभ भोगुवभोगा वीरिय अंतरायमिदि णेयं।**
**इदि सुव्वुत्तरपयडी अडदालसयप्पमा होंति॥१०२॥**

तथा दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्यान्तरायं इति ज्ञेयम् यह पंच प्रकार अन्तरायकर्म जानहु।

**भावार्थ—**जिस कर्मके उदय दीया चाहै अरु देय न सकै सो दानान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय लीया चाहै, पर लाभ न होय सो लाभान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय भोग चाहे पर भोगको पावे नाहीं सो भोगान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय उपभोगको चाहे, पर उपभोग होय नाहीं सो उपभोगान्तराय कहिए। जा कर्मके उदय शक्तिको चाहै अरु बल न होय सो वीर्यान्तराय कहिए। इस प्रकार सर्व उत्तर प्रकृति एकसौ अड़तालीस है। सबकौ वर्णन कह्या।

आगे नामकर्महुकी प्रकृतिनिको अन्तर्भाव दिखावै हैं—

**देहे अविणाभावी बंधण संघाद इदि अबंधुदया।**
**वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदया॥१०३॥**

देहे अविनाभाविनौ बन्धन-संघातौ इति अबन्धोदयौ। देह जु है पंच प्रकार नामकर्म ताके विषें बन्धन पंच प्रकार संघात पंच प्रकार अविनाभावी है, इस वास्ते इन्हें अबन्धोदय प्रकृति कहिए।

**भावार्थ—**देह नामकर्म पंच प्रकार है, बन्धन-संघात ए भी पंच प्रकार है। तिसतें जहाँ जिस देहका बन्ध उदय है तहाँ तिस देह सम्बन्धी बन्धन-संघातको बन्ध उदय होय है। जातें देह बन्ध उदय बिना इनको बन्ध उदय न पाइए। तातें बन्धन संघातकी दश प्रकृति अबन्धोदय कहिए। इस वास्ते पंच शरीरविषें ए दश प्रकृति गर्भित भईं। वर्णचतुष्के अभिन्ने गृहीते चतस्रः बन्धोदयाः वर्णचतुष्क जु है बीस प्रकृति ते अभेदविवक्षाकरि ग्रहे संते चार बन्धोदय प्रकृति कहिए।

**भावार्थ—**वर्णचतुष्ककी बीस प्रकृतिनिको बन्ध अरु उदय विषें जो भेद न करिए तो चार प्रकृति ग्रहणी, तातें सोलह प्रकृति अबन्धोदय कहिए। चार प्रकृति बन्धोदय कहिए। जातें इन चार ही प्रकृतिनिविषें सोलह प्रकृति गर्भित भईं, तातें बन्ध-उदयविषें जुदी न गिनिए, चार ही लीजे।

आगे आगली गाथामें अबन्धोदय प्रकृति कितनी, ऐसा ठीक कहै हैं—

**वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त सम्ममिच्छत्तं।**
**होंति अबंधा बंधण पण पण संघाद सम्मत्तं॥१०४॥**

एताः अबन्धप्रकृतयः भवन्ति, ए अट्ठावीस प्रकृति अबन्ध हैं। कौन-कौन ? वर्णाश्चत्वारः रसश्चत्वारः गन्ध एकः स्पर्शाः सप्त सम्यग्मिथ्यात्वं बन्धनानि पञ्च संघाताः पञ्च सम्यक्त्वमिति। वर्ण ४, रस ४, गन्ध १, स्पर्श ७, मिश्रमिथ्यात्व १, बन्धन ५, संघात ५, सम्यक्त्वप्रकृति १ ए अट्ठावीस प्रकृति जाननी।

**भावार्थ—**ए अट्ठावीस प्रकृति बन्धयोग्य प्रकृतिनि विषें नाहीं गिनी हैं तातें अबन्धप्रकृति कहिए।

बन्धयोग्य प्रकृति कितनी, यह कहै हैं—

**पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।**
**दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ॥१०५॥**

एताः बन्धप्रकृतयः भणिताः। ये बन्धप्रकृतियाँ कही हैं। ते कौन-कौन ? पञ्च नव द्वे षड्विंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः द्वे पञ्च ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ९, वेदनीयकी २, मोहनीयकी २६, नामकी ६७, गोत्रकी २, अन्तरायकी ५ ए सर्व एकसौ बीस बन्धयोग्य कहिए।

**भावार्थ—**सर्व प्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं, तिनमें बन्धप्रकृति एक सौ बीस १२० जाननी। जातें मिथ्यात्वविषें मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व ये दोनों गर्भित हैं 'बन्धादेगं मिच्छं' इस गाथामें पूर्व ही कहेके न्यायकरि। तातें दोय प्रकृति न गिनी मोहकर्ममें बन्ध प्रकृतिनिविषें। और अभेदविवक्षाकरि पंच बन्धन, पंच संघात ये दसों प्रकृति भी बन्धप्रकृतिनिविषें नहीं गिनी। जातें पंच शरीरके बन्ध-उदय साथ ही इन दसोंका बन्ध-उदय है, तातें नामकर्ममें पंच शरीर ही विषें ये दसों प्रकृति गर्भित कही। और अभेद विवक्षाकरि वर्ण गन्ध रस स्पर्श इन चार प्रकृतिविषें वर्ण ४ रस ४ गन्ध १ स्पर्श ७ ए सोलह प्रकृति गर्भित भई, तातें ए सोलहु प्रकृति बन्धप्रकृतिविषें नाहीं गिनी। नामकर्म में बन्धन संघात की १० प्रकृति, वर्ण चतुष्ककी सोलह प्रकृति इन २६ प्रकृति बिना नामकर्म की सड़सठि ६७ प्रकृति जाननी। तातें मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व, बन्धन ५ संघात ५ वर्णचतुष्ककी १६ इन अट्ठावीस प्रकृति बिना १२० प्रकृति बन्ध-योग्य जाननी।

आगे उदयप्रकृति कितनी यह कहै हैं—

**पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।**
**दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ उदयपयडीओ॥१०६॥**

एता उदयप्रकृतयः भणिताः इतनी उदयप्रकृतिसिद्धान्तविषें कहिए हैं। कौन-कौन ? ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की २, अन्तराय की ५ ये एक सौ बाबीस उदयप्रकृति जाननी।

**भावार्थ—**जितनी बन्धप्रकृति कही पूर्व गाथा में, तितनी ही उदयप्रकृति जाननी। पर विशेष इतनी-वहां २६ प्रकृति मोह की ग्रही, इहाँ अट्ठाईस। जातें दर्शनमोह की प्रकृति ३ उदयकालविषें जुदी-जुदी उदय होय है। तिसतें उदयप्रकृति १२२ जाननी।

आगें भेद-अभेद विवक्षाकरि बन्धप्रकृति उदयप्रकृति कितनी हैं यह कहै हैं—

**भेदे छादालसयं इदरे बन्धे हवंति वीससयं।**
**भेदे सव्वे उदये वावीससयं अभेदम्हि॥१०७॥**

भेदे बन्धे षट्चत्वारिंशच्छतं प्रकृतयः भवन्ति भेद बन्धविषें १४६ प्रकृति होय हैं। भेदे उदये सर्वाः भेद-उदयविषें १४८ प्रकृति होय हैं। अभेदोदये द्वाविंशत्युत्तरशतम् अभेदो-दयविषें १२२ प्रकृति होय हैं। [अभेदे बन्धे विंशत्युत्तरशतं प्रकृतयः भवन्ति] अभेदबन्ध में एक सौ बीस प्रकृति होय हैं।

**भावार्थ—**बन्धन ५, संघात ५, वर्णचतुष्ककी १६ इन संयुक्त १४६ बन्धप्रकृति जाननी। भेदविवक्षाकरि मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन बिना। इहां कोई प्रश्न करै है कै भेदविवक्षाकरि १४६ बन्धप्रकृति कही, १४८ किस वास्ते न कही ? मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन संयुक्त ? ताको उत्तर-कै दर्शनमोहके बन्ध होते अकेला मिथ्यात्व ही बंधे हैं। 'जंतेण कोद्दवं वा' इस गाथाके न्यायकरि। उदयकालविषें तीन प्रकार होय है तातें भेदकरि १४६ बन्धप्रकृति कहीं। बन्धन ५ संघात ५ वर्णचतुष्ककी १६ इनको बन्ध भी होय है, उदय भी होय है। बन्धन-संघात बन्ध उदय शरीरनामकर्मके साथि हो है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इन चारके गहेतें वे सोलह आवे हैं, तातें अभेदबन्धमें १२० कही, भेदबन्धमें १४६ कही। मिश्रमिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व ए जु दोनों बन्धमें नाहीं, तातें इन विषें भेद-अभेदविवक्षा नाहीं। बन्धन-संघात १० वर्णचतुष्क की १६ इनमें भेदविवक्षा जाननी।

आगें आगिली गाथामें सत्ताप्रकृति कितनी यह कहै हैं—

**पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणवदी।**
**दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ सत्तपयडीओ॥१०८॥**

क्रमेण एताः सत्त्वप्रकृतयः भणिताः यथाक्रम ए सत्ताप्रकृति सर्वज्ञदेवने कही हैं। ते कौन कौन? ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की ९३, गोत्र

की २, अन्तराय की ५ ये एक सौ अड़तालीस सत्ताप्रकृति जानना। जो कर्मको अस्तित्व सो सत्ता जानना। अस्तित्व सब ही प्रकृतिनिको है तातें १४८ सत्ता प्रकृति कहीं।

आगें घातिया कर्मनिविषें देशघातियाकी कितनी प्रकृति सर्वघातिया कितनी प्रकृति यह कहै हैं–

**केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायवारसयं।**
**मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्मि॥१०९॥**

एताः प्रकृतयः सर्वघातिन्यः इतनी प्रकृति सर्वघातिया कहिए। से कौन–कौन ? केवलज्ञानावरण १, केवलदर्शनावरण १, निद्रादि पंच ५, बहुरि अनन्तानुबन्धी चतुष्क ४, अप्रत्याख्यानचतुष्क ४ प्रत्याख्यानचतुष्क ४ ये कषायद्वादशक, बहुरि एक मिथ्यात्व। अबन्धमें सम्यग्मिथ्यात्व और उदय–सत्ताविषें सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघाती है। जातें दर्शनमोहके बन्धविषें मिथ्यात्व ही बन्ध हैं, तातें उदय–सत्ताविषें सर्वघाती है। इस प्रकार २१ प्रकृति सर्वघातिया कहीं।

आगे छब्बीस प्रकृति देशघातिया कहै हैं–

**णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं।**
**णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ॥११०॥**

ज्ञानावरणचतुष्कं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानावरणानि यह ज्ञानावरणचतुष्क जानना। त्रिदर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनानि यह तीन प्रकार दर्शनावरण। सम्यक्त्वं च बहुरि सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व संज्वलनं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यह संज्वलनचतुष्क, नव नोकषाय हास्य, रति, अरति, शोकादि ए नव नोकषाय, विघ्नानि पञ्च दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय यह पाँच प्रकार अन्तरायकर्म जानना। एताः षड्विंशतिः प्रकृतयः देशघातिन्यः ए छब्बीस प्रकृति देशघातिया जानना।

**भावार्थ–**जो प्रकृति आत्मा के सर्व गुण को घातें ते सर्वघातिया कहिए। जे प्रकृति गुण के एक देशको घातें ते देशघातिया होय। आगे विशेषकरि कहै हैं–सर्व केवलज्ञानगुण के आच्छादनेंतें केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। सर्व केवलदर्शनगुण के आवरणतें केवलदर्शनावरण अरु पंच निद्रा ए सर्वघातिया हैं। यहां जो कोई प्रश्न करे–कै पंच प्रकार निद्राकर्म तुमने सर्वघाती कहे सो इन पंच प्रकारमें किन ही एक निद्राको उत्कृष्ट विपाक है कै नाहीं ? एकको जघन्य विपाक है, इनमें बहुत भेद है। ए सबै सर्वघातिया कही सु किस कारणतें ? जिनके जघन्य विपाक हैं ते देशघातियामें कही होती ? ताको उत्तर–जिसकाल निद्राकर्म उत्कृष्ट वा जघन्य उदय है, ता काल आत्माके सर्व दर्शनको आच्छादै है। प्रचलानिद्रा सबतें जघन्य है, जब इसका भी उदय है, तब आत्माके दर्शनगुण प्रगट नाहीं पाइए है। तातें पंच हु निद्रा सर्वघातियाकर्म कही। सकलचारित्रगुणके आच्छादनतें अनन्तानुबन्धीचतुष्क, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्क ए बारह प्रकृति सर्वघाती है। जातें अनन्तानुबन्धीचतुष्कके उदय सकलचारित्र नाहीं है, अप्रत्याख्यानके उदय होते

सकलचारित्र नाहीं। अरु प्रत्याख्यानके भी उदय होते सकलचारित्र नाहीं तातें सकलचारित्रगुण को आच्छादै है सो सर्वघाती कहिए। संज्वलनचतुष्क, नव नोकषाय ए चारित्रके एकदेशको आच्छादै हैं, जातें इन तेरह प्रकृतिके उदय होते सकलचारित्र पाइए है, तातें ए तेरह प्रकृति देशघाती आगिली गाथामें कहिजी। इहाँ कोई प्रश्न करे कै तुम पूर्व ही यो कही है जो सर्वगुणको आच्छादै सो सर्वघाती है, जो गुणके एक देशको आच्छादै सो देशघाती है। इहाँ आत्माके यथाख्यातचारित्र गुण ही सर्व है, इसको संज्वलनचतुष्क अरु नव नोकषाय ए आच्छादै है, तातें ए तेरह प्रकृति सर्वघातिया कहो, और अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकृति देशघाती कहो ? ताको समाधान–कै आत्मामें चारित्रनाम गुण है, तिस चारित्रकी सर्वशक्तिको अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय आच्छादै है, ताहीकी देशशक्तिको संज्वलन अरु नोकषाय आच्छादै हैं, तातें बारह कषायके गये सकलचारित्र होय है। यथाख्यातचारित्रको यह अर्थ जानना–जैसा शुद्धात्माविषें चारित्रगुण कह्या है तैसा ही होना ताको नाम यथाख्यातचारित्र कहिए। बारह प्रकृतिके गये सकलचारित्र कहिए है, यथाख्यातरूप नाहीं, जातें देशशक्ति आच्छादित है। जब तेरह वे भी जाय हैं तब वहीं सकलचारित्र यथाख्यातरूप होय है। तातें आत्माविषें चारित्रगुण जानना। यथाख्यात चारित्र ऐसा जो कहिए है सो सकलचारित्रकी अपेक्षाकरि; जातें सकल प्रधानगुण आच्छादै है तातें मिथ्यात्व सर्वघाती जानो, जातें याके उदय आत्माका यथार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनगुण प्रगट नाहीं होय है। मिश्रमिथ्यात्व भी सर्वघाती है, जातें मिश्रमिथ्यात्व के उदय असत्य पदार्थविषें समान श्रद्धान है, तातें मिश्रमिथ्यात्व जात्यन्तर सर्वघाती कहिए। ए इकवीस प्रकृति इस भाँति सर्वघाती जाननी। आगे देशघातीनिकी विशेषता कहै हैं–मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान ये ज्ञानके अंश हैं, तातें इनको जे प्रकृति आच्छादैं ते देशघाती कहिए। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये दर्शन गुणके अंश हैं, इनके आच्छादनेतें चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण देशघातिया कहिए। जातें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्वका चतुर्थगुणस्थानतें सप्तमगुणस्थान ताईं उदय है, सम्यक्त्वको मलिन करै है, नाश नाहीं करै है, तातें सम्यक्त्वगुणके देश आच्छादनतें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व देशघाती जानना। जातें चारित्रके देशको आच्छादै हैं, तातें संज्वलनचतुष्क देशघाती कहिए। जातें अन्तरायकर्म जीवके वीर्यगुणके देश ही को आच्छादै है, सर्व वीर्यगुण घातवे को असमर्थ है, तातें अन्तरायकर्म की पंच प्रकृति देशघातिया कहिए। इस भाँति छब्बीस प्रकृति देशघाती कही।

आगे एकसौ अड़तालीस प्रकृति में कितनी प्रशस्त हैं, कितनी अप्रशस्त हैं यह भेद कहने को प्रथम ही अप्रशस्त प्रकृति कहे हैं–प्रशस्त नाम भली प्रकृति का है, अप्रशस्त बुरी प्रकृति का नाम है।

**सादं तिण्णेवाऊ उच्चं सुर-णरदुगं च पंचिदी।**<br>
**देहा बंधण संघादंगोवंगाइं वण्णचऊ॥११॥**<br>
**समचउर वज्जरिसहं उवघादूण गुरुछक्क सग्गमणं।**<br>
**तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था॥११२॥**

सातं सातावेदनीय, त्रीणि आयूंषि देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु ये तीन आयुकर्म, उच्चं ऊंचगोत्र, नर-सुरद्विकं मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रियं पञ्चेन्द्रियजाति, देहाः पञ्च औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्मण-शरीर यह पंच प्रकार शरीर, बन्धनानि पञ्च औदारिकबन्धन, वैक्रियिकबन्धन, आहारकबन्धन, तैजसबन्धन, कार्मणबन्धन यह पंच बन्धन, संघातानि पञ्च औदारिकसंघात, वैक्रियिकसंघात, आहारकसंघात, तैजससंघात, कार्मणसंघात यह पंचसंघात, अंगोपांगानि त्रीणि औदारिकांगोपांग, वैक्रियिकांगोपांग, आहारकांगोपांग, यह तीन प्रकार अंगोपांग, वर्णचतुष्कं शुभवर्ण, शुभरस, शुभगंध, शुभस्पर्श यह वर्णचतुष्क, समचतुरस्रं समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभं वज्रवृषभनाराचसंहनन, उपघातोनागुरुषट्कं उपघात-प्रकृतिविना अगुरुषट्ककी पंच प्रकृति, अगुरुलघु १ परघात २ उच्छ्वास ३ आतप ४ उद्योत ५ एवं पंच प्रकृति, त्रसद्वादशकं त्रस १ बादर २ पर्याप्त ३ प्रत्येक ४ स्थिर ५ शुभ ६ सुभग ७ सुस्वर ८ आदेय ९ यशःकीर्त्ति १० निर्माण ११ तीर्थंकर १२ ये त्रस बारह; एताः अष्टषष्टिः प्रकृतयः शस्ताः भवन्ति ये अड़सठ प्रकृति प्रशस्त है, इनको नाम पुण्य प्रकृति कहिए। द्विचत्वारिंशत् प्रकृतयः अभेदविवक्षायां प्रशस्ताः ये बयालीस प्रकृति प्रशस्त जाननी। जातें वर्णचतुष्ककी बीस प्रकृति अभेदविवक्षामें चार गिनै हैं। अरु बन्धन-संघातकी दश प्रकृति पंच देहविषें गर्भित हैं, तातें इन छब्बीस प्रकृति बिना अभेदविवक्षातें बयालीस जाननी।

आगें अप्रशस्त प्रकृति कहैं हैं–

**घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरय-तिरियदुग जादी।**
**संठाण-संहदीणं चदु पण पणगं च वण्णचऊ॥११३॥**
**उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु।**
**बंधुदयं पडि भेदे अडणवदि सयं दु चदुरसीदिदरे॥११४॥**

घातीनि चत्वारि चार घातियाकर्म अप्रशस्त हैं, ज्ञानावरणकी ५ दर्शनावरणकी ९ मोहनीयकी २८ अन्तरायकी ५ ये घातियानिकी ४७ प्रकृति, नीचं नीचगोत्र, असातं असातावेदनीय, नरकायुः नारक-आयु, नरकद्विकं नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्द्विकं तिर्यंचगति तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, जातयश्चतस्रः एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय यह चार प्रकार जाति, संस्थानानि पञ्च-न्यग्रोधपरिमंडल स्वाति कुब्जक वामन हुंडक ये पंच संस्थान, संहननानि पञ्च-वज्रनाराच नाराच अर्धनाराच कीलक सृपाटिक ये पंच संहनन, वर्णचतुष्कं अशुभवर्ण ५ अशुभगन्ध १ अशुभरस ५ अशुभस्पर्श ८ यह वर्णचतुष्क, उपघातं उपघात, असद्गमनं अप्रशस्तगति, स्थावरदशकं स्थावर १ सूक्ष्म २ अपर्याप्त ३ साधारण ४ अस्थिर ५ अशुभ ६ दुर्भग ७ दुःस्वर ८ अनादेय ९ अयशःकीर्त्ति १० ये स्थावरदशक, एताः अप्रशस्ताः ये १०० प्रकृति अप्रशस्त जाननी। एताः बन्धोदयौ प्रति भेदेन अष्टनवतिः शतं च भवन्ति ये ही अप्रशस्तप्रकृति बन्ध अरु उदयप्रति भेदविवक्षाकरि अट्ठानवै अरु सौ होय हैं। भावार्थ–भेद बन्धविषें ९८

भेदोदयविषें १०० अप्रशस्त प्रकृति हैं, जातें बन्धकालविषें दर्शनमोह मिथ्यात्वरूप ही बन्ध है तातें मिश्रमिथ्यात्व सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन दोय बिना अट्ठानवै प्रकृति भेदबन्धविषें कहीं, जातें उदयकालविषें दर्शनमोह त्रिधारूप उदय है तातें भेदोदयविषें एकसौ १०० प्रकृति कहीं। इतरे द्व्यशीतिः चतुरशीतिश्च भवन्ति, अरु एई प्रकृति इतरे अभेदविवक्षाविषें बयासी अरु चौरासी हैं। भावार्थ– अभेदबन्धविषें ८२ अभेदोदयविषें ८४ एई अप्रशस्त प्रकृति होय हैं, जातें अभेदविवक्षामें वर्णचतुष्ककी २० प्रकृतिविषें लीजे, अरु बन्धकालविषें दर्शनमोहमें मिथ्यात्व ही है तातें २ प्रकृतिबिना अभेद बन्धविषें ८२ कही। अरु अभेदोदयविषें जातें दर्शनमोहकी ३ उदय हैं, तातें वर्णचतुष्ककी १६ बिना ८४ कही।

आगे कषाय का कार्य कहे हैं–

**पढमादिया कसाया सम्मत्तं देस-सयलचारित्तं।**
**जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसा वि॥११५॥**

यतः प्रथमादिकषायाः जातें प्रथम को आदि लेकरि कषाय सम्यक्त्वं देश-सकलचारित्रं यथाख्यातं घ्नन्ति सम्यक्त्व देशचारित्र सकलचारित्र यथाख्यात इनहिं हनै है, ततः गुणनामानः भवन्ति तातें ये कषाय गुणनाम हैं यथागुण तथा नाम हैं।

**भावार्थ–**अनन्तमिथ्यात्वं अनुबध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः जातें सम्यक्त्वगुण को घातें अनन्त मिथ्यात्व को बन्ध है तातें अनन्तानुबन्धी कहिए। अ ईषत् संयमं कषन्तीत्यप्रत्याख्यानकषायाः जातें देशसंयमको हिंसहि हैं तातें अप्रत्याख्यानकषाय कहिए। प्रत्याख्यान कषन्तीति प्रत्याख्यानकषायाः जातें सकलसंयमको हिंसै है तातें प्रत्याख्यानकषाय कहिए। संयमेन समं एकीभूत्वा ज्वलन्ति संज्वलनाः, जातें यथाख्यातसंयमको हिंसै है, सकलसंयमसों एक होय करि देदीप्यमान हैं तातें संज्वलनकषाय कहिए। इस प्रकार यथागुण तथा नाम कहिए शेषाः अपि गुणनामानः भवन्ति, शेष जो हैं हास्यादि नव नोकषाय सो भी गुणनाम हैं जातें जो हास्य को प्रकट करे, सो हास्य वेदनीय है, इसी भाँति अन्य भी जानना इस प्रकार एकसौ अड़तालीस प्रकृति समस्त ही यथागुण तथा नाम जाननी।

आगे संज्वलन आदिक चार कषायको वासनाकाल कहिए है–

**अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखऽणंतभवं।**
**संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण॥११६॥**

संज्वलनादिकानां वासनाकालः संज्वलनादि लेकरि जो हैं कषाय तिनका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्तं पक्षं षण्मासं संख्यातासंख्यातानन्तभवान्तं नियमेन, अन्तर्मुहूर्त, एकपक्ष, छहमास, संख्यात, असंख्यात, अनन्त भव निश्चयकरि यथाक्रम जानना।

**भावार्थ–**कर्मोदय के अभाव होते संते जो कर्म-संस्कार रहै है ताको नाम वासनाकाल कहिए। जैसे काहू वस्तु ऊपर पुष्प राखि जो उठाय लीजे, वहाँ वासना कछुकाल ताईं रहै है, तैसे कषायकर्म के

उदय होय गये भी केतेक कालताईं संस्कार रहै है सो वासना कहिए है। संज्वलन का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त जानना। प्रत्याख्यान का वासनाकाल एक पक्ष है। अप्रत्याख्यान का वासनाकाल षट्मास है। अनन्तानुबन्धी का वासनाकाल संख्यातभव वा असंख्यातभव वा अनन्तभव ताईं जानना।

आगें पुद्गलविपाकी प्रकृति कहै हैं–

**देहादी फासंता पण्णासा णिमिण ताव जुगलं च।**
**थिर-सुह-पत्तेयदुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई॥११७॥**

देहादि-स्पर्शान्ताः पञ्चाशत् प्रकृतयः देहनामकर्म को आदि लेकरि स्पर्शनामकर्मताईं पचास प्रकृति। ते कौन हैं ? देह ५ बन्धन ५ संघात ५ संहनन ६ संस्थान ६ अंगोपांग ३ वर्ण ५ रस ५ गन्ध २ स्पर्श ८ एवं ५०। निर्माणं निर्माणप्रकृति, आतपयुगलं च आतप १ उद्योत २। स्थिर-शुभ-प्रत्येकद्विकं स्थिर १ अस्थिर २, शुभ १ अशुभ २, प्रत्येक साधारण २, अगुरुत्रिकं अगुरुलघु १ उपघात २ परघात ३ यह अगुरुत्रिक; एताः पुद्गलविपाकिन्यः ये बासठ प्रकृति पुद्गलविपाकी जाननी। पुद्गल के विषें विपाक रस है जिनका ते पुद्गलविपाकी प्रकृति कहिए। देहनामकर्म के उदयतें देह होय है, सो देह पुद्गलमयी है, तातें देहनामकर्म पुद्गलविपाकी है। या भाँति इन बासठ प्रकृतिनिका विपाक पुद्गलविषें जानना।

आगे भवविपाकी क्षेत्रविपाकी जीवविपाकी कर्म कहे हैं–

**आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ।**
**अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा॥११८॥**

आयूंषि भवविपाकीनि नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु वे चार भवविपाकी कहिए हैं, जातें इनका भव कहिए पर्याय सोई विपाक है आयुके उदय पर्याय भोगिए हैं, तातें आयुकर्म भवविपाकी कहिए। क्षेत्रविपाकीनि आनुपूर्व्याणि, नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ये चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, जातें इनका विपाक क्षेत्र है तातें क्षेत्रविपाकी हैं। अवशिष्टानि, अष्टसप्ततिः जीवविपाकीनि, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी पूर्व कहे जे कर्म एक सौ अड़तालीस प्रकृतिमध्य तिनतें बाकी रहे जे अठहत्तरि कर्म ते जीवविपाकी कहिए।

आगे ते जीवविपाकी कर्म आगिली गाथामें नाम लेकरि कहै हैं–

**वेयणिय गोद घादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं।**
**सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाईओ॥११९॥**

वेदनीय-गोत्र-घातीनि एकपञ्चाशत् सातावेदनीय असातावेदनीय २ उच्चगोत्र नीचगोत्र २ घातियाकर्म-ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ९ मोहनीय २८ अन्तराय ५ ये इक्यावन ५१। नामप्रकृतीनां सप्तविंशतिश्च नामकर्मकी प्रकृतिनिविषें सत्ताईस प्रकृति २७ इति अष्टसप्ततिः जीवविपाकिन्यः भवन्ति

ये अठहत्तरि प्रकृति जीवविपाकी होहिं, जातें इनके उदय दु:ख-सुख, ऊँच-नीच, ज्ञानावरणादि नारकादि पर्यायरूप जीव के ही परिणाम होहिं तातें जीवविपाकी ए प्रकृति कहिए।

आगें नामकर्म की सत्ताईस प्रकृति जीवविपाकी कौन-कौन, यह नाहीं जानिए हैं, इनके जानवेको गाथा कहिए है—

**तित्थयरं उस्सासं बादर पज्जत्त सुस्सरादेज्जं।**
**जस-तस-विहाय-सुभगदु चउ गइ पणजाइ सगवीसं॥१२०॥**

तीर्थकरं उच्छ्वासं बादर-पर्याप्त-सुस्वराऽऽदेय-यशस्त्रस-विहायःसुभगद्विकम् तीर्थंकर १ उच्छ्वास २ बादर ३ सूक्ष्म ४ पर्याप्ति ५ अपर्याप्ति ६ सुस्वर ७ दु:स्वर ८ आदेय ९ अनादेय १० यशःकीर्त्ति ११ अयशःकीर्त्ति १२ त्रस १३ स्थावर १४ प्रशस्तगति १५ अप्रशस्तगति १६ सुभग १७ दुर्भग १८ चतस्रः गतिः चार गतियाँ, पञ्च जातयः पाँच जातियाँ इति सप्तविंशतिः ए सत्ताईस प्रकृति नामकर्म की जीवविपाकी जाननी।

आगे ए सत्ताईस प्रकृति और क्रमकरि गाथा में कहै हैं—

**गदि जादी उस्सासं विहायगदि तसतियाण जुगलं च।**
**सुभगादी चउजुगलं तित्थयरं चेदि सगवीसं॥१२१॥**

गतयश्चतस्रः गति चार, जातयः पञ्च जातियाँ पाँच, उच्छ्वासं उच्छ्वास एक, विहायोगति-त्रसत्रयाणां युगलं च प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति २, त्रस-स्थावर २, सूक्ष्म-बादर २, पर्याप्त-अपर्याप्त २ यह त्रसत्रिक का युगल, सुभगादिचतुर्णां युगलं सुभग-दुर्भग २ सुस्वर-दु:स्वर २, आदेय-अनादेय २ यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्त्ति २ यह सुभगादि-चतुष्क का युगल, तीर्थकरं तीर्थंकरप्रकृति इति सप्तविंशतिः ए सत्ताईस प्रकृति नामकर्म की जाननी दूसरी गाथाके क्रमकरि।

ये समस्त प्रकृतिबन्ध समाप्त भया।

आगे स्थितिबन्ध कहे हैं। प्रथम ही मूलप्रकृतिनिकी स्थिति कहिए है—

**तीसं कोडाकोडी तिघादि-तिदयेसु वीस णाम-दुगे।**
**सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेत्तीसं॥१२२॥**

त्रिघातित्रितयेषु त्रिंशत् कोटाकोटी उदधयः तीन घाती-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय अरु तीसरा कर्म कहिए वेदनीय इन चार कर्मविषें उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी जाननी। नामद्विके विंशतिः नाम-गोत्रकर्मविषें बीस कोडाकोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। मोहे सप्ततिः मोहनीयकर्मविषें सत्तर कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। आयुषि शुद्धा त्रयस्त्रिंशत्। आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति शुद्ध तेतीस सागर जाननी।

आगे उत्तरप्रकृतिको स्थितिबन्ध कहे हैं—

**दुक्ख-तिघादीणोघं सादित्थी-मणुदुगे तदद्धं तु।**
**सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे य चत्तालं॥१२३॥**

दुःख-त्रिघातिनामोघवत् दुःख कहिए असातावेदनीय और तीन घातिया-ज्ञानावरण ५ दर्शनावरण ९ अन्तराय ५ इन बीस उत्तरप्रकृतिनिको स्थितिबन्ध उत्कृष्ट ओघवत् कहिए मूलप्रकृतिकी नाईं तीस कोडाकोडी जानना। तु साता-स्त्री-मनुष्यद्विकेषु तदर्धम् सातावेदनीय १ स्त्रीवेद २ मनुष्यगति ३ मनुष्यगत्यानुपूर्वी ४ इन चार प्रकृतिनिविषें तदर्धम् कहिए पहली प्रकृतिनिकी स्थितितें आधी जाननी अर्थात् १५ कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। सप्ततिर्दर्शनमोहे दर्शनमोहविषें सत्तर कोडाकोडी की स्थिति है। चारित्रमोहे चत्वारिंशत् चारित्रमोहविषें चालीस कोडाकोडी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है।

**संठाण-संहदीणं चरिमस्सोघं दुहीणमादि त्ति।**
**अट्ठरस कोडाकोडी वियलाणं सुहुमतिण्हं च॥१२४॥**

संस्थान-संहननानां चरमस्य ओघवत् संस्थान-संहननके मध्य जो अन्तको हुंडकसंस्थान अरु फाटकसंहनन ताकी उत्कृष्ट स्थिति मूल नामकर्म प्रकृतिवत् बीस कोडाकोडी सागरकी जाननी। द्विहीनं आदिपर्यन्तम् बहुरि आदिके संहनन-संस्थानताईं दोय कोडाकोडी हीन बाकी संस्थान-संहननकी स्थिति जाननी।

**भावार्थ—**वामनसंस्थान-कीलकसंहनन इनकी स्थिति अठारह कोडाकोडीसागर, कुब्जकसंस्थान-अर्धनाराचसंहनन इनकी स्थिति सोलह कोडाकोडी सागर, स्वातिकसंस्थान नाराचसंहननकी स्थिति चौदह कोडाकोडी सागर, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान-वज्रनाराचसंहनन इनकी स्थिति बारह कोडाकोडी सागर, समचतुरस्रसंस्थान-वज्रवृषभनाराचसंहनन इनकी स्थिति दश कोडाकोडी सागर जाननी। विकलत्रयाणां सूक्ष्मत्रिकाणां च अष्टादश कोटीकोट्यः विकलत्रिक-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजाति, सूक्ष्मत्रिक सूक्ष्म १ पर्याप्त २ साधारण ३ इन छहों प्रकृतिनिकी उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागर की जाननी।

**अरदी सोगे संढे तिरिक्ख-भय-णिरय-तेजुरालदुगे।**
**वेगुव्वादावदुगे णीचे तस-वण्ण-अगुरु-तिचउक्के॥१२५॥**
**इगि-पंचिंदिय-थावर-णिमिणासग्गमण-अथिरछक्काणं।**
**वीसं कोडाकोडी सागरणामाणमुक्कस्सं॥१२६॥**

अरतौ शोके षण्ढे अरतिकर्मविषें १ शोकविषें २ नपुंसकवेदविषें ३ तिर्यग्भय-नारक-तैजसौदारिकद्विके तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्वी , भय-जुगुप्सा, नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी, तैजस-कार्मण, औदारिकशरीर औदारिकांगोपांग इन पंच द्विकविषें, वैक्रियिकाऽऽतपद्विके वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकांगोपांग, आतप-उद्योत इन दोय द्विकविषें नीचे नीचगोत्रविषें, त्रसवर्णागुरुत्रिकचतुष्के त्रस बादर, पर्याप्त, प्रत्येक यह

त्रसचतुष्क, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यह वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास यह अगुरुलघु चतुष्क इन तीन चतुष्कविषें, एकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-स्थावर-निर्माणासद्गमनास्थिरषट्कानां एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, स्थावर, निर्माण, असद्गमन, अस्थिरषट्क, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्त्ति यह अस्थिरषट्क, सागरनाम्नां विंशति कोटीकोट्यः उत्कृष्टा स्थितिः इन इकतालीस प्रकृतिविषें बीस कोडाकोडी सागर की स्थिति जाननी।

**हस्स रदि उच्च पुरिसे थिरछक्के सत्थगमण देवदुगे।**
**तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहार-तित्थयरे॥१२७॥**

हास्य रत्युच्चपुरुषेषु हास्य रति उच्चगोत्र और पुरुषवेदमें, स्थिरषट्केषु स्थिर शुभ सुभग सुस्वर आदेश यशःकीर्त्ति यह स्थिरषट्क, प्रशस्तगमने प्रशस्तविहायोगति, देवद्विके-देवगतिदेवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतिनिविषें तदर्धम् पूर्वकी कही जु स्थिति बीस कोडाकोडी ताकी आधी दशकोडाकोडी स्थिति जाननी। आहारकद्विकतीर्थकरयोः अन्तःकोटाकोटी आहारकशरीर-आहारकांगोपांग और तीर्थंकरप्रकृति इन विषें उत्कृष्टस्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम जाननी। अन्तःकोडाकोडी सागरोपम महा कहिए ? कोटिसागर ऊपर कोडाकोडी सागर मध्य याको नाम अन्तःकोडाकोडी सागरोपम कहिए।

**सुर-णिरयाऊणोघं णिर-तिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि।**
**उक्कस्सट्ठिदिबंधो सण्णी पज्जत्तगे जोगे॥१२८॥**

सुर-नरकायुषोः ओघवत् उत्कृष्टस्थितिबन्धः देवायु-नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति मूलप्रकृतिकी नाईं तेतीस सागर जानना। नर-तिर्यगायुषोः त्रीणि पल्यानि, मनुष्यायु-तिर्यंचायु इनकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य जानना। यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कौन जीवहुकी योग्यताविषें है ? संज्ञिपर्याप्तकानां योग्ये सैनी पर्याप्तक जीवहुकी योग्यताके विषें है।

आगे शुभाशुभ प्रकृतिनिको उत्कृष्ट स्थिति-कारण कहे हैं–

**सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण।**
**विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्जियाणं तु॥१२९॥**

आयुस्त्रयवर्जितानां सर्वस्थितीनामुकृष्टः स्थितिबन्धः देवायु-मनुष्यायु-तिर्यंचायु इन तीन आयुषों करि वर्जित समस्त ही जु है प्रकृति तिनका उत्कृष्टबन्ध सो उत्कृष्टसंक्लेशेन उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम करि हो। भावार्थ–मनुष्यायु तिर्यगायु देवायु इनि तीन्यों को उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामहि करि होय। अन्य समस्त ही प्रकृतिनिको उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामनि करि होय है। विपरीतेन जघन्यः पूर्वोक्त अर्थ की विपरीतता करि जघन्य स्थितिबन्ध होय है।

**भावार्थ–**तीन आयुवर्जित सर्व प्रकृतिनिको उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामकरि जानना। अरु जघन्य स्थितिबन्ध जघन्य संक्लेश परिणाम अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामकरि जानना।

आगे उत्कृष्टबन्ध के कारणवाले जीव कौन-कौन हैं यह कहै हैं–

**सव्वुक्कस्सट्ठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो।**
**आहारं तित्थयरं देवाउं वा विमोत्तूणं॥१३०॥**

सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिः बन्धकः भणितः समस्त ही जु है उत्कृष्ट स्थिति तिनको मिथ्यादृष्टि जीव बाँधनेवाला कहा है। कहा करि ? आहारं तीर्थकरं देवायुश्च मुक्त्वा आहारकशरीर १ आहारकांगोपांग २ तीर्थंकर ३ देवायु ४ इन चार प्रकृतिनिको छोड़करि। जाते इन चारहुका बन्धक सम्यग्दृष्टि जीव है।

आगे ए चार प्रकृति सम्यग्दृष्टि जीव किस-किस स्थानक बाँधे है यह कहै हैं–

**देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु।**
**तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ॥१३१॥**

प्रमत्तः देवायुर्बध्नाति प्रमत्त जो है षष्ठम गुणस्थानवर्ती मुनि सो उत्कृष्ट देवायु का बन्ध विशुद्धपरिणामनिकरि बाँधे है। अप्रमत्तविरतस्तु आहारकद्विकम् अप्रमत्त सप्तमगुणस्थानवर्ती मुनि जब छठे गुणस्थानके सम्मुख होय है, तब संक्लिष्ट है, ता समय आहारकशरीर-आहारकांगोपांग इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बाँधै, जातें तीन आयु बिना और प्रकृतिनिका उत्कृष्टबन्ध उत्कृष्टसंक्लेश परिणामनि ही करि है। अविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः तीर्थकरं समर्जयति अविरतसम्यग्दृष्टि जु है मनुष्य सो उत्कृष्ट तीर्थंकर का बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामकरि बाँधे है। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध अविरतगुणस्थानतें लेकरि सप्तमगुणस्थानपर्यन्त बाँधे है, तथापि अविरत गुणस्थानवर्ती मनुष्य नरक-सन्मुख जब होय, तब उत्कृष्ट स्थितिकूं बाँधे है और गुणस्थाननिमें तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्टस्थितिबन्ध नाहीं।

आगे समस्त ही प्रकृतिनिका मिथ्यादृष्टि बन्धक है, यह कहै है–

**णर-तिरिया सेसाऊ वेगुव्वियछक्क वियल-सुहुमतियं।**
**सुर-णिरया ओरालिय-तिरियदुगुज्जोवसंपत्तं॥१३२॥**
**देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं।**
**उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिआ ईसिमज्झिमया॥१३३॥**

उत्कृष्टसंक्लिष्टाः नर-तिर्यञ्च एतानि बन्धन्ति उत्कृष्ट संक्लेश संयुक्त है जो मनुष्य वा तिर्यंच ते इतने कर्मनिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करे हैं। ते कौन-कौन ? शेषायूंषि वैक्रियिकषट्कं विकलत्रयं सूक्ष्मत्रिकम्, देवायु बिना और तीन आयुष नरकायु-तिर्यगायु-मनुष्यायु। जातें देवायुका उत्कृष्ट बन्ध षष्टम गुणस्थानवर्ती मुनी ही करे है, तातें देवायु बिना शेष तीन आयु। अरु वैक्रियिकषट्क देवगति-देवगत्यानुपूर्वी नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकांगोपांग ६, अरु-विकलत्रय द्वीन्द्रिय

त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय ३, अरु सूक्ष्मत्रिक-सूक्ष्म, साधारण, पर्याप्त ३ इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करै हैं। सुर-नारकाः औदारिक तिर्यग्द्विकोद्योतासम्प्राप्तानि उत्कृष्ट संक्लेशयुक्त जे देव अरु नारकी ते औदारिक-शरीर-औदारिकांगोपांग, तिर्यग्गति-तिर्यगत्यानुपूर्वी उद्योत स्फाटकसंहनन इन छह प्रकृतिनिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करे हैं। देवाः पुनः एकेन्द्रियातपस्थावराणि उत्कृष्टसंक्लेश संयुक्त जो हैं देव ते एकेन्द्रिय-आतप-स्थावर इन तीन कर्मनिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करे हैं। शेषाणां उत्कृष्टसंक्लिष्टाः ईषन्मध्यमिकाश्च चातुर्गतिकाः पूर्व ही कहे जे कर्म तिन बिना और कर्म रहे, तिनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्लेश-संयुक्त जु हैं ते जीव, अथवा थोरे मध्य संक्लिष्ट जु हैं ऐसे चारों गतियों के जीव ते उत्कृष्टस्थितिबन्ध करे हैं।

आगे आठ कर्मनिका जघन्य स्थितिबन्ध कहे हैं—

**वारस य वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।**
**भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं॥१३४॥**

वेदनीये द्वादश मुहूर्त्ताः वेदनीय कर्मविषें बारह मुहूर्त जघन्य स्थितिबन्ध है। नामगोत्रयोः अष्टौ मुहूर्त्ताः नाम अरु गोत्रकर्मविषें आठ मुहूर्त जघन्य स्थितिबन्ध है। शेष पञ्चानां तु जघन्यस्थितिः भिन्नमुहूर्ता बाकी जु हैं पंच कर्म १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. मोहनीय, ४. आयु, ५. अन्तराय इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त जाननी। अन्तर्मुहूर्त कहा कहिए ? एक आवली एक समय यह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। दोय घड़ी एक समय घाटि उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहिए। एक समय एकावलीके ऊपर दोय घड़ी एक समय घाटिके तलें जितने असंख्याते समय भए तितनी जाति मध्यम अन्तर्मुहूर्तके भेद जानने। ए तीन प्रकार अन्तर्मुहूर्त हैं।

आगे उत्तर प्रकृतिनिका जघन्य स्थितिबन्ध कहै हैं—

**लोहस्स सुहुमसत्तरसाणमोघं दुगेक्कदलमासं।**
**कोहतिए पुरिसस्स य अट्ठ य वासा जहण्णठिदी॥१३५॥**

लोभस्य सूक्ष्मसप्तदशकानां ओघवत् नवम गुणस्थानविषें लोभ की जघन्यस्थिति अरु सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानविषें सत्तरह प्रकृतिनिकी जघन्यस्थिति मूलप्रकृतिवत् जाननी। लोभ की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त की, ज्ञानावरण ५ अन्तराय ५ दर्शनावरण ४ इनकी भी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त की, यशःकीर्ति उच्चगोत्र इनकी जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त, सातावेदनीय की जघन्यस्थिति बारह मुहूर्त। इन सत्तरह प्रकृतिनि का जघन्य स्थितिबन्ध दशम गुणस्थानविषें जानना। क्रोधत्रिके द्विकैकदलमासाः क्रोध मान माया इस त्रिकविषें यथाक्रम दोय मास, एक मास, अर्ध मास जघन्यस्थिति जाननी। क्रोध की २ मास स्थिति, मान की एक मास स्थिति, माया की अर्धमास स्थिति जाननी। पुरुषस्य जघन्यस्थितिः अष्ट वर्षाणि पुरुषवेद की जघन्य स्थिति अष्ट वर्ष जाननी।

**तित्थाहाराणंतोकोडाकोडी जहण्णट्ठिदिबन्धो।**
**खवगे सग-सगबन्धच्छेदणकाले हवे णियमा॥१३६॥**

तीर्थकराऽऽहारकद्विकयोः जघन्यस्थितिबन्धः अन्तःकोटाकोटि-सागरोपमाणि तीर्थंकर, आहारकद्विक इनका जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोडाकोडी सागरोपम जानना। क्षपकेषु स्व-स्वबन्धव्युच्छित्तिकाले नियमाद् भवेत् यह जु है जघन्य स्थितिबन्ध सो क्षपकगुणस्थाननिवेषें स्वकीय बन्धव्युच्छित्तिकालविषें निश्चयकरि होय है।

**भिण्णमुहुत्तो णर-तिरियाऊणं वासदससहस्साणि।**
**सुर-णिरयआउगाणं जहण्णओ होइ ठिदिबंधो॥१३७॥**

नर-तिर्यगायुषोः अन्तर्मुहूर्त मनुष्यायु तिर्यगायु इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। सुर-नरकायुषोः वर्षदशसहस्राणि देवायु अरु नरकायु इनकी जघन्य स्थिति दशसहस्र वर्ष जाननी।

**सेसाणं पज्जत्तो बादर एइंदियो विसुद्धो य।**
**बंधदि सव्वजहण्णं सग-सग-उक्कस्सपडिभागे॥१३८॥**

शेषाणां पर्याप्तः बादर एकेन्द्रियः विशुद्धश्च पूर्व ही कही जो २९ प्रकृति तिनतें बाकी रही जो ९१ प्रकृति तिन्हें पर्याप्त बादर अरु परिणाम करि विशुद्ध ऐसा जो एकेन्द्रियजीव सो सर्वजघन्यां बध्नाति सर्वतें जघन्य जो है स्थिति तिसे बांधे है।

**भावार्थ—**इक्यानवै प्रकृतिका जघन्य स्थितिबन्ध बांधिवेको पूर्वोक्त एकेन्द्रियजीव ही योग्य है। किस प्रकार करि ? स्व-स्वोत्कृष्ट प्रतिभागेन आपना-आपना जु है उत्कृष्टबन्ध ताके प्रतिभाग करि। भावार्थ—उस एकेन्द्रियजीव के जिस-जिस प्रकृति का जैसा-जैसा उत्कृष्टबन्ध है तिस-तिस प्रकृति का तैसा-तैसा त्रैराशिक विधानकरि जघन्य स्थितिबन्ध जानना। त्रैराशिकविधान गणित विशेष है सो सिद्धान्ततें जानना। गोम्मटसारविषें सो विस्तृत कथन है।

आगे एकेन्द्रियादि जीवनिके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मोहनीयकर्म का कहै हैं—

**एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवर-बंधो।**
**इगि-विगलाणं बंधो अवरं पल्लासंखूण संखूणं॥१३९॥**

एकेन्द्रिय-विकलानां मिथ्यात्ववरबन्धः एकेन्द्रिय अरु विकल-चतुष्क द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असैनीपंचेन्द्रिय यह विकल-चतुष्क इन जीवनिके मिथ्यात्व को उत्कृष्ट बन्ध अनुक्रमतें एकं पञ्चविंशतिः पञ्चाशत् शतं सहस्रं सागरोपमाणि एक सागर १, पच्चीस सागर २५, पचास सागर ५०, सौ सागर १००, हजार सागर १०००, जानना। असंज्ञी पंचेन्द्रिय १००० सागर। संज्ञी पर्याप्त जीव सत्तरकोडाकोडी सागर उत्कृष्ट बन्ध करे। पुनः एतेषां अवरबन्धः बहुरि इन एकेन्द्रिय विकल-चतुष्क को जघन्य बन्ध पल्यासंख्येयोनः पल्यसंख्येयोनः अपने-अपने उत्कृष्ट बन्धतें पल्यके असंख्यातवें भाग घाटि, पल्यके

संख्यातवें भाग घाटि जघन्य बन्ध जानना।

**भावार्थ**—एकेन्द्रिय जीव के दर्शनमोह को उत्कृष्ट बन्ध एक सागर है, तिसमें पल्य को असंख्यातवां भाग जो घाटि करिए तो जघन्य बन्ध होय। विकलचतुष्ककें जो उत्कृष्ट बन्ध है, तिसमें पल्य को संख्यातवां भाग घाटि जघन्य स्थितिबन्ध जानना।

वह स्थितिबन्ध पूर्ण भया।

आगे अनुभागबन्धको स्वरूप कहै हैं—

**सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।**
**विवरीदेण जहण्णो अणुभागे सव्वपयडीणं॥१४०॥**

शुभप्रकृतीनां तीव्रोऽनुभागः विशुद्ध्या भवति शुभ प्रकृतिनिको तीव्र जो है उत्कृष्ट अनुभाग सो उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामकरि हो है। अशुभानां संक्लेशेन अशुभप्रकृतिनिको उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट संक्लेशपरिणामकरि हो है। पुनः सर्वप्रकृतीनां जघन्योऽनुभागः विपरीतेन बहुरि सर्वप्रकृति का जघन्य अनुभाग पूर्वोक्त कथनतें विपरीतताकरि जानना।

**भावार्थ**—कर्महुका जो विपाक रसको नाम अनुभाग है। सो अनुभाग दोय प्रकार है-उत्कृष्ट जघन्य के भेदकरि। शुभ प्रकृतिनिको उत्कृष्ट अनुभाग शुभ परिणामनिकरि, शुभप्रकृतिनिको जघन्य अनुभाग संक्लेश परिणामनिकरि हो है। अशुभ प्रकृतिनिको उत्कृष्ट अनुभाग संक्लेशपरिणामनिकरि, तथा जघन्य अनुभाग विशुद्धपरिणामनिकरि हो है। शुभाशुभ परिणामनिकी योग्यताकरि उत्कृष्ट जघन्य अनुभाग के मध्य अनुभागविषें अनेक भेद जानने।

आगे घातियाकर्म के अनुभाग को स्वरूप कहे हैं—

**सत्ती य लता-दारू-अट्ठी-सेलोवमा हु घादीणं।**
**दारू-अणंतिमभागो त्ति देसघादी तदो सव्वं॥१४१॥**

घातिना शक्तयः लता-दार्वस्थि-शिलोपमाः खु भवन्ति घातिया कर्मनिकी शक्ति लता-बेलि, दारू-काठ, अस्थि-हाड, शिला-पाषाण इन चार कीसी है उपमा जिनकी ऐसी है। भावार्थ-एक घातियाकर्मनिकी शक्ति लतावत् है, एकनिकी काष्ठवत्, एकनिकी हाडवत् है, एकनिकी शिलावत् है। ऐसी चार शक्तिमें अनन्ते-अनन्ते भेद हैं। जैसे बेलि काठ हाड पाषाणविषें एक-एकमें अनेक भेद हैं कोमल-कठिनादि भेदकरि। अरु जैसे अतिकोमल जघन्यताके भेदतें लेकरि अति कठोर उत्कृष्ट पाषाणके भेद पर्यन्त क्रमवृद्धिसों भेद-वृद्धि संयुक्त है, तैसे ही लतावत् जघन्य शक्ति ते लेकरि उत्कृष्ट पाषाणवत् शक्तिपर्यन्त क्रमसों शक्तिनिविषें अनुभाग-वृद्धि जाननी। आगे आधी गाथामें देशघाती कौन शक्ति है, इसविषें यह कहै हैं-दार्वनन्तभागपर्यन्तं देशघातिन्याः, ततः सर्वघातिन्यः दारूके अनन्तवें भाग-पर्यन्त देशघातिया जाननी तिसतें आगे सर्वघातिया है—

**भावार्थ**—लतावत् शक्ति के अनन्त भागनितें लेकरि दारू के केते एक उत्कृष्ट भाग बिना अनन्त भागपर्यन्त देशघातिया कर्महु की शक्ति है। बाकी दारू के अनन्त भागनितें लेकरि अस्थि के अनन्त भाग, शिलाके अनन्त भागपर्यन्त सर्वघातिया शक्ति है।

आगे दर्शनमोह की प्रकृतिनिविषें देशघातित्व सर्वघातित्व कहे हैं–

**देसो त्ति हवे सम्मं तत्तो दारू-अणंतिमे मिस्सं।**
**सेसा अणंत भागा अट्ठिसिलाफड्डया मिच्छे॥१४२॥**

देशपर्यन्तं सम्यक्त्वं भवेत् लताके भागतें लेकरि दारू के अनन्तवें भागपर्यन्त जे देशघाति स्पर्धक हैं, ते सम्यक्त्वमिथ्यात्व के हैं।

**भावार्थ**—सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन गुण के देश को घाते हैं, जातें सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व के उदयतें चल मलिन अगाढ दोष सम्यक्त्वमें होय हैं, तातें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व देशघाती जानना। देशघाती स्पर्धक दारू के अनन्तिम भागपर्यन्त हैं, तातें सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व दारू के अनन्तवें भागपर्यन्त कह्या। जितने लता के अनन्ते भाग हैं, अरु दारू के अनन्तवें भागपर्यन्त जितने अनन्ते भाग हैं तितनी जाति को सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व को अनुभाग जानना मन्द-तीव्र मध्यम के भेदकरि। ततः दार्वनन्तिमः मिश्रम् तिन देशघाती स्पर्धकनिकी मर्यादातें आगे दारूको अनन्तवां भाग सो मिश्रमिथ्यात्व है। भावार्थ दारू शक्ति के अनन्ते भाग हैं, तिन विषें कितने एक बहुत भाग बिना अनन्ते भाग देशघातिमें हैं, तिन देशघाति स्पर्धकनितें आगे जो हैं, वे बहुत भाग, तिनके अनन्त खंड करिए तिनमें एक खंड मिश्रमिथ्यात्व है। सो मिश्रमिथ्यात्व जात्यन्तर सर्वघाती है, जातें मिश्रमिथ्यात्वके उदयतें सम्यक्त्व मिथ्यात्व दोनों मिले परिणाम होय हैं। सर्वथा सम्यक्त्वगुण को नाहीं आच्छादें हैं, हीनशक्ति-संयुक्त जघन्य सर्वघाती हैं, जातें आचार्यहूने मिश्रमिथ्यात्वको नाम जात्यन्तर सर्वघाती कहा है। सो मिश्रमिथ्यात्व दारू के अनन्त भाग के एक खंडविषें अपने अनुभाग के अनन्त भेद लिये हैं। शेषाः अनन्तभागाः अस्थिशिलास्पर्धकाः मिथ्यात्वम् मिश्रमिथ्यात्व के खंडतें आगे बाकी दारू के अनन्त खंड, अरु अस्थि-शिलाके स्पर्धक ते समस्त मिथ्यात्व हैं। भावार्थ–मिश्र खंडतें आगे दारूके अनन्त खंड, अस्थिके अनन्त भाग, शिलाके अनन्त भाग इन सबके विषें मिथ्यात्व है अनन्त रस लिए। इस ही भाँति घातिकर्मनि की देशघाति जे प्रकृति हैं, ते दारूके अनन्तवें भागताईं जाननी। अरु जे सर्वघाति हैं ते दारूके बहुत भागनितें लेकरि शिलाके सर्वोत्कृष्ट भागपर्यन्त जाननी। स्पर्धक कहा कहिए ? अनन्त परमाणु मिले तो एक वर्गणा होय। अनन्त वर्गणा मिलिकरि एक स्पर्धक होय है। इस भाँति घातिनि का अनुभाग जानना।

आगे अघातिकर्मनि का अनुभाग कहे हैं–

**गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंव-कंजीरा।**

**विस-हालाहलसरिसा असत्था हु अघादिपडिभागा॥१४३॥**

प्रशस्ताः अघातिप्रतिभागाः गुड-खण्ड-शर्करामृतसदृशाः शुभ अघातिया कर्मनिके जु हैं अनुभाग के भेद ते गुड, खाँड, शर्करा, अमृत इन चार की बराबर है। भावार्थ—अघातिया कर्म दोय प्रकरि हैं-एक शुभ अघातिया हैं, एक अशुभ अघातिया हैं। तिनमें शुभ अघातिया कर्महुके अनुभाग की शक्ति चार प्रकार है-गुडवत् १ खाँडवत् २ मिश्रीवत् ३ अमृतवत् ४ इन एक-एक अनुभागशक्तिविषें अनन्ते भेद हैं। जैसे एक गुडविषें अनेक भेद हैं-जघन्य, उत्कृष्ट, मध्यम मिष्टत्व के भेदतें। गुडवत् शक्तिके जघन्य अनुभागतें लेकरि उत्कृष्ट अमृत भेदपर्यन्त क्रमवृद्धि से बढ़ते अनुभाग के अनन्त भेद हैं। यह चार प्रकार शुभ अघातियानिके अनुभाग जानना। अप्रशस्ताः निम्ब-काञ्जीर विष-हालाहलसदृशाः अशुभ अघातियनिके अनुभागकी शक्ति निम्ब १ कांजीर इन्द्रायनका फल २ विष ३ हलाहल महाकालकूट विष ४ इन चार के बराबर है। भावार्थ—इन चार शक्ति विषें भी एक-एक में क्रमवृद्धिता लिये अनन्ते अनुभाग के भेद हैं। जैसे एक निम्बविषें कटुकताकी तीव्रता-मन्दताकरि अनेक भेद हैं। यह चार प्रकार अशुभ-अघातियनि का अनुभाग जानना।

*यह अनुभागबन्ध पूर्ण भया।*

आगे किस-किस क्रिया करि शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध होय यह कहै हैं—

**पडिणीगमंतराए उवघादे तप्पदोस-णिण्हवणे।**
**आवरणदुगं बंधदि भूयो अच्चासणाए वि॥१४४॥**

प्रत्यनीकं-ज्ञानविषें दर्शनविषें अरु ज्ञान-दर्शनके धारकनिविषें अविनय करिए सो प्रत्यनीकता कहिए। अन्तरायः-ज्ञान-दर्शनविषें व्यवधान देय वा बाधा करे सो अन्तराय कहिए। उपघातः-किसीके उत्तम ज्ञानदर्शनमें दूषण देय सो उपघात कहिए। वा पढ़नेवालनिके क्षुद्र उत्पातादि करे सो उपघात कहिए। तत्प्रदोषः-तिन ज्ञान-दर्शन अरु तिनके धारकनिविषें जो आनन्दका अभाव सो प्रद्वेष कहिए अथवा इन विषें अन्तःकरणमें पिशुनता राखै सो भी प्रद्वेष कहिए। निह्नवः-ज्ञानके होते संते कहे कै मैं नहीं जानता। अरु कहे कै मेरे पास यह पुस्तक नाहीं, इस भाँति मुकरि करि ज्ञान लोपे सो निह्नव कहिए अथवा अप्रसिद्ध गुरु को छिपाय प्रसिद्ध गुरु का अपने को शिष्य कहना। आसादना-ज्ञानादिकगुण की कथनी न करना। अथवा अविनय करना यह आसादना है। एतेषु षट्सु सत्सु भूयः आवरणद्विकं बध्नाति इन छह प्रकारनिके होते संते स्थिति-अनुभाग की विशेषता करि ज्ञानावरण-दर्शनावरणकर्म बंधे।

आगे वेदनीयके बन्धके कारण कहे हैं—

**भूदाणुक्कंप-वदजोगजुत्तो खंति-दाण-गुरुभत्तो।**
**बंधदि भूयो सादं विवरीदो बंधदे इदरं॥१४५॥**

भूतार्थानुकम्पा-व्रतयोगयुक्तः-जो जीव भूत जु है प्राणी तिनिविषें दयासंयुक्त होय, दया सत्य

अचौर्य ब्रह्मचर्य निःपरिग्रह इत्यादि व्रतसंयुक्त अरु योग जु है समाधि तिस संयुक्त होय। क्षान्ति-दान-गुरुभक्तः-क्षान्ति जु है क्रोधादिनिवृत्ति, चार प्रकार दान, अरु गुरुसेवा इन विषें रत होय, सो जीव भूयः सातं बध्नाति-स्थिति अनुभागकी विशेषताकरि सातावेदनीयको बाँधे। विपरीतः इतरं बध्नाति-अरु इस पूर्वोक्त जीवतें विपरीत निर्दयादि परिणामसंयुक्त सो असातावेदनीय बाँधे।

आगे और भी असातावेदनीय के बन्ध के कारण कहे हैं।

**दुक्ख-वह-सोग-तावाकंदण-परिदेवणं च अप्पठियं।**
**अण्णट्ठियमुभयट्ठियमिदि वा बंधो असादस्स॥१४६॥**

दुःख-वध-शोक-तापाक्रन्दन-परिदेवनं आत्मस्थितिं भवति-पीडारूप जु परिणाम सो दुःख कहिए। जो आत्मघात परघात सो वध कहिए। इष्ट वस्तु विनसे संते जो अति विकलता सो शोक कहिए। ये दुःखादि आपविषें होय तो असातस्य बन्धो भवति-असातावेदयनीय का बन्ध होय। अन्यस्थितं वा-और जीव के विषें होय तो भी असाता का बन्ध होय। उभयस्थितं इति वा-अरु जो ये दुःखादि आपविषें अरु परविषें होय तो भी असातावेदनीय कर्म का बन्ध होय है।

आगे दर्शनमोह के बन्ध-कारण कहिए है-

**अरहंत-सिद्ध-चेदिय-तव-गुरु-सुद-धम्म-संघपडिणीगो।**
**बंधदि दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण॥१४७॥**

यः अर्हत्सिद्धचैत्यतपोगुरुश्रुतधर्मसंघप्रत्यनीकः स दर्शनमोहं बध्नाति-जो जीव अरहन्त, सिद्ध चैत्यालय, तप, गुरु, सिद्धान्त, धर्म चतुर्विध संघ इनका प्रत्यनीक शत्रु है सो जीव दर्शनमोहकर्म को बांधे है। येन अनन्तसंसारी भवति-तिस दर्शनमोहकरि यह जीव अनन्त संसारी होय है।

आगे चारित्रमोहके बन्ध-कारण कहिए है-

**तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो राय-दोससंतत्तो।**
**बंधदि चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्तगुणघादी॥१४८॥**

यः तीव्रकषायः बहुमोहपरिणतः रागद्वेषसंतप्तः चारित्रगुणघाती-जो जीव तीव्रकषायपरिणत है, अरु बहुत मोह-संयुक्त है अरु राग-द्वेषकरि सन्तप्त है अरु चारित्रका घातक है, स द्विविधमपि चारित्रमोहं बध्नाति-वह कषाय-नोकषायके भेदकरि दोय प्रकार जो है चारित्रमोह तिसहि बांधे है।

आगे नरकायुके बन्ध-कारण कहै हैं-

**मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोभसंजुत्तो।**
**णिरयाउगं णिबंधदि पावमई रुद्दपरिणामो॥१४९॥**

यः खलु मिथ्यादृष्टिः महारम्भः निःशील-तीव्रलोभसंयुक्तः पापमतिः रुद्रपरिणामः-जो जीव निश्चयकरि मिथ्यात्वी है अरु महा आरम्भी है, अरु निंद्य स्वभाव, तीव्रलोभसंयुक्त है, अरु पापबुद्धि

है, अरु महारुद्रपरिणामी है, स जीवः नरकायुर्बध्नाति–सो जीव नरकायुका बन्ध करै है।

आगे तिर्यंचायुके बन्ध–कारण कहिए हैं–

**उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहिययमाइल्लो।**
**सढसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधदे जीवो॥१५०॥**

यः उन्मार्गदेशकः–जो मिथ्यामार्ग का उपदेशक है, मार्गनाशकः–अरु सम्यक् मार्ग का नाशक है, गूढहृदयः–अरु जिसके मन की कछू पाई जाति नाहीं, मायावी है कुटिलहृदय है, सढशीलः–अरु मूर्खस्वभाव लिए है, सशल्यः–अरु माया, मिथ्या, निदान इनि तीन शल्यकरि संयुक्त है, स जीवः तिर्यगायुर्बध्नाति–सो जीव तिर्यंच–आयुका बन्ध करे है।

आगे मनुष्यायुके बन्ध–कारण कहिए हैं–

**पयडीए तणुकसाओ दाणरदी सील–संयमविहीणो।**
**मज्झिमगुणेहि जुत्तो मणुयाऊ बंधदे जीवो॥१५१॥**

यः प्रकृत्या तनुकषायः–जो जीव स्वभाव हीकरि मन्द कषाई है, दानरतः–दानविषें रत है, शील–संयमविहीनः–शील अरु संयमतें रहित है, मध्यमगुणैर्युक्तः स जीवः मनुष्यायु बंध्नाति–मध्यमगुणोंकरि संयुक्त है वह जीव मनुष्यायुका बन्ध करे है।

आगे देवायुके बन्ध–कारण कहिए है–

**अणुवद–महव्वदेहि य बालतवाकामणिज्जराए य।**
**देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो॥१५२॥**

जीव अणुव्रत–महाव्रतैः देवायुर्बध्नाति–सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रत अरु महाव्रतकरि देवायुको बांधे है बालतपसा अकामनिर्जरया च–जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं सो अज्ञान तपकरि अथवा अकामनिर्जराकरि देवायुको बांधे हैं। यः सम्यग्दृष्टिः सोऽपि–जो केवल सम्यग्दृष्टि है सो भी देवायु का बन्ध करै है।

आगे नामकर्मके बन्ध–कारण कहै हैं–

**मण–वयण–कायवक्को माइल्लो गारवेहि पडिबद्धो।**
**असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं॥१५३॥**

यः मन–वचन–कायवक्रः–सो जीव मनवचनकायकरि वक्र हैं, मायावी–कुटिल मायाचारी है, गारवैः प्रतिबद्धः–रस ऋद्धि साता इन तीन गारवकरि संयुक्त है, स अशुभं नामकर्म बध्नाति–सो जीव अशुभनामकर्म बाँधे है। तत्प्रतिपक्षः शुभनाम बध्नाति–तिसतें जो प्रतिपक्षी जीव कहिए मन वचन कायाकरि सरल निष्कपट कुटिलता–रहित, गारव–रहित सो शुभनामकर्मकूँ बाँधे है।

आगे तीर्थंकरप्रकृति नामकर्म के बन्ध के सोलह कारण कहिए है–

**दंसणविसुद्धि विणए संपण्णत्तं च तह य सीलवदे।**

**अणदीचारोऽभिक्खं णाणुवजोगं च संवेगो॥१५४॥**
**सत्तीदो चाग-तवा साहुसमाही तहेव णायव्वा।**
**विज्जावच्चं किरिया अरहंताइरियबहुसुदे भत्ती॥१५५॥**
**पवयण परमा भत्ती आवस्सयकिरिय अपरिहाणी य।**
**मग्गपहावणयं खलु पवयणवच्छल्लमिदि जाणे॥१५६॥**
**एदेहिं पसत्थेहिं सोलसभावेहिं केवलीमूले।**
**तित्थयरणामकम्मं बंधदि सो कम्मभूमिजो मणुसो॥१५७॥**
**(चतुः कलम्)**

दर्शनविशुद्धिः–जो पच्चीस मल-रहित सम्यग्दर्शन की निर्मलता सो दर्शनविशुद्धि प्रथम भावना १। विनये सम्पन्नता–रत्नत्रयधारक मुनि अरु रत्नत्रयगुण इनकी विनयविषें प्रवीणता २। शीलव्रतेषु अनतीचारः–सामायिकादि शील अरु अहिंसादि व्रत इन विषें अतीचार-रहितत्व ३। अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगः–निरन्तर सम्यग्ज्ञानका अभ्यास ४। संवेगः–धर्म अरु धर्मफलविषें प्रीति, संसारदुःखतें उद्वेगता ५। शक्तितस्त्यागः–यथाशक्ति विधिपूर्वक पात्रदान सो शक्तितस्त्याग कहिए ६। शक्तितस्तपः–यथाशक्ति कायक्लेश करिए सो शक्तितस्तप कहिए ७। तथैव साधुसमाधिः–साधु कहिए भली राग-द्वेष-रहित शान्तभावपरिणति सो साधुसमाधि कहिए। किस ही एक कारणतें यतिवर्ग को उपसर्ग आए संते विघ्न का जो निवारण सो भी साधुसमाधि कहिए ८। वैयावृत्त्यक्रिया–मुनियोग्य क्रियाकरि मुनि के रोगादिक दूर करना ९। अर्हदाचार्यबहुश्रुतेषु भक्तिः–अरहन्त १ आचार्य २ बहुश्रुत कहिए उपाध्याय ३ इन विषें भक्ति अरहन्तभक्ति १०। आचार्यभक्ति ११। बहुश्रुतभक्ति है १२। प्रवचने परमा भक्तिः–प्रवचन जो परमागम ताकौ परम भक्ति करना १३। आवश्यक क्रियाऽपरिहानिः–सामायिक १ प्रतिक्रमण २ स्तवन ३ वन्दना ४ प्रत्याख्यान ५ कायोत्सर्ग ६ ये छह आवश्यक इनकी जो क्रिया तिसकी हानि न करे १४। मार्गप्रभावना खलु–निश्चयकरि भगवन्त के मार्ग का ज्ञान दान पूजा तप आदिक क्रियाकरि उद्योत करना १५। प्रवचन-वात्सल्यमिति जानीहि–प्रवचन जो है साधर्मी तासों स्नेह १६ ये सोलह कारणभावना जाननी। एतैः प्रशस्तैः षोडशभावैः ये जो हैं उत्तम सोलह कारण भाव तिनकरि केवलिमूले-केवलज्ञानी अरु श्रुतकेवली इनके समीप, यः कर्मभूमिजो मनुष्यः–जो कर्मभूमिविषें उपज्या होय मनुष्य स तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति–सो तीर्थंकरनामकर्मकूं बांधे।

**तित्थयरसत्तकम्मा तदियभवे तब्भवे हु सिज्झेदि।**
**खाइयसम्मत्तो पुण उक्कस्सेण चउत्थभवे॥१५८॥**

तीर्थंकरसत्त्वकर्मा–तीर्थंकर नामकर्मकी सत्ताके होते संते, हु तृतीयभवे तद्भवं सिद्धयतिनिश्चयकरि तीसरे भवविषें सीझे, अथवा वर्तमान ही भवविषें सीझे।

**भावार्थ—**जिस जीव के तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होय, सो जीव वर्तमानपर्यायविषें अथवा तीसरे भवविषें अवश्य सीझे। पुनः यः क्षायिकसम्यक्त्वः-किन्तु जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव है सो अवश्य करि, उत्कृष्टेन चतुर्थभवे-उत्कृष्टकरि चौथे भवविषें और जघन्यताकरि तद्भव भी सीझै।

आगे गोत्रकर्मके बन्ध-कारण कहै हैं—

**अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुई पढणुमाण गुणपेही।**
**बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं॥१५९॥**

यः अर्हदादिषु भक्तः-जो जीव अरहन्त, गुरु, सिद्धान्तादिक विषें भक्त है, सूत्ररुचिः-भगवन्त-प्रणीत मार्गविषें श्रद्धावान् होय, पठनमानगुणप्रेक्षकः-पठनमान कहिए ज्ञानगुण विनयादि इनका देखनेवाला हो, स उच्चैर्गोत्रं बध्नाति-सो जीव ऊँचगोत्रकूँ बाँधे है। विपरीतः इतरं बध्नाति-इसतें जो विपरीत अरहन्तादिकी भक्ति-रहित, अरुचिवन्त, पठन-निमित्त विनयादिगुण-रहित सो जीव नीचगोत्रकर्मकूँ बाँधे है।

**पर-अप्पाणं णिंदा पसंसणं णीचगोदबंधस्स।**
**सदसदगुणाणमुच्छादणमुब्भासणमिदि होदि॥१६०॥**

परात्मनोः निन्दा-प्रशंसने-परेषां निन्दा, आत्मनः प्रशंसा और जीवनि की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, सदसद्गुणानां आच्छादनोद्भावने अन्येषां सद्गुणानां आच्छादनं आत्मनः असद्गुणानां उद्भावनं-औरके वर्तमान गुणनिका आच्छादन, अरु अपने विषें गुण नाहीं, बढ़ाई निमित्त झूठे अपने गुणहुका प्रकाशन, एतानि अपि नीचगोत्रबन्धस्य कारणानि भवन्ति-ये भी नीचगोत्रबन्ध के कारण जाननें।

आगे अन्तरायकर्म के बन्धकारण कहैं हैं—

**पाणबधादिसु रदो जिणपूजामोक्खमग्गविग्घयरो।**
**अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण॥१६१॥**

यः प्राणबधादिषु रतः-जो जीव हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह इत्यादि अधर्मविषें रत हैं, जिनपूजामोक्षमार्गविघ्नकरः-जिनेश्वर की पूजा अरु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग इनका विघ्न करणवाला, स अन्तरायं अर्जयति-सो जीव अन्तरायकर्म उपार्जन करै है, येन स यदिच्छितं लाभं न लभते-जिस अन्तरायकरि वह जीव वांछित वस्तु को न पावे ऐसा अन्तरायकर्म बाँधे है।

इहाँ जो कोई प्रश्न करे कि सिद्धान्तविषें संसारी जीव के निरन्तर समय-समयविषें आयुकर्म के बिना सातकर्म का बन्ध कह्या है, इहाँ प्रत्यनीक आदिक क्रियाकरि जुदा-जुदा कह्या है; एक-एक कर्म का बन्ध एक क्रिया जो करे थोड़ा काल विषें होय, तो भी असंख्यात समय ताईं होय, तो एक समय सातकर्मका बन्ध क्यों संभवै ? ताको उत्तर-इस अनादि-अनन्त संसारविषें जीव अनादिसों सन्तानवशतें

राग-द्वेषादि परिणाम करे है, तिस राग-द्वेषादि परिणामके वशतें समय-समय सातकर्म का बन्ध स्थिति-अनुभाग की जघन्यता करि करै है। अरु जिस काल यह जीव पूर्वोक्त प्रत्यनीकादिक क्रियाविषें प्रवर्ते, तब जैसी कछू उत्कृष्ट मध्यम जघन्य शुभाशुभ क्रिया होय, तिस माफिक कर्महुका बन्ध करे स्थिति-अनुबन्धकी विशेषताकरि। तिसतें समय-समयविषें बन्ध जो करे सो तो स्थिति-अनुभाग की हीनताकरि। अरु जो प्रत्यनीक आदिक पूर्वोक्त क्रिया करि करै सो स्थिति-अनुभाग की विशेषता करि करै, यह सिद्धान्त जानना।

इयं भाषा-टीका कर्मकाण्डस्य पण्डित हेमराजेन कृता स्वबुद्ध्यनुसारेण।

इति कर्मप्रकृतिविधानं समाप्तम्।